a Samaj Foundation Chenna

AALOCHNA

1964 G. K. U.

Domain. Gurukul Kangri Colle

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079585

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Stock Verification

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

079585

079585

संपादक: नामवर

Stock Verification-

आलोचना

त्रैमासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

सम्पादकीय १

पट कथा (कविता)—धूमिल ५

संवाद : युवा लेखन पर एक बहस १८

बहस का प्रारूप : नामवर सिंह १९

तथाकथित साठोत्तरी पीढ़ी : एक ऐतिहासिक सन्दर्भ—लक्ष्मीकान्त वर्मा २५

युवा एनार्की और समय का गुस्सा—मुद्राराक्षस ३६

युवा लेखन : रचना दृष्टि पर एक बहस—सुरेन्द्र चौधरी ४२

वक्तव्यों और वक्तव्यों की लड़ाई—विजयमोहन सिंह ४६

युवा लेखन : प्रतिपक्ष का साहित्य—केदारनाथ सिंह ५१

युवा पीढ़ी : प्रतिबद्धता पर पुनर्विचार—जगदीश चतुर्वेदी ५३

भारतीय युवजन : सामाजिक विश्लेषण—पूरनचन्द्र जोशी ५६

पांच कविताएँ

जलसाघर—श्रीकान्त वर्मा ६१

भाषा-२—प्रयाग शुक्ल ६३

जनमत के मौन अन्धकार में—दूधनाथ सिंह ६४

केवल एहसास और दिमाग—प्रभात ६६

एक युवा कवि की आत्म स्वीकृति—देवेन्द्र कुमार ६७

विश्व-सन्दर्भ : गोर्की की जन्म-शती पर

गोर्की और यथार्थवाद—भीष्म साहनी ६८

मैक्सिम गोर्की और हिन्दी साहित्य—भारत भूषण अग्रवाल ७३

आन्द्रेइ वोज़्नेसेंस्की की कविताएँ

गोया पहला पाला—अनु० कैलाश वाजपेयी ८३

निश्चल निःस्तब्ध ८४

तुम अपनी चाची के यहाँ रहती हो—भारत भूषण अग्रवाल ८५

प्रासंगिकी

अमरीका छोड़ने पर : एक कवि का पत्र—हान्स माग्नुस एन्त्सन्सबर्गर ८६

लेखक की पराजय—यशदेव शल्य ८९

मूल्यांकन

अपनी शताब्दी के नाम, सपाट चेहरे वाला आदमी (दूधनाथ सिंह)—परमानन्द श्रीवास्तव ९२

दूसरी बार (श्रीकान्त वर्मा)—प्रयाग शुक्ल ९६

पेपर वेट (गिरिराज किशोर)—श्रवणकुमार ९८

अकहानी (सं० श्याममोहन श्रीवास्तव, सुरेन्द्र अरोड़ा)—श्रवणकुमार ९९

कितनी नावों में कितनी बार (अज्ञेय)—गंगाप्रसाद विमल १०१

विनिमय

रोमांटिक बनाम आधुनिक ! या सर्वकालीन बनाम समकालीन !—परमानन्द श्रीवास्तव १०८

पूर्णांक ४१, जनवरी—मार्च १९६८, इस अंक का रु० ३.००, वार्षिक रु० १२.००, रजिस्ट्री से रु० १४.४०

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी/८/एस ई-/लायब्ररी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

संपादकीय

'युवा लेखन पर एक बहस' शीर्षक संवाद उस गतिरोध को तोड़ने की दिशा में पहला प्रयास है जिसकी ओर संकेत करते हुए 'आलोचना' की प्रथम विज्ञप्ति में यह कहा गया था कि आज अनेक स्तरों पर लेखकों के बीच संवाद-सूत्र टूट चुका है। समस्या इतनी ज्वलन्त है कि क्रमशः अन्य लेखकों का भी ध्यान इस ओर जा रहा है। उदाहरण के लिए श्री स० ही० वात्स्यायन ने भी 'दिनमान' के गणराज्य विशेषांक में यह आकांक्षा व्यक्त की है कि हम आज की पीढ़ी से संवाद की स्थिति में रहना चाहते हैं। आकांक्षा निस्सन्देह शुभ है किन्तु इस पर टिप्पणी करते हुए जैसा कि एक अन्य लेखक श्री नन्द चतुर्वेदी ने त्रैमासिक 'बिन्दु' के जनवरी '६८ के संपादकीय में प्रश्न उठाया है : क्यों चाहते हैं हम नयी पीढ़ी से संवाद की स्थिति में रहना ? नयी पीढ़ी में हमसे संवाद करने की एक बेताब इच्छा क्यों नहीं है ?

कहना न होगा कि दोनों ही प्रश्न अत्यन्त संगत हैं और श्री नन्द चतुर्वेदी ने इनके उत्तर में जो कुछ कहा है उसमें भी तथ्य है। एक तो यह कि "ऐसा प्रतीत नहीं होता कि हम संवाद के अभाव की स्थिति को किसी गहरे संकट के साथ जोड़ रहे हों; बल्कि ऐसा लगता है कि हम काल के एक और आयाम का स्वामित्व चाहते हैं। शायद हमें यह पीड़ा भी है कि हमारे देखते-देखते हमारे मूल्यों का खोखलापन प्रकट हो गया है, हमारे आदर्श किसी को प्रेरित नहीं करते, लेकिन फिर भी उनकी निस्सारता घोषित करके हम स्वत्वहीन नहीं हो जाना चाहते।" दूसरा यह कि "नयी पीढ़ी हमसे संवाद के लिए बहुत इच्छुक नहीं है क्योंकि हमारे पास अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए कवच और दुर्ग हैं, एक सुनिश्चित भविष्य है और ये निस्सार करुणा की मुद्राएँ हैं जो संवाद की सभी संभावनाओं को समाप्त कर देती हैं।"

निस्सन्देह ये तथ्य कड़वे हैं लेकिन इन्हें स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं। यह तथ्य है कि नयी पीढ़ी अब हमसे संवाद के लिए बहुत इच्छुक नहीं है। एक समय था जब नयी पीढ़ी संवाद के लिए इच्छुक थी, तब हमने उसकी उपेक्षा की; जब हममें संवाद की इच्छा जगी तो स्थिति एकदम बदल चुकी थी और नयी पीढ़ी संवाद से विरत हो गई क्योंकि उसकी दृष्टि में अब संवाद की आवश्यकता और सार्थकता नहीं रही। इस कथन की पुष्टि में सितम्बर-अक्तूबर '६७ की 'लहर' में प्रकाशित दूधनाथ सिंह की 'उत्तराधिकार' शीर्षक कविता उद्धृत की जा सकती है जिसमें 'अपने पूर्ववर्ती चुके हुए कवियों के लिए' कहा गया है कि—

मैं इधर कई-एक वर्षों से मौन हूँ
फिर-फिर वह एक सवाल अन्ततः
मैं तुम्हारा कौन हूँ ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तुम्हें अजूबा लगेगा, किन्तु
मेरी याददाश्त तुम्हारे लिए नष्ट हो गयी है
मेरी कोई ज़िम्मेदारी नहीं रह गयी है तुम्हारे प्रति
मैं जो कहूँगा, वह तुम्हें अजूबा-सा लगेगा—
मैं एक पुराने बारूदखाने में दिन भर सोता हूँ
जब से तुम्हारी यह भाषा निरर्थक हो गई
तब से मैं मात्र एक श्रोता हूँ।

ज़ाहिर है कि यह संवाद की स्थिति नहीं है। नयी पीढ़ी यदि संवाद की स्थिति में नहीं आना चाहती तो केवल इसलिए नहीं कि वह निरर्थक है, बल्कि इसलिए भी कि उसे संवाद की नीयत के प्रति शंका है। शंका वही "काल के एक और आयाम के स्वामित्व" को लेकर। इधर नयी पीढ़ी के लेखन को जिस प्रकार 'नई कविता' और 'नई कहानी' का विस्तार बतलाकर समेटने की कोशिशें हुई हैं उनसे यह शंका पुष्ट होती है। यही नहीं, इस 'उदारता' के समानान्तर जहाँ 'भर्त्सना' का स्वर है उससे भी स्वामित्व की ही आशंका उत्पन्न होती है।

सवाल इस स्थिति को तोड़ने का है, और वात्स्यायनजी ने सुझाव दिया है कि "नई पीढ़ी से हमारा संवाद तभी हो सकता है जब अपने सब प्रश्न हम उस पीढ़ी से न पूछकर अपनी पीढ़ी से पूछें।" लेकिन जैसा कि श्री नन्द चतुर्वेदी ने कहा है, "हम जो अपनी पीढ़ी से प्रश्न पूछने की बार-बार इच्छा करते हैं, निरर्थक है। इन प्रश्नों का उत्तर हम बहुत पहले दे चुके हैं, बहुत पहले ही हम उन्हें जी चुके हैं। हमें उन उत्तरों ने यश के शिखर दिए हैं, सुरक्षा दी है, एक सच्ची-झूठी सामाजिक स्थिति दी है। अब हम क्या प्रश्न करना चाहते हैं और किस उत्तर की अपेक्षा करते हैं? हमारा इतना सुरक्षित होना, कीर्तिवान् होना और उच्च पद पर होना क्या सारे प्रश्नों का उत्तर नहीं है।" ज़ाहिर है कि अपनी पीढ़ी से प्रश्न पूछने के बाद भी नयी पीढ़ी से हमारा संवाद संभव नहीं है।

प्रश्न ही पूछना है तो अपनी पीढ़ी से क्या, स्वयं अपने-आपसे ही पूछा जा सकता है। जिन्होंने किसी समय अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी को लेकर 'धुरीहीनता' का प्रश्न उठाया था, आज वही प्रश्न स्वयं उनके सामने खड़ा है। जिन्होंने एक समय लेखक की स्वतंत्रता का सवाल उठाकर राज्याश्रय का विरोध किया था, आज वही स्वतंत्रता सभी प्रकार के आश्रयों के सामने प्रश्नचिह्न के समान खड़ी है। नयी पीढ़ी की सारी ज़िम्मेदारी अपने-आप पर ले लेने से ही नई पीढ़ी के साथ संवाद के लिए रास्ता नहीं खुल जाता। सवाल आगे की ज़िम्मेदारी का है और उस ज़िम्मेदारी को लेने का मतलब है जोखिम। संवाद का अर्थ है उस जोखिम में नयी पीढ़ी का साझीदार होना। श्री नन्द चतुर्वेदी का यह कथन एकदम ठीक है कि "जो उसे (त्रास को) साथ-साथ भोगते हैं वे निरन्तर संवाद की स्थितियों में होते हैं।" उन्हें अलग से संवाद-सम्बन्ध स्थापित करने की 'औपचारिकता' अथवा 'रस्मी सामाजिकता' की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रसंग में मुक्तिबोध का नाम लेना अप्रासंगिक न होगा। मुक्तिबोध उसी पीढ़ी के थे जिस पीढ़ी के वात्स्यायन हैं, फिर भी मुक्तिबोध के साथ नई पीढ़ी का संवाद रहा है, और यदि 'एक साहित्यिक की डायरी' के संवादों को प्रमाण मानें तो मुक्तिबोध इस पीढ़ी के साथ निरन्तर संवाद की स्थिति में थे। ज़ाहिर है कि यह दो पीढ़ियों का अन्ध द्वन्द्व नहीं, बल्कि द्वन्द्व दो दुनिया का है, दो विरोधी मूल्यों का है।

वैसे, इस विरोध में भी संवाद संभव है, यदि दोनों पक्ष 'अपने-अपने अजनबी' न हों। जो नई पीढ़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को न तो पहचानता हो और न पहचानना ही चाहता हो, वह उससे संवाद क्या करेगा ? जो "नाम-रूप और वदन-विहीन" है, "स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति के साथ संवाद का रिश्ता जोड़ना आसान नहीं है।" नई पीढ़ी सचमुच ही नाम-रूप-वदन-विहीन है अथवा यह धारणा अपरिचय का परिणाम है, इसके लिए एक सद्यः प्रकाशित लघुपत्रिका 'अनास्था' का यह उद्धरण प्रासंगिक होगा : "हमारी पीढ़ी के संबंध में जो १९४६ तथा उसके एक-दो साल बाद पैदा हुई स्वतन्त्रता के बाद मोहभंग, आदर्शों तथा सपनों के टूटने और विघटन की बात ही सर्वथा बेतुकी और मूर्खतापूर्ण है। हम लोगों के पास कोई मोह या सपना या आदर्श था ही कहाँ, जो टूटता ? हमने तो इसी भ्रष्ट व्यवस्था में आँखें खोलीं, जहाँ अन्दर बहते गन्दे परनाले को छिपाने के लिए बटन-होल में गुलाब टाँके जाते रहे और हमने इस स्थिति को ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया, क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं था। हम स्वतन्त्रता के पहले या बाद के सपनों और आदर्शों में भागीदार नहीं थे, क्योंकि तब तक हमारा न तो जन्म हुआ था न हमने आज़ादी की लड़ाई को ही झेला था। हाँ, कुछ खास-खास मोह और सपने उनके पास थे, जिन्होंने स्वतन्त्रता-संघर्ष में हिस्सा लिया था, या सक्रिय दर्शक थे और जो अब तक दुर्भाग्य से जीवित हैं। मोहभंग और विघटन उनका हुआ है, हमारा नहीं। हम तो शुरू से ही इस कड़वे यथार्थ में रहते आए हैं, जो अब लगभग स्वाभाविक बन गया है। इसीलिए हमारी निराशा और संत्रास बुज़ुर्गों से भिन्न है। इस स्थिति में यह सोचना भी उपहासास्पद लगता है कि कभी किसी ने सपने भी संजोए होंगे। मैं तो सोच-सोचकर हैरान होता हूँ कि लोग 'स्वतन्त्रता' या 'स्वातन्त्र्योत्तर' को क्यों इतना महत्व देते हैं। मेरे लिए तो स्वतन्त्रता या उसके लिए किया गया संघर्ष किताबी चीज़ है। किताबों में जो गौरवमय है, वही बाद में कितना कुत्सामय हो गया। आज़ादी गलत तरीके से गलत समय में गलत लोगों द्वारा हथिया ली गई।"

जिस व्यक्ति को अपनी स्थिति का इतना स्पष्ट बोध हो, क्या वह नाम-रूप-वदन-विहीन है ? स्वयं वात्स्यायनजी के अनुसार "जो युवक यह कह सकता है कि 'मुझे उपाधि नहीं रोज़गार चाहिए' वह यथार्थ के प्रति अन्धा नहीं है।" फिर इस यथार्थ के प्रति जो भी अन्धा नहीं है, चाहे वह जिस पीढ़ी का हो, उससे नई पीढ़ी का संवाद संभव क्यों न होगा ? किन्तु केवल संवाद के लिए नई पीढ़ी की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना संवाद नहीं, अवसरवाद कहलाएगा।

यह साझा संवाद का आधार तो है किन्तु अन्त नहीं। इसीलिए जब श्री नन्द चतुर्वेदी कहते हैं कि "इस समय हम किसी की तरफ से चिन्तन न करें, विशेषतया उस 'नाम-रूप और वदन-विहीन' युवक की तरफ से तो बिल्कुल नहीं क्योंकि वह सहसा वाष्प होकर उड़नेवाला नहीं है। क्या बुरा है यदि वह उस सबको भोगे जो उसने सिरजा है।" तो वे बात वहीं खत्म कर देते हैं जहाँ से दरअसल संवाद शुरू होता है। सवाल किसी की तरफ से सोचने का नहीं, बल्कि स्वयं अपनी ही तरफ से सोचने का है। वह साझीदारी कैसी जो भोगने तक तो बनी रहे, लेकिन सोचने के नाम पर टूट जाए। क्या एक स्थिति के साझीदार अपने लिए सोचते हुए भी दूसरे के लिए नहीं सोचते ? "क्या बुरा है यदि वह उस सबको भोगे जो उसने सिरजा है" यह कथन निस्सन्देह नयी पीढ़ी के कुछ लोगों के लिए परम प्रीतिकर है, किन्तु यह प्रीतिकर है, इसीलिए क्या सन्देहास्पद नहीं ? यदि नयी पीढ़ी उत्तर से बिदकती-सी प्रतीत होती है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसे प्रसन्न करने के लिए उसके सामने केवल प्रश्नों का ढेर ही लगाया जाए। उत्तरों से कम धोखा प्रश्नों में नहीं। बर्टोल्ट ब्रेख्ट ने ऐसी स्थिति पर व्यंग्य करते हुए एक स्थान पर लिखा है : श्री क० ने कहा कि "मैंने देखा है कि अनेक लोगों को हम अपनी विचारधारा से इसलिए भगा देते हैं कि हम हर चीज़ के लिए एक-न-एक जवाब से लैस दिखाई पड़ते हैं। क्या, प्रोपेगैंडा के लिए, हमें कुछ ऐसी समस्याओं की सूची नहीं बना लेनी चाहिए जिन्हें हम बिल्कुल अनसुलझी समझते हैं ?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य में उस दौर को बीते अभी ज़्यादा दिन नहीं हुए जब कुछ लोग सिर्फ अनसुलझी समस्याओं की लम्बी फेहरिस्त लिए घूमा करते थे और इस बात के लिए उन्होंने अपनी श्रेष्ठता का भी दावा किया था। किन्तु उसी दौर में मुक्तिबोध जैसे जागरूक चिन्तक ने कहा था कि "उत्तर के सिंहासन पर शंका को बैठाने का मतलब है, अपनी समस्या में प्रश्न ही का आदर्शीकरण करना, समस्या में फँसे रहने का उदात्तीकरण करना। वास्तविक उत्तर खोज न पाने की स्थिति का यह आदर्शीकरण अनुचित है। जो उत्तर सामने दीख पड़ते हैं वे यदि अशुद्ध, अनुचित, खण्डित और अव्यावहारिक हों तो शोध को महत्त्व दो। लेकिन उत्तर के सिंहासन पर यदि शंका को बैठाओगे (ये कहने की बातें हैं, वास्तविक जीवन में कोई ऐसा नहीं करता) तो आपकी जो द्विधाग्रस्त मनःस्थिति है उसी में फँसे रहने का आप एक जाल रच रहे हैं।" इसलिए "त्रास का भोग एक शती के लोगों के बीच का **प्रश्नोत्तरहीन संवाद है**" तथा "उस बीच जो आकुलता या कि अकुलाहट जन्मी है, सब प्रश्नों का उत्तर है।" जैसे वाक्य अनुभवप्रिय होते हुए भी अन्ततः एक प्रकार के रहस्यवाद की ओर ले जाते हैं। 'आकुलता' या 'अकुलाहट' उत्तर नहीं है और न हो ही सकती है। बात 'आकुलता' पर खत्म नहीं होती बल्कि जैसा कि राइट-मिल्स का कहना था, "व्यक्तिगत परेशानियों" को "सार्वजनिक समस्याओं" के रूप में उभारने की आवश्यकता है। त्रास-भोग के प्रश्नोत्तरहीन संवाद से स्थिति यथावत् बनी रह सकती है, जब कि आवश्यकता उसे बदलने की है और नई पीढ़ी के जो जागरूक लेखक हैं उनकी रचनाओं में निश्चित रूप से वस्तुस्थिति को बदलने का स्वर प्रमुख है। इसीलिए वे पूर्ववर्ती पीढ़ी के दर्दवादियों की तरह अपनी 'आकुलता' की आंतरिक गुहा में कैद नहीं हैं और न रहना चाहते हैं बल्कि वे बाहर आकर प्रस्तुत यथार्थ को अधिक-से-अधिक उजागर करने का प्रयास कर रहे हैं।

वस्तुस्थिति को बदलने के लिए उन सभी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष अनिवार्य है जो वस्तुस्थिति को यथावत रखना चाहते हैं। यदि पुरानी पीढ़ी इस संघर्ष में आड़े आती है तो उसे भी इस विरोध का लक्ष्य बनना पड़ेगा। यह संघर्ष भी संवाद का ही एक रूप है। पुरानी पीढ़ी के संवाद का मंशा जो हो, नई पीढ़ी का इस संवाद से विरत होना पलायन है। 'त्रास-भोग' पर्याप्त नहीं है। यह एक प्रकार का आत्मतोष है। आज इस प्रकार के चालू मुहावरे हवा में हैं। आवश्यकता इन चालू मुहावरों से मुक्त होकर वास्तविकता के सीधे साक्षात्कार की है। इन चालू मुहावरों में वास्तविकता के खो जाने का खतरा है। कहीं ऐसा न हो कि सारा विरोध केवल कुछ सतही, ऊपरी और अप्रासंगिक बातों के खिलाफ शिकायतों की सूची बनकर रह जाए और इस अंबार में बुनियादी विरोध दब जाए। वास्तविकता को ठीक-ठीक देखने के लिए तोड़ना ज़रूरी है, लेकिन खण्डित वास्तविकता में कैद रह जाना रचना के लिए घातक है। आज वैसे भी वास्तविकता के खंड-खंड होने की प्रक्रिया प्रबल है। यह प्रक्रिया रचनाकार की दुनिया को छोटी कर सकती है, उसकी दृष्टि को सीमित कर सकती है और इस प्रकार उसकी ईमानदार कोशिश के बावजूद उसके विरोध को अप्रासंगिक बना सकती है। इसलिए आवश्यकता आज की वास्तविकता को उसकी समग्रता में देखने की है—प्रत्येक अनुभव-खंड को पूरे परिप्रेक्ष्य में रखने की है। क्या इसके लिए समान रूप से त्रास 'भोगने' वालों के बीच संवाद आवश्यक नहीं?

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प ट क थ ा | धूमिल

जब मैं बाहर आया
मेरे हाथों में
एक कविता थी और दिमाग में
आँतों का एक्स-रे।
वह काला धब्बा
जो कल तक एक शब्द था;
खून के अँधेरे में
दवा की शीशी का ट्रेडमार्क
बन गया था।
औरतों के लिए गैर-जरूरी होने के बाद
अपनी ऊब का
दूसरा समाधान ढूंढ़ना जरूरी है।
मैंने सोचा !
क्योंकि शब्द और स्वाद के बीच
अपनी भूख को जिन्दा रखना
जीभ और जाँघ के स्थानिक भूगोल की
वाजिब मजबूरी है।
मैंने सोचा और संस्कार के
वर्जित इलाकों में
अपनी आदतों का शिकार
होने से पहले ही
बाहर चला आया।

बाहर हवा थी
धूप थी
घास थी
मैंने कहा आजादी···।
मुझे अच्छी तरह याद है—
मैंने यही कहा था
मेरी नस-नस में बिजली
दौड़ रही थी
उत्साह में
खुद मेरा स्वर
मुझे अजनबी लग रहा था
मैंने कहा--आ जा दी
और दौड़ता हुआ खेतों की ओर
गया। वहाँ कतार के कतार
अनाज के अँकुए फूट रहे थे
मैंने कहा—जैसे कसरत करते हुए
बच्चे। तारों पर
चिड़ियाँ चहचहा रही थीं
मैंने कहा—काँसे की बजती हुई घंटियाँ···
खेत की मेड़ पार करते हुए
मैंने एक बैल की पीठ थपथपाई···।
सड़क पर जाते हुए आदमी से
उसका नाम पूछा
और कहा—बधाई···।
घर लौट कर
मैंने सारी बत्तियाँ जला दीं
पुरानी तसवीरों को दीवार से
उतार कर
उन्हें साफ किया
और फिर उन्हें दीवार पर (उसी जगह)
टाँग दिया।
मैंने दरवाजे के बाहर
एक पौधा लगाया और कहा—
वन-महोत्सव···
और देर तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हवा में गरदन उचका-उचकाकर
लम्बी-लम्बी साँस खींचता रहा
देर तक महसूस करता रहा—
कि मेरे भीतर
वक्त का सामना करने के लिए
औसतन, जवान खून है
मगर, मुझे शान्ति चाहिए
इसलिए खाली दरबे में
एक जोड़ा कबूतर लाकर डाल दिया
गूं···गुटरगूं···गूं···गुटरगूं···
और चहकते हुए कहा—
यही मेरी आस्था है
यही मेरा कानून है

इस तरह जो था उसे मैंने
जी भर कर प्यार किया
और जो नहीं था
उसका इन्तजार किया।
मैंने इन्तजार किया—
अब कोई बच्चा
भूखा रहकर स्कूल नहीं जाएगा।
अब कोई छत बारिश में
नहीं टपकेगी।
अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में
अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा
अब कोई दवा के अभाव में
घुट-घुटकर नहीं मरेगा
अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा
कोई किसी को नंगा नहीं करेगा
अब यह जमीन अपनी है
आसमान अपना है
जैसा पहले हुआ करता था—
सूर्य, हमारा सपना है
मैं इन्तजार करता रहा···
इन्तजार करता रहा···
इन्तजार करता रहा···
जनतंत्र त्याग, स्वतंत्रता···
संस्कृति, शान्ति, मनुष्यता···
ये सारे शब्द थे
सुनहरे वादे थे
खुशफ़हम इरादे थे
सुन्दर थे
मौलिक थे
मुखर थे
मैं सुनता रहा···
सुनता रहा···
सुनता रहा···
मतदान होते रहे
मैं अपनी सम्मोहित बुद्धि के नीचे
उसी लोकनायक को
बार-बार चुनता रहा
जिसके पास हर शंका और
हर सवाल का
एक ही जवाब था
यानी कि कोट के बटन-होल में
महकता हुआ एक फूल
गुलाब का।
वह हमें विश्वशान्ति और पंचशील के सूत्र
समझाता रहा। मैं खुद को
समझाता रहा—'जो मैं चाहता हूँ—
वही होगा। होगा—आज नहीं तो कल
मगर, सब कुछ सही होगा।'

भीड़ बढ़ती रही।
चौराहे चौड़े होते रहे।
लोग अपने-अपने हिस्से का अनाज
खाकर—निरापद भाव से
बच्चे जनते रहे।
योजनाएँ चलती रहीं
बन्दूकों के कारखानों में
जूते बनते रहे।
और जब कभी मौसम उतार पर
होता था। हमारा संशय
हमें कोंचता था। हम उत्तेजित होकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूछते थे—यह क्या है ?
ऐसा क्यों है ?
फिर बहसें होती थीं
शब्दों के जंगल में
हम एक-दूसरे को काटते थे
भाषा की खाई को
जुबान से कम और जूतों से
ज्यादा पाटते थे
कभी वह हारता रहा···
कभी हम जीतते रहे···
इसी तरह नोंक-झोंक चलती रही
दिन बीतते रहे···

मगर एक दिन मैं स्तब्ध रह गया।
मेरा सारा धीरज
युद्ध की आग से पिघलती हुई बर्फ में
बह गया।
मैंने देखा कि मैदानों में
नदियों की जगह
मरे हुए साँपों की केंचुलें बिछी हैं
पेड़—
टूटे हुए रँडार की तरह खड़े हैं
दूर-दूर तक
कोई मौसम नहीं है
लोग—
घरों के भीतर नंगे हो गये हैं
और बाहर मुर्दे पड़े हैं
विधवाएँ तमगा लूट रही हैं
सधवाएँ मंगल गा रही हैं
वन-महोत्सव से लौटी हुई कार्यप्रणालियाँ
अकाल का लंगर चला रही हैं
जगह-जगह तख्तियाँ लटक रही हैं—
'यह श्मशान है, यहाँ की तसवीर लेना
सख्त मना है।'
फिर भी इस उजाड़ में
कहीं-कहीं घास का हरा होना
कितना डरावना है

मैंने अचरज से देखा कि दुनिया का
सबसे बड़ा बौद्ध-मठ
बारूद का सबसे बड़ा गोदाम है
अखबार के मटमैले हाशिये पर
लेटे हुए, एक तटस्थ और कोढ़ी देवता का
शान्तिवाद, नाम है
यह मेरा देश है···
यह मेरा देश है···
हिमालय से लेकर हिन्द महासागर तक
फैला हुआ
जली हुई मिट्टी का ढेर है
जहाँ हर तीसरी जुबान का मतलब—
नफ़रत है।
साज़िश है।
अँधेर है।
यह मेरा देश है
और यह मेरे देश की जनता है
जनता क्या है ?
एक शब्द···सिर्फ एक शब्द है :
कुहरा और कीचड़ और काँच से
बना हुआ···।
एक भेड़ है
जो दूसरों की ठंड के लिए
अपनी पीठ पर
ऊन की फसल ढो रही है।
एक पेड़ है
जो ढलान पर
हर आती-जाती हवा की जुबान में
हाँऽऽ हाँऽऽ करता है
क्योंकि अपनी हरियाली से
डरता है।
गाँवों के गंदे पनालों से लेकर
शहर के शिवालों तक फैली हुई
'कथाकलि' की एक अमूर्त मुद्रा है
यह जनता···।
जनतन्त्र में
उसकी श्रद्धा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अटूट है
उसको समझा दिया गया है कि यहाँ
ऐसा जनतन्त्र है जिसमें
ज़िन्दा रहने के लिए
घोड़े और घास को
एक जैसी छूट है
कैसी विडम्बना है
कैसा झूठ है
दरअस्ल, अपने यहाँ जनतन्त्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है

हर तरफ धुआँ है
हर तरफ कुहासा है
जो दाँतों और दलदलों का दलाल है
वही देशभक्त है
अंधकार में सुरक्षित होने का नाम है—
तटस्थता। यहाँ
कायरता के चेहरे पर
सबसे ज्यादा रक्त है।
जिसके पास थाली है
हर भूखा आदमी
उसके लिए, सबसे भद्दी—
गाली है

हर तरफ कुआँ है
हर तरफ खाई है
यहाँ, सिर्फ, वह आदमी, देश के करीब है
जो या तो मूर्ख है
या फिर गरीब है

मैं सोचता रहा,
और घूमता रहा—
टूटे हुए पुलों के नीचे
वीरान सड़कों पर। आँखों के
अंधे रेगिस्तानों में
फटे हुए पालों की अधूरी जल-यात्राओं में
टूटी हुई चीजों के ढेर में
मैं खोई हुई आज़ादी का अर्थ
ढूंढ़ता रहा।
अपनी पसलियों के नीचे। अस्पतालों के
बिस्तरों पर। नुमाइशों में
बाजारों में। गाँवों में
जंगलों में। पहाड़ों पर
देश के इस छोर से उस छोर तक
उसी लोक-चेतना को
बार-बार टेरता रहा
जो मुझे दोबारा जी सके
जो मुझे शान्ति दे और
मेरे भीतर-बाहर का ज़हर
खुद पी सके।

—और तभी सुलग उठा पश्चिमी सीमान्त
···ध्वस्त···ध्वस्त···ध्वांत···ध्वांत···
मैं दोबारा चौंक कर खड़ा हो गया
जो चेहरा आत्महीनता की स्वीकृति में
कंधे पर लुढ़क रहा था;
किसी झनझनाते हुए चाकू की तरह
खुलकर, कड़ा हो गया···।
अचानक, अपने-आपमें ज़िन्दा होने की
यह घटना
इस देश की परम्परा की—
एक बेमिसाल कड़ी थी
लेकिन इसे साहस मत कहो।
दरअस्ल, यह पुट्ठों तक चोट खाई हुई
गाय की घृणा थी
(ज़िन्दा रहने की पुरज़ोर कोशिश)
जो उस आदमखोर की हविस से
बड़ी थी।

मगर उसके तुरन्त बाद
मुझे झेलनी पड़ी थी—सबसे बड़ी ट्रैजेडी
अपने इतिहास की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब दुनिया के स्याह और सफेद चेहरों ने
विस्मय से देखा कि ताशकन्द में
समझौते की सफेद चादर के नीचे
एक शान्ति-यात्री की लाश थी
और अब यह किसी पौराणिक कथा के
उपसंहार की तरह है कि इस देश में
रोशनी उन पहाड़ों से आई थी
जहाँ मेरे पड़ोसी ने मात
खाई थी

मगर फिर मैं वहीं चला गया
अपने जनून के अँधेरे में
फूहड़ इरादों के हाथों
छला गया ।
वहाँ बंजर मैदान
कंकालों की नुमाइश कर रहे थे
गोदाम अनाज से भरे पड़े थे और लोग
भूखों मर रहे थे
मैंने महसूस किया कि मैं वक्त के
एक शर्मनाक दौर से गुजर रहा हूँ
अब ऐसा वक्त आ गया है जब कोई
किसी का झुलसा हुआ चेहरा नहीं देखता है
अब न तो कोई किसी का खाली पेट
देखता है, न थरथराती हुई टाँगें
और न ढला हुआ 'सूर्यहीन कंधा' देखता है
हर आदमी, सिर्फ, अपना धंधा देखता है
सबने भाईचारा भुला दिया है
आत्मा की सरलता को मारकर
मतलब के अँधेरे में (एक राष्ट्रीय मुहावरे की बगल में)
सुला दिया है ।
सहानुभूति और प्यार
अब ऐसा छलावा है जिसके ज़रिये
एक आदमी दूसरे को, अकेले—
अँधेरे में ले जाता है और
उसकी पीठ में छुरा भोंक देता है
ठीक उस मोची की तरह जो चौक से
गुजरते हुए देहाती को
प्यार से बुलाता है और मरम्मत के नाम पर
रबर के तल्ले में
लोहे की तीन दर्जन फुल्लियाँ
ठोंक देता है और उसके नहीं-नहीं के बावजूद
डपटकर पैसा वसूलता है
गरज यह कि अपराध
अपने यहाँ एक ऐसा सदाबहार फूल है
जो आत्मीयता की खाद पर
लाल-भड़क फूलता है
मैंने देखा कि इस जनतांत्रिक जंगल में
हर तरफ हत्याओं के नीचे से निकलते हैं
हरे-हरे हाथ और पेड़ों पर
पत्तों की ज़ुबान बनकर लटक जाते हैं
वे ऐसी भाषा बोलते हैं जिसे सुनकर
नागरिकता की गोधूलि में
घर लौटते हुए मुसाफिर
अपना रास्ता भटक जाते हैं

उन्होंने किसी चीज को
सही जगह नहीं रहने दिया है
न संज्ञा
न विशेषण
न सर्वनाम
एक समूचा और सही वाक्य
टूट कर
बि ख र गया है
उनका व्याकरण इस देश की
शिराओं में छिपे हुए कारकों का
हत्यारा है
उनकी सख्त पकड़ के नीचे
भूख से मरा हुआ आदमी
इस मौसम का
सबसे दिलचस्प विज्ञापन है और गाय
सबसे सटीक नारा है
वे खेतों में भूख और शहरों में
अफवाहों के पुलिंदे फेंकते हैं
देश और धर्म और नैतिकता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुहाई देकर
कुछ लोगों की सुविधा
दूसरों की 'हाय' पर सेंकते हैं
वे जिसकी पीठ ठोंकते हैं—
उसके रीढ़ की हड्डी गायब हो जाती है
वे मुसकराते हैं और
दूसरे की आँख में झपटती हुई प्रतिहिंसा
करवट बदलकर
सो जाती है
मैं देखता रहा—
देखता रहा—
हर तरफ ऊब थी
संशय था
नफरत थी
मगर हर आदमी अपनी जरूरतों के आगे
असहाय था। उसमें
सारी चीजों को नये सिरे से बदलने की
बेचैनी थी, रोष था;
लेकिन उसका गुस्सा
एक तथ्यहीन मिश्रण था:
आग और आँसू और हाय का।

इस तरह एक दिन—
जब मैं घूमते-घूमते थक चुका था
मेरे खून में एक काली आँधी—
दौड़ लगा रही थी
मेरी असफलताओं में सोये हुए
वहशी इरादों को
झकझोर कर जगा रही थी
अचानक, नींद की असंख्य पर्तों में
डूबते हुए मैंने देखा
कि मेरी उलझनों के अँधेरे में
एक हम-शक्ल खड़ा है:
मैंने उससे पूछा—तुम कौन हो ?
यहाँ क्यों आए हो ?
तुम्हें क्या हुआ है ?

'तुमने पहचाना नहीं—मैं हिन्दुस्तान हूँ
हाँ—मैं हिन्दुस्तान हूँ'
वह हँसता है—ऐसी हँसी कि दिल
दहल जाता है
कलेजा मुँह को आता है
और मैं हैरान हूँ
'यहाँ आओ
मेरे पास आओ
मुझे छुओ।
मुझे जिओ। मेरे साथ चलो
मेरा यकीन करो। इस दलदल से
बाहर निकलो।
सुनो !
तुम चाहे जिसे चुनो
मगर इसे नहीं। इसे बदलो।
मुझे लगा—आवाज
जैसे किसी जलते हुए कुएँ से
आ रही है।
एक अजीब-सी प्यारभरी गुर्राहट:
जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है
मेरा सारा जिस्म थरथरा रहा था
उसकी आवाज में
असंख्य नर्कों की घृणा भरी थी
वह एक-एक शब्द चबा-चबाकर
बोल रहा था। मगर उसकी आँख
गुस्से में भी हरी थी
वह कह रहा था—
'तुम्हारी आँखों के चकनाचूर आईनों में
वक्त की बदरंग छायाएँ उल्टी कर रही हैं
और तुम पेड़ों की छाल गिनकर
भविष्य का कार्य-क्रम तैयार कर रहे हो
तुम एक ऐसी जिन्दगी से गुजर रहे हो
जिसमें न कोई तुक है
न सुख है
तुम अपनी शापित परछाईं से टकराकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रास्ते में रुक गए हो
तुम जो हर चीज
अपने दाँतों के नीचे
खाने के आदी हो
चाहे वह सपना हो अथवा आजादी हो
अचानक, इस तरह, क्यों चुक गए हो
वह क्या है जिसने तुम्हें
बर्बरों के सामने अदब से
रहना सिखलाया है ?
क्या यह विश्वास की कमी है
जो तुम्हारी भलमनसाहत बन गई है
या कि शर्म
अब तुम्हारी सहूलियत बन गई है
नहीं—सरलता की तरफ इस तरह
मत दौड़ो
उसमें भूख और मन्दिर की रोशनी का
रिश्ता है। वह बनिये की पूँजी का
आधार है
मैं बार-बार कहता हूँ कि इस उलझी हुई—
दुनिया में
आसानी से समझ में आने वाली चीज़
सिर्फ दीवार है।
और यह दीवार अब तुम्हारी आदत का
हिस्सा बन गई है
इसे झटक कर अलग करो
अपनी आदतों में
फूलों की जगह पत्थर भरो
मासूमियत के हर तकाज़े को
ठोकर मार दो
अब वक्त गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार दो।

सुनो !
आज मैं तुम्हें वह सत्य बतलाता हूँ
जिसके आगे हर सच्चाई
छोटी है। इस दुनिया में
भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क
रोटी है।
मगर तुम्हारी भूख और भाषा में
यदि सही दूरी नहीं है
तो तुम अपने-आपको आदमी मत कहो
क्योंकि पशुता—
सिर्फ पूंछ होने की मजबूरी नहीं है
वह आदमी को भी वहीं ले जाती है
जहाँ भूख
सबसे पहले भाषा को खाती है
वक्त सिर्फ उसका चेहरा बिगाड़ता है
जो अपने चेहरे की राख
दूसरों की रूमाल से झाड़ता है
जो अपना हाथ
मैला होने से डरता है
वह एक नहीं ग्यारह कायरों की
मौत मरता है
और सुनो ! नफरत और रोशनी
सिर्फ उसके हिस्से की चीज़ है
जिसे जंगल के हाशिये पर
जीने की तमीज़ है
इसलिए उठो और अपने भीतर
सोये हुए जंगल को
आवाज़ दो
उसे जगाओ और देखो—
कि तुम अकेले नहीं हो
और न किसी के मुहताज हो
लाखों हैं जो तुम्हारे इंतजार में खड़े हैं
वहाँ चलो। उनका साथ दो
और इस तिलस्म का जादू उतारने में
उनकी मदद करो और साबित करो
कि वे सारी चीजें अंधी हो गई हैं
जिनमें तुम शरीक नहीं हो…।'

मैं पूरी तत्परता से उसे सुन रहा था
एक के बाद दूसरा
दूसरे के बाद तीसरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसरे के बाद चौथा
चौथे के बाद पाँचवाँ···
यानी कि एक के बाद दूसरा विकल्प
चुन रहा था
मगर मैं हिचक रहा था
क्योंकि मेरे पास
कुल जमा थोड़ी सुविधाएँ थीं
जो मेरी सीमाएँ थीं
यद्यपि यह सही है कि मैं
कोई ठंडा आदमी नहीं हूँ
मुझमें भी आग—है
मगर वह
भभक कर बाहर नहीं आती
क्योंकि उसके चारों तरफ चक्कर काटता हुआ
एक 'पूंजीवादी' दिमाग है
जो परिवर्तन तो चाहता है
मगर आहिस्ता-आहिस्ता
कुछ इस तरह कि चीज़ों की शालीनता
बनी रहे।
कुछ इस तरह कि काँख भी ढँकी रहे
और विरोध में उठे हुए हाथ की
मुट्ठी भी तनी रहे···।
और यही वजह है कि बात
फ़ैसले की हद तक
आते-आते रुक जाती है
क्योंकि हर बार
चन्द टुच्ची सुविधाओं की लालच के सामने
अभियोग की भाषा चुक जाती है

मैं खुद को कुरेद रहा था
अपने बहाने उन तमाम लोगों की असफलताओं को
सोच रहा था जो मेरे नज़दीक थे।
इस तरह साबुत और सीधे विचारों पर
जमी हुई काई और उगी हुई घास को
खरोंच रहा था, नोंच रहा था
पूरे समाज की सीवन उधेड़ते हुए
मैंने आदमी के भीतर की मैल
देख ली थी। मेरा सिर
भिन्ना रहा था
मेरा हृदय भारी था
मेरा शरीर इस बुरी तरह थका था कि मैं
अपनी तरफ़ घूरते हुए उस चेहरे से
थोड़ी देर के लिए
बचना चाह रहा था
जो अपनी पैनी आँखों से
मेरी बेबसी और मेरा उथलापन
थाह रहा था
प्रस्तावित भीड़ में
शरीक होने के लिए
अभी मैंने कोई निर्णय नहीं लिया था
अचानक, उसने मेरा हाथ पकड़ कर
खींच लिया और मैं
जेब में जूतों का टोकन और दिमाग में
ताज़े अखबार की कतरन लिए हुए
धड़ाम से—
चौथे आम चुनाव की सीढ़ियों से फिसल कर
मत-पेटियों के

गड़गच्च अँधेरे में गिर पड़ा
नींद के भीतर यह दूसरी नींद है
और मुझे कुछ नहीं सूझ रहा है
सिर्फ एक शोर है
जिसमें कानों के पर्दे फटे जा रहे हैं
शासन सुरक्षा रोजगार शिक्षा···
राष्ट्रधर्म देशहित हिंसा अहिंसा···
सैन्यशक्ति देशभक्ति आजादी वीसा···
वाद बिरादरी भूख भीख भाषा···
शांति-क्रांति शीतयुद्ध एटम बम सीमा···
एकता सीढ़ियाँ साहित्यिक पीढ़ियाँ निराशा···
झाँय-झाँय, खाँय-खाँय, हाय-हाय, साँय-साँय··

मैंने कानों में ठूंस ली हैं अँगुलिय
और अँधेरे में गाड़ दी है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आँखों की रोशनी।
सब-कुछ अब धीरे-धीरे खुलने लगा है
मत-वर्षा के इस दादुर-शोर में
मैंने देखा हर तरफ
रंग-बिरंगे झंडे फहरा रहे हैं
गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए
गुट से गुट टकरा रहे हैं
वे एक-दूसरे से दाँता-किलकिल कर रहे हैं
एक-दूसरे को दुर-दुर बिल-बिल कर रहे हैं
हर तरफ तरह-तरह के जंतु हैं
श्रीमान् किन्तु हैं
मिस्टर परन्तु हैं
कुछ रोगी हैं
कुछ भोगी हैं
कुछ हिजड़े हैं
कुछ जोगी हैं
तिजोरियों के
प्रशिक्षित दलाल हैं
आँखों के अन्धे हैं
घर के कंगाल हैं
गूँगे हैं
बहरे हैं
उथले हैं, गहरे हैं
गिरते हुए लोग हैं
अकड़ते हुए लोग हैं
भागते हुए लोग हैं
पकड़ते हुए लोग हैं
गरज़ यह कि हर तरह के लोग हैं
एक दूसरे से नफरत करते हुए वे
इस बात पर सहमत हैं कि इस देश में
असंख्य रोग हैं
और उनका एकमात्र इलाज—

चुनाव है।
लेकिन मुझे लगा कि एक विशाल दलदल के किनारे
बहुत बड़ा अधमरा पशु पड़ा हुआ है
उसकी नाभि में एक सड़ा हुआ घाव है
जिससे लगातार—भयानक बदबूदार मवाद
बह रहा है
उसमें जाति और धर्म और सम्प्रदाय और
पेशा और पूँजी के असंख्य कीड़े
किलबिला रहे हैं और अन्धकार में
डूबी हुई पृथ्वी
(पता नहीं किस अनहोनी की प्रतीक्षा में)
इस भीषण सड़ाँध को चुपचाप सह रही है

मगर आपस में नफरत करते हुए वे लोग
इस बात पर सहमत हैं कि
'चुनाव' ही सही इलाज है
क्योंकि बुरे और बुरे के बीच से
किसी हद तक 'कम-से-कम बुरे को' चुनते हुए
न उन्हें मलाल है, न भय है
न लाज है
दरअस्ल, उन्हें एक मौका मिला है
और इसी बहाने
वे अपने पड़ोसी को पराजित कर रहे हैं
मैंने देखा कि हर तरफ
मूढ़ता की हरी-हरी घास लहरा रही है
जिसे कुछ जंगली पशु
खूँद रहे हैं
लीद रहे हैं
चर रहे हैं

मैंने ऊब और गुस्से को
गलत मुहरों के नीचे से गुज़रते हुए देखा
मैंने अहिंसा को
एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा
मैंने ईमानदारी को अपनी चोरजेबें
भरते हुए देखा
मैंने विवेक को
चापलूसों के तलवे चाटते हुए देखा…।

मैं यह सब देख ही रहा था कि एक नया रेला आया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्मत्त लोगों का बर्बर जुलूस। वे किसी आदमी
को हाथों पर गठरी की तरह उछाल रहे थे
उसे एक-दूसरे से छीन रहे थे। उसे घसीट रहे थे।
चूम रहे थे। पीट रहे थे। गालियाँ दे रहे थे।
गले से लगा रहे थे। उसकी प्रशंसा के गीत
गा रहे थे। उस पर अनगिनत झंडे फहरा रहे थे।
उसकी जीभ बाहर लटक रही थी। उसकी आँखें बंद
थीं। उसका चेहरा खून और आँसू से तर था। 'मूर्खो!
यह क्या कर रहे हो'। मैं चिल्लाया। और तभी किसी
ने उसे मेरी ओर उछाल दिया। अरे! यह कैसे हुआ?
मैं हतप्रभ-सा खड़ा था
और मेरा हमशक्ल
मेरे पैरों के पास
मूर्च्छित-सा
पड़ा था···

दुख और भय से एक झुरझुरी लेकर
मैं उस पर झुक गया
किन्तु बीच ही में रुक गया
उसका हाथ ऊपर उठा था
खून और आँसू से तर चेहरा
मुस्कुराया था। उसकी आँखों का हरापन
उसकी आवाज़ में उतर आया था—
'दुखी मत हो। यही मेरी नियति है।
मैं हिन्दुस्तान हूँ। जब भी मैंने
उन्हें उजाले से जोड़ा है
उन्होंने मुझे इसी तरह अपमानित किया है
इसी तरह तोड़ा है।
मगर समय गवाह है
कि मेरी बेचैनी के आगे भी राह है'

मैंने सुना। वह आहिस्ता-आहिस्ता कह रहा है
जैसे किसी जले हुए जंगल में
पानी का एक ठंडा सोता बह रहा है
घास की ताज़गी-भरी
ऐसी आवाज़ है
जो न किसी से खुश है, न नाराज है।

'भूख ने उन्हें जानवर कर दिया है
संशय ने उन्हें आग्रहों से भर दिया है
फिर भी वे अपने हैं
अपने हैं
अपने हैं
जीवित भविष्य के सुन्दरतम सपने हैं
नहीं—यह मेरे लिए दुखी होने का समय
नहीं है। अपने लोगों की घृणा के
इस महोत्सव में
मैं शापित निश्चय हूँ
मुझे किसी से भय नहीं है।

तुम मेरी चिन्ता मत करो। उनके साथ
चलो। इससे पहले कि वे
गलत हाथों के हथियार हों
इससे पहले कि वे नारों और इश्तिहारों से
काले बाजार हों
उनसे मिलो। उन्हें बदलो।
नहीं—भीड़ के खिलाफ रुकना
एक खूनी विचार है
क्योंकि हर ठहरा हुआ आदमी
इस हिंसक भीड़ का
अन्धा शिकार है।
तुम मेरी चिन्ता मत करो।
मैं हर वक्त सिर्फ एक चेहरा नहीं हूँ
जहाँ वर्तमान
अपने शिकारी कुत्ते उतारता है
अक्सर मैं मिट्टी का हरकत करता हुआ
वह टुकड़ा हूँ
जो आदमी की शिराओं में
बहते हुए खून को
उसके सही नाम से पुकारता है
इसलिए मैं कहता हूँ जाओ और
देखो कि वे लोग···

मैं कुछ कहना ही चाहता था कि एक धक्के ने
मुझे दूर फेंक दिया। इससे पहले कि मैं गिरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्हीं मजबूत हाथों ने मुझे टेक लिया।
अचानक भीड़ से निकलकर एक प्रशिक्षित दलाल
मेरी देह में समा गया। दूसरा मेरे हाथों में
एक पर्ची थमा गया। तीसरे ने मुझे एक मुहर देकर
पर्दे के पीछ ढकेल दिया।
भय और अनिश्चय के दुहरे दबाव में
पता नहीं कब और कैसे और कहाँ—
कितने नामों और चिन्हों और शब्दों को
काटते हुए मैं चीख पड़ा—
हत्यारा! हत्यारा!! हत्यारा!!!

[मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है। मैंने यह
किसको कहा था। शायद अपने-आपको
शायद उस हमशक्ल को (जिसने खुद को
हिन्दुस्तान कहा था) शायद उस दलाल को
मगर मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है]

मेरी नींद टूट चुकी थी
मेरा पूरा जिस्म पसीने में
सराबोर था। मेरे आसपास से
तरह-तरह के लोग गुजर रहे थे।
हर तरफ हलचल थी, शोर था।
कुछ लोग कह रहे थे कि इन दिनों
एक खास परिवर्तन हुआ है
जनता जगी है। सब
प्रभु की माया है
एक लम्बे इन्तजार के बाद
चीजों का असली चेहरा
उजाले में आया है
और मैं चुपचाप सुनता हूँ
हाँ शायद—
मैंने भी अपने भीतर
(कहीं बहुत गहरे)
'कुछ जलता हुआ-सा' छुआ है
लेकिन मैं जानता हूँ कि जो कुछ हुआ है
नींद में हुआ है

और तब से आज तक
नींद और नींद के बीच का जंगल काटते हुए
मैंने कई रातें जागकर गुजार दी हैं
हफ्तों पर हफ्ते तह किये हैं
अपनी परेशानी के
निर्मम अकेले और बेहद अनमने क्षण
जिये हैं।
और हर बार मुझे लगा है कि कहीं
कोई खास फर्क नहीं है
जिन्दगी उसी पुराने ढर्रे पर चल रही है
जिसके पीछे कोई तर्क नहीं है।

हाँ यह सही है कि इन दिनों
कुछ अर्जियाँ मन्जूर हुई हैं
कुछ तबादले हुए हैं
कल तक जो नहले थे
आज
दहले हुए हैं

हाँ, यह सही है कि इन दिनों
मन्त्री जब प्रजा के सामने आता है
तो पहले से
कुछ ज्यादा मुस्कराता है
नये-नये वादे करता है
और यह सब सिर्फ घास के
सामने होने की मजबूरी है
वर्ना उस भलेमानुस को
यह भी पता नहीं है कि विधानसभा-भवन
और अपने निजी बिस्तर के बीच
कितने जूतों की दूरी है

हाँ यह सही है कि इन दिनों—चीजों के
भाव कुछ चढ़ गये हैं। अखबारों के
शीर्षक दिलचस्प हैं, नये हैं।
मंदी की मार से
पट पड़ी हुई चीजें, बाजार में
सहसा उछल गई हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाँ यह सही है कि कुर्सियाँ वही हैं
सिर्फ, टोपियाँ बदल गई हैं
और—
सच्चे मतभेद के अभाव में
लोग उछल-उछल कर
अपनी जगहें बदल रहे हैं
चढ़ी हुई नदी में
भरी हुई नाव में
हर तरफ, विरोधी विचारों का
दलदल है
सतहों पर हलचल है
नये-नये नारे हैं
भाषण में जोश है
पानी ही पानी है
पर
की
च
ड़
खामोश है

मैं रोज देखता हूँ कि व्यवस्था की मशीन का
एक पुर्जा गरम होकर
अलग छिटक गया है और
ठंडा होते ही
फिर कुर्सी से चिपक गया है
उसमें न हया है
न दया है

नहीं—अपना कोई हमदर्द
यहाँ नहीं है। मैंने एक-एक को
परख लिया है।
मैंने हरेक को आवाज दी है
हरेक का दरवाजा खटखटाया है
मगर बेकार...। मैंने जिसकी पूँछ
उठाई है उसको मादा
पाया है।
वे सब के सब तिजोरियों के
दुभाषिये हैं।
वे वकील हैं। वैज्ञानिक हैं।
अध्यापक हैं। नेता हैं। दार्शनिक
हैं। लेखक हैं। कवि हैं। कलाकार हैं।
यानि कि—
कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।

भूख और भूख की आड़ में
चबाई गई चीजों का अक्स
उनके दाँतों पर ढूँढ़ना
बेकार है। समाजवाद
उनकी जुबान पर अपनी सुरक्षा का
एक आधुनिक मुहावरा है।

मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिस पर 'आग' लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है।

यहाँ जनता एक गाड़ी है

एक ही संविधान के नीचे
भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम
'गया' है
और भूख में
तनी हुई मुट्ठी का नाम
नक्सल बाड़ी है

मुझसे कहा गया कि संसद
देश की धड़कन को
प्रतिबिंबित करने वाला दर्पण है
जनता को
जनता के विचारों का
नैतिक समर्पण है
लेकिन क्या यह सच है?
या यह सच है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने यहाँ संसद—
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है
और यदि यह सच नहीं है
तो वहाँ एक ईमानदार आदमी को
अपनी ईमानदारी का
मलाल क्यों है ?
जिसने सत्य कह दिया है
उसका बुरा हाल—क्यों है ?

मैं अक्सर अपने-आप से सवाल
करता हूँ जिसका मेरे पास
कोई उत्तर नहीं है
और आज तक—
नींद और नींद के बीच का जंगल काटते हुए
मैंने कई रातें जाग कर
गुजार दी हैं
हफ्तों पर हफ्ते तह किये हैं। ऊब के
निर्मम अकेले और बेहद अनमने क्षण
जिये हैं।
मेरे सामने वही चिरपरिचित अन्धकार है
संशय की अनिश्चयग्रस्त ठंडी मुद्राएँ हैं
हर तरफ
शब्दवेधी सन्नाटा है
दरिद्र की व्यथा की तरह
उचाट और कूँथता हुआ। घृणा में
डूबा हुआ सारा का सारा देश
पहले की ही तरह आज भी
मेरा कारागार है।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवा लेखन पर एक बहस

'आलोचना' के अप्रैल-जून '६७ का सम्पादकीय पढ़कर अनेक लेखकों और पाठकों ने 'युवा लेखन' पर एक व्यापक बहस चलाने का आग्रह किया; उनमें से कुछ ने यह भी सुझाव दिया कि बहस के लिए आधार-निबन्ध प्रस्तुत करने की पहल स्वयं 'आलोचना' की ओर से की जाए। प्रस्तुत 'संवाद' उस आग्रह और सुझाव को अमली रूप देने का पहला प्रयास है। 'संवाद' को अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाने के लिए यथासंभव पूरी कोशिश की गई किन्तु कुछ लेखकों के निबन्ध अभी प्राप्त न हो सके। सम्प्रति प्रस्तावित 'संवाद' की पहली किस्त प्रस्तुत की जा रही है इस आशा के साथ कि दूसरी किस्त के लिए एक अवसर फिर आएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहस का प्ररूप

नामवरसिंह

'आरम्भ' के अक्तूबर अंक में युवा लेखन-सम्बन्धी पिछली बहसों पर टिप्पणी करते हुए एक युवा लेखक ने लिखा है कि "एक काल्पनिक या अमूर्त नई पीढ़ी जिसे नाम कोई नहीं दे रहा" दोनों तरफ़ से पिट रही है। जहाँ तक युवा लेखन को लेकर दो पक्षों के होने या बनने का सवाल है वह तो शुरू से है। अज्ञेय ने जिसे 'आ तू, आ' सम्बोधित किया उसी को मुक्तिबोध ने 'जो काव्यात्मन् फणिधर' समर्पित किया। तब से सात साल हो गए। मैं नहीं जानता कि इस दोतरफा तनाव के बीच युवा पीढ़ी कितनी टूटी है क्योंकि यह तो उसकी अपनी पक्षधरता और अपनी ताकत पर निर्भर है, किन्तु यह तथ्य है कि बहुतों के लिए आज भी युवा पीढ़ी 'काल्पनिक' नहीं तो 'अमूर्त' अवश्य है क्योंकि अभी तक उसने अपनी कोई निश्चित संज्ञा नहीं स्थापित की—वह स्वयं भी अनेक विसंगतियों से होकर गुज़र रही है। इतना निश्चित है कि वह नाम संघर्ष की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया से भागकर नहीं, बल्कि इसके बीच ही प्राप्त किया जा सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रायः हर दशक बाद साहित्य में एक नयी पीढ़ी का उदय होता है। युवा-सुलभ विद्रोह हर पीढ़ी में दिखता है। विद्रोह के ये अन्दाज़ भी उतने ही जाने-पहचाने हो चले हैं जितने प्रतिरोध के प्रयास में किए गए आरोप, जैसे परम्पराद्रोह, विदेशी अनुकरण, असाहित्यिकता, असामाजिकता, अश्लीलता आदि। आरोप-प्रत्यारोप का ढाँचा वही रहता है, मुहावरे अलबत बदल जाते हैं। मज़ा उस ढाँचे को दोहराने में नहीं, नये मुहावरों में है, क्योंकि हर पीढ़ी के साथ साहित्य में जो कुछ नया आता है वह इन्हीं मुहावरों के सहारे समझा जा सकता है। मुहावरे स्वयं रचना नहीं होते, यहाँ तक कि कभी-कभी वास्तविक रचना के सर्वथा विरोधी भी होते हैं, इसलिए दोनों को एक समझ लेने वाले अक्सर चक्कर में भी आ जाते हैं, किन्तु यदि यह तथ्य ध्यान में हो तो उन्हें सहायक ठट्ठर के रूप में इस्तेमाल करना उपयोगी है; उपयोग के बाद वे अपने-आप फालतू हो जाते हैं। युवा लेखन के संदर्भ में इस्तेमाल किये जाने वाले विद्रोह, आक्रोश, अस्वीकृति, असहमति, आक्रामकता आदि अमूर्त भाववाचक संज्ञाएँ इसी प्रकार के नये मुहावरे हैं। इतिहास में जिस प्रकार युवा पीढ़ी के साथ ये नये मुहावरे आए उनसे और कुछ नहीं तो इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सोचने-समझने की दिशा में परिवर्तन हो रहा है। युवा लेखन के बहाने आक्रोश, अस्वीकृति आदि पर अलग से बहस की जा सकती है। किन्तु बहस यदि किसी-न-किसी के बहाने ही करनी है तो ऐसे शब्दों के बहाने **युवा लेखन पर** ही केन्द्रित की जाय।

'नाम' की तलाश से स्पष्ट है कि यह युवा पीढ़ी भी हर पीढ़ी की तरह अपनी भिन्नता और विशिष्टता के लिए आग्रहशील है। भिन्नता का आग्रह यदि पहले से अधिक है तो इसलिए कि इतिहास में उसकी स्थिति पहले की सभी पीढ़ियों से नितान्त भिन्न है। यदि औरों का एक पांव आज़ादी के पहले के भारत में है तो युवा पीढ़ी ने एकदम आज़ादी के बाद के भारत में ही आँखें खोलीं। और मामूली मालूम होने वाला यह अन्तर मानसिक गठन के स्तर पर बहुत बड़ा अन्तर डाल देता है। व्यक्ति और इतिहास दोनों ही स्तरों पर युवा लेखकों की भिन्नता स्पष्ट है। व्यक्ति के रूप में युवा लेखकों का मानस-संस्कार स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बना तो इतिहास के रूप में झेलने को मिला साठोत्तरी युग-परिवर्तन। व्यक्तित्व भी भिन्न, परिवेश भी भिन्न। परिवेश और व्यक्तित्व का यह विशिष्ट घात-प्रतिघात ही युवा लेखन की भिन्नता का आधार है।

वैसे, भिन्नता-सूचक इन दोनों तथ्यों को लेकर काफ़ी विवाद हुआ है। बड़े-बूढ़े ही नहीं, युवा पीढ़ी के अग्रज भी आसानी से यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि युवा लेखकों के सोचने-समझने और अनुभव करने का तरीका भिन्न हो सकता है। इस कठिनाई का सबसे दिलचस्प उदाहरण वहाँ दिखाई पड़ता है जहाँ एक ही विचारधारा को मानने वाली और एक ही राजनीतिक पार्टी में काम करने वाली दो पीढ़ियों में टकराहट होती है। आज पीढ़ियों का संघर्ष इसी बुनियादी अन्तर का सूचक है। यह व्यक्तिगत दुर्घटना नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक अन्तर है, जिसे स्वीकार किए बिना परिस्थिति को समझना असम्भव है। इसी तरह साठोत्तरी युग-परिवर्तन को लेकर उलझना भी कठमुल्लापन है। साठ की जगह बासठ तिरसठ या चौंसठ जो चाहे कर लीजिए, क्योंकि यह कोई पत्रा का मुहूर्त नहीं है; राजनीतिक स्तर पर इसे चीनी या पाकिस्तानी हमले से जोड़ने को लेकर भी ज्यादा बहस नहीं है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न बहस है नेहरू की मृत्यु-तिथि से इसका तालमेल बिठाने के सवाल को लेकर। विभाजन का आधार कोई भी घटना मानी जाय, तथ्य यही है कि छठे दशक के साथ एक युगान्त की धारणा पुष्ट हो जाती है, जिसे सुविधा के लिए राजनीतिक भाषा में नेहरू-युग का अन्त कह सकते हैं। साहित्य में इसके समानान्तर जिस प्रकार युग-परिवर्तन की रेखाएँ उभरती हैं उसे केदारनाथ सिंह अपने एक निबन्ध (धर्मयुग, ४ जुलाई, १९६५) में सप्रमाण दिखला चुके हैं, जिसकी पुष्टि आगे चलकर अन्य लेखकों द्वारा भी हुई है। इस युग-परिवर्तन की स्वीकृति निस्सन्देह कुछ लोगों के लिए असुविधाजनक हो सकती है, किन्तु इसकी अस्वीकृति सार्थक साहित्य-सृजन के लिए निश्चित रूप से बाधक हुई—यह पिछली पीढ़ी के बहुत सारे 'समकालीन' लेखन से सिद्ध है। युवा लेखकों द्वारा इस युग-परिवर्तन की घोषणा के पीछे मान्यता प्राप्त करने का कोरा स्वार्थ नहीं, बल्कि अपनी रचना के सही परिप्रेक्ष्य को परिभाषित करने का संघर्ष है। कहना न होगा कि युवा लेखकों ने इस परिप्रेक्ष्य को परिभाषित करने की प्रक्रिया में ही अपने-आपको भी क्रमशः परिभाषित किया और इस प्रकार अपनी भिन्नता और विशिष्टता की अलग रेखा खींची। अपने इस परिवेश से घनिष्ठ और तीव्र रूप में संसक्त होने के अर्थ में ही यह साठोत्तरी पीढ़ी है। इसलिए युवा-लेखन को परिभाषित करने के लिए यह साठोत्तरी संदर्भ अपरिहार्य है।

युवा लेखक के मिज़ाज को समझने का एक तरीका यह हो सकता है कि उसमें सम्मूर्तित आदमी की ठोस तस्वीर से शुरू किया जाय, जैसे कुछ लोगों ने 'लघु मानव' के द्वारा 'नयी कविता' को परिभाषित करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से इतना तो तुरन्त कहा जा सकता है कि, युवा लेखन उस 'लघु मानव' का साहित्य नहीं है। केदारनाथ सिंह ने इस दिशा में एक संकेत दिया है कि "आज के कवि का 'मैं' एकवचन उत्तम पुरुष का 'मैं' न होकर 'हम' की तरह अमूर्त और व्यापक हो गया है। और ऐसा किसी बड़े आदर्श के प्रति आग्रह के कारण नहीं, बल्कि अमानवीकरण की एक बृहत्तर प्रक्रिया के अन्तर्गत अपने-आप और बहुत कुछ कवि के अनजान में ही हो गया है।" कहानियों में यही 'मैं' व्याकरण की दृष्टि से उत्तम पुरुष एकवचन होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से प्रायः अन्य पुरुष एकवचन 'वह' के रूप में आता है। हर हालत में नियामक है अमानवीयकरण की प्रक्रिया। 'महामानव', 'साधारण मानव', और 'लघु मानव' की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए चाहें तो इसे 'नगण्य मानव' भी कह सकते हैं। कविता हो या कहानी—अधिकांश युवा लेखन में निहित मानव में गहरे स्तर पर अपनी नगण्यता का बोध बद्धमूल है। आत्म-दया, असहायता, आक्रोश, जिघांसा, उदासीनता आदि सभी मनःस्थितियाँ इस नगण्यता से ही उत्पन्न और परिचालित होती हैं।

और नगण्यता का यह बोध युवा लेखन के संदर्भ को देखते हुए बेमेल नहीं लगता। यह तथ्य है कि युवा पीढ़ी को न तो आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेने का मौका मिला और न स्वाधीन भारत के निर्माण में योग देने की सुविधा ही मिली। अतीत से बाहर, वर्तमान से बाहर और भविष्य तो अनिश्चित होने के कारण यों भी बाहर है। इस प्रकार युवा पीढ़ी इतिहास से 'बाहर' रही। **'बाहर मैं कर दिया गया हूँ, भीतर पर भर दिया गया हूँ'** निराला की यह पंक्ति जैसे आज के युवक की ओर से ही कही गई है। बाहर कर दिए जाने के कारण ही वह भीतर से भर दिया गया है। यही नहीं, बल्कि वह इतिहास के बाहर रहकर ही इतिहास में हिस्सा भी ले रहा है। इतिहास में वह बाहर से शरीक है। नितान्त 'बाहरी' होने की यह मनःस्थिति युवा लेखन के हर स्तर पर सक्रिय दिखाई पड़ती है। अपने-अपको 'फालतू पुर्जा' और बाकी साथियों को भी एक ही भाग के फालतू पुर्जों का ढेर समझना इसी बोध का सूचक है। जो 'अन्दर' हैं और जो काम में लगे हैं उनकी नज़र में यह स्थिति भले ही अजीब हो, लेकिन जिस राष्ट्र के निर्माण-कार्य में भाग लेने से समूची जनता को बाहर रखा गया हो और जिसमें बेकार तो बेकार, राजकाज की मशीन में काम से लगे पुर्जे भी किसी स्पष्ट उद्देश्य के अभाव में अपने-आपको बेकार समझ रहे हों, यह मनःस्थिति अनपहचानी नहीं हो सकती।

नगण्यता के इस बोध ने जागरूक युवक लेखक को नगण्य-से-नगण्य वस्तु और व्यक्ति को देख सकने की क्षमता दी है। यदि बारीक-से-बारीक ब्यौरे की दृष्टि से युवा लेखन समृद्धतर है तो इसी क्षमता के कारण। इसे यथार्थ-चित्रण और वस्तु-अंकन की दिशा में विकास ही कहा जाएगा। इस लेखन में गली-कूचे, खेत-खलियान के मामूली आदमी अपनी सारी नगण्यता के साथ सजीव रूप में जिस प्रकार आए हैं वह इसी दृष्टि का परिणाम है। वैसे, ये प्रतिमाएँ पिछले प्रगति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079585

शील दौर में भी दिखाई पड़ी थीं किन्तु इनके निर्माण में प्रायः 'दृष्टि' से ज्यादा 'कोण' उभर जाता था। यहां उल्लेखनीय है कि इस प्रवृत्ति का सफल निर्वाह युवा लेखन के अन्तर्गत कहानियों से ज्यादा स्पष्ट कविताओं में है। कहानियाँ वस्तुओं के ब्यौरे में समृद्ध हो सकती हैं, लेकिन मानव-व्यक्तियों की दृष्टि से तो कविताएँ ही अधिक समृद्ध हैं। उदाहरण धूमिल की कविताओं में देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त रघुवीर-सहाय के नये कविता-संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' में भी मँकू, खुशीराम, गिरोश वगैरह जैसे मूर्त व्यक्ति चरित्रों का आना इसी प्रवृत्ति की सूचना देता है। पहले के लेखक जहां सत्य की तलाश में सतह पर तैरने वाली वस्तुओं और घटनाओं को पार करके तल में डुबकी लगाते थे, युवा लेखक तथाकथित सतही वस्तुओं और घटनाओं को ही सत्य की व्यंजकता में समर्थ मानते हैं। पूर्ववर्ती लेखकों के मानस में वेदान्त का मायावाद कुछ इस तरह बद्धमूल था कि उनके लिए "तत्त्व तल से ही निकलता" था तथा "सोने वाली मछली निस्तल जल में ही रहती थी" और प्रयोग का 'मोती' लाने के लिए गोताखोर पनडुब्बा होने की आवश्यकता महसूस होती थी। इसके विपरीत युवा लेखक सतह पर सुलभ वस्तुओं को ही सत्य का वाचक मानता है और इस दृष्टि से युवा लेखन 'सुपरफ़िशलिटी' या 'सतहीपन' का सार्थक साहित्य है। कहने वाले इस आधार पर इसे एकदम 'सतही' और 'सुपरफ़िशल' भी कह सकते हैं और ऐसी व्याख्या के लिए रोक कौन सकता है?

नगण्यता-बोध का प्रभाव युवा लेखन की भाषा पर भी देखा जा सकता है। अनेक कृतियों में नगण्य-से-नगण्य शब्दों से सारी रचना का विधान किया गया है। कभी-कभी शब्दों की उस नगण्यता को 'कृत्रिमता' की हद तक भी पहुँचा दिया जाता है—एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए। यह प्रवृत्ति कविता और कहानी दोनों क्षेत्रों में देखी जा सकती है। इसके साथ ही प्रभामंडित बड़े शब्दों से परहेज भी साफ़ है। निश्चय ही सर्वत्र ऐसा नहीं हो सका है, लेकिन जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ नगण्य शब्दों के ज़रिए भी ऐसे भयावह वातावरण की सृष्टि कर दी गई है जो बड़े-बड़े शब्दों के भी वश से बाहर है। छोटे-से-छोटे शब्द द्वारा बड़ा-से-बड़ा विस्फोटक प्रभाव उत्पन्न करके युवा लेखकों ने दिखला दिया कि साहित्य के अन्दर भी परमाणु युग आ गया। कहते हैं कि युवा लेखकों ने शब्द और अर्थ का सम्बन्ध तोड़ दिया। हुआ यह कि ज़िन्दगी में जिन शब्दों का सम्बन्ध अपने अर्थ से टूट गया था और फिर भी उनके जुड़े होने का ढोंग किया जाता था, उस ढोंग को इन लेखकों ने तोड़ दिया। उन्होंने कुछ पूर्ववर्ती लेखकों की तरह शब्द में नये अर्थ भरने के नाम पर मुलम्मा चढ़ाने का काम नहीं किया। इसीसे भाषा में यथातथ्यता की भी प्रवृत्ति बढ़ी है, यहां तक कि तथ्य ही भाषा बन गया।

'बाहरीपन' के बोध से एक प्रकार की तटस्थता का उदय होता है जो किसी वस्तु को अपने रागबोध से रंजित करके देखने की अपेक्षा वस्तु को उसकी वस्तुमयता में देखने और दिखाने की क्षमता प्रदान करती है। जो हमेशा अपने-अपको 'बाहर' समझने का आदी है वह पूर्ववर्ती लेखकों की तरह अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं को अन्दर से जानने की सर्वज्ञता का भ्रम नहीं पाल सकता। 'बाहरी' व्यक्ति के लिए शेष सभी व्यक्ति और वस्तुएँ 'वह' या 'वे' हैं जिनकी रहस्यमयता को भेदने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। सीमा का यह बोध एक ओर उसके स्वर को निस्संग बनाता है तो दूसरी ओर उसके सृजन को निर्वैयक्तिक रूप भी देता है। नितान्त वैयक्तिक होते हुए भी प्रभाव में निर्वैयक्तिकता युवा लेखन का विचित्र विरोधाभास है। अपने चरम रूप में यह कभी-कभी अमानवीयता का रूप धारण कर लेता है जिसका आभास युवा लेखन की नितान्त निर्ममता या निष्ठुरता में परिलक्षित होता है। इस ठंडेपन को गुण और दोष दोनों की संज्ञा दी जा सकती है। उसे गैर-रूमानी कहने का आधार यही है।

इसी प्रकार 'बाहरीपन' से पैदा होने वाली दूरी वस्तुओं के चित्रण में कभी-कभी ऐसी 'रहस्यमयता' का प्रभामंडल डाल देती है कि वे अनपहचान हो जाती हैं। किन्तु युवा लेखन की यह रहस्यमयता छायावाद अथवा नयी कविता के रहस्यवाद से भिन्न एक प्रकार के भयावह दुःस्वप्न के समान मालूम होती है। युवा लेखन में भयावनी 'फेंटेसी' की प्रवृत्ति इसी रहस्यमयता की सृष्टि है। इस कारण वस्तु-चित्रण में एक प्रकार के अमूर्तन का भी आविर्भाव हुआ है, जिसे कविता से अधिक कहानी में स्पष्ट देखा जा सकता है। अपने विरोध में युवा लेखन जहाँ अमूर्त और सामान्य दिखाई पड़े, बाहरीपन का परिणाम समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में लक्ष्य को ठीक-ठीक विविक्त करने के स्थान पर सरसरी तौर से सबको एक नजर से बुहारने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। युवा लेखन में कहीं-कहीं जो एक ही साँस में सबको नकारने का अन्दाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई पड़ता है, इसी का परिणाम है। नितान्त बाहर होने अथवा अपने-आपको बाहर समझने के कारण व्यक्ति कभी-कभी 'निहिलिस्ट' या नकारवादी हो जाता है, इसीलिए जिस प्रकार संसार से संन्यास लेने वाले साधू सारे संसार को माया एवं सारे सामाजिक सम्बन्धों को निस्सार बताते पाए जाते हैं, उसी प्रकार कुछ युवा लेखक भी सम्पूर्ण सामाजिक संबंधों की निरर्थकता घोषित करते रहते हैं। इस नैतिक अतिवाद की अनिवार्य विडम्बना यह है कि सारी दुनिया को पाप-पंक में सनी कहने के साथ ही वह अपने-आपको भी "मो सम कौन कुटिल खल कामी" कहकर कोसता रहता है। विरोधियों की भर्त्सना से भी अधिक आत्मभर्त्सना की झलक कुछ युवा-लेखकों में स्पष्ट है जो कभी-कभी काव्य के स्तर तक भी पहुँच जाती है।

अपने इतिहास से बाहर रहने के कारण ही कुछ युवा-लेखकों में इतिहास से एकदम बाहर चले जाने की आकांक्षा दिखाई पड़ती है। सम्पूर्ण परम्परा को एकदम नकार देने के मूल में यही आकांक्षा है। उधर भविष्य का दरवाज़ा पहले ही से बन्द है, इसलिए इतिहास से बाहर जाने की चेष्टा अदबदा कर उन्हें 'आदिमपन' में ला छोड़ती है। जब इतिहास एक व्यर्थ का भार है और सभ्यता एक अभिशाप, तो आदिम अवस्था ही काम्य बच रहती है। इस आदिम मनोदशा में सारा संसार जंगल मालूम होता है और सारे आदमी पशु। कवि का मन "चिड़ियों का व्याकरण" सीखने के लिए बेचैन हो उठता है। इसी मनोदशा का एक रूप है "अपनी जड़ों की खोज" जिसका संकेत 'आरम्भ'-२ के इस उद्धरण में देखा जा सकता है : "आज इस वक्त की कविता अपनी जड़ों की खोज की बेचैन कविता है।" इस दृष्टि से युवा लेखन को 'मूलगामी' कहा जा सकता है। शायद हर नई शुरुआत के लिए एक बार जड़ में जाने की ज़रूरत पड़ती है। इतिहास की अभीष्ट व्याख्या करने के लिए मार्क्स ने भी इतिहास से बाहर छलांग लगाई थी और प्रागैतिहासिक साम्यवादी समाज के मूल तत्वों की खोज की; इतिहास के बाहर एक बार अतीत की दिशा में तो दूसरी बार भविष्य की दिशा में; किन्तु उनके पाँव बराबर इतिहास के अन्दर वर्तमान की ठोस ज़मीन पर टिके रहे। 'आदिमपन' की दिशा में युवा लेखन का मूलगामी प्रयास भी बहुत-कुछ वर्तमान का ही सृजनात्मक रूपान्तर है, और इससे सृजन के धरातल पर निश्चय ही नई सम्भावनाएँ व्यक्त हुई हैं।

किन्तु इतिहास से बाहर जाने का एक फ्रायडीय मनोविश्लेषणात्मक प्रयास भी है जिसमें व्यक्ति के शिशु-मन की तथाकथित आदिम अँधेरी गुफ़ा है। युवा लेखन का एक अंश ऐसा भी है जो सीधे फ्रायड से प्रेरित या प्रभावित न होते हुए भी, मन की आदिम अँधेरी गुफाओं से निकलने वाले प्रतीकों और मिथकों में अपने-आपको व्यक्त करता है। इसके मूल में एक विशेष प्रकार की अबौद्धिकता अथवा बुद्धिविरोध है। सामान्य बोध का अतिक्रमण करके कुछ युवा लेखक मानसिक अँधेरे की इसी दृष्टि से आज के संसार को देखते हैं और उसके आधार पर एक भयावह 'फैंटेसी' के संसार की सृष्टि करते हैं। ऐसे लेखन का रूपगठन भी बौद्धिक गठन से भिन्न बहुत कुछ अतार्किक होता है। यह प्रवृत्ति कविता और कहानी दोनों में दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण दूधनाथ सिंह की रचनाएँ हैं।

सेक्स-चित्रण में अतिरिक्त रुचि इसी आदिम मनोदशा का दूसरा परिणाम है। 'एलिएनेशन' अथवा निर्वासन के परिणामों का वर्णन करते हुए मार्क्स ने लिखा है कि " 'निर्वासन' की स्थिति में जब तमाम सामाजिक और मानवीय सम्बन्ध व्यर्थ प्रतीत होने लगते हैं तो जो पाशव है वही मानवीय हो जाता है और मानवीय पाशव। इसलिए सम्भोग की शारीरिक क्रिया-जैसा 'पाशव' कर्म एकमात्र ऐसा कर्म बच रहता है जिसमें निर्वासित व्यक्ति अपने-आपको 'मानव' समझता है अगर्चे स्तर गिरकर पशुता तक पहुँच जाता है।" युवा लेखन में जहाँ नग्न सेक्स-चित्रण दिखाई पड़ता है, उसका रहस्य यही है। इसे व्यावसायिक लेखन की अश्लीलता के साथ गड्ड-मड्ड करना दृष्टि-भ्रम है।

किन्तु सतर्क युवा लेखकों ने निर्वासन की इस आदिम एवं पाशव परिणति से मुक्त होने के लिए पूरा संघर्ष किया है। खुले सेक्स-चित्रण के लिए 'बदनाम' राजकमल चौधरी ने इसी प्रकार के एक अन्य युवतर लेखक श्रीराम शुक्ल को १-७-६६ के पत्र में लिखा था : "स्त्री-शरीर बहुत स्वास्थ्य-प्रद वस्तु है—लेकिन, कविता के लिए नहीं, सम्भोग करने के लिए। कविता में स्त्री-शरीर अन्य सभी विषयों की तरह मात्र एक विषय है—कविता का कारण या कविता का प्रतिफल नहीं, मैं ऐसा ही मानता हूँ।···अब कविता के लिए हमारी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मान्यताएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक आवश्यक विषय हैं। स्त्री-शरीर को राजनीतिज्ञों, सेठों बनियों और इनके प्रचारकों ने अपना हथियार बनाया है—हम लोगों को अपना क्रीतदास बनाए रखने के लिए। बेहतर हो, हम पत्रिकाओं के कवर पर छपी हुई, कैलेण्डरों पर छपी हुई अधनंगी स्त्रियों और अपने पब्लिक सेक्टर और प्राइवेट सेक्टर के मालिकों के लिए हमारा ईमान, हमारा ज़ेहन, हमारी ताकत खरीदकर हमें नपुंसक बनाने वाली अधनंगी स्त्रियों को हम अब अपने साहित्य में उसी प्रकार प्रश्रय नहीं दें, न आत्मरति के लिए और न पर-पीड़ा के लिए! मैं श्लील-अश्लील नहीं मानता हूँ, लेकिन हम कवि हैं, हमें न तो नपुंसक, और न स्त्री-अंगों का वकील बनना चाहिए।" (युयुत्सा, अगस्त '६७, पृष्ठ १८७-८८)

ऐसे साफ़ वक्तव्य के बाद भी सारे युवा लेखन को 'देह की राजनीति' का पर्याय कहने के पीछे और राजनीति ही हो सकती है। स्वयं राजकमल चौधरी को भी ऐसे आरोप का निशाना बनना पड़ा है, लेकिन उनके बारे में ज्यादा सच वह है जो एक दूसरे युवा कवि धूमिल ने कहा है:

जीभ और जाँघ के चालू भूगोल से
अलग हटकर उसकी कविता
एक ऐसी भाषा है (भरोसे की)
जिसमें कहीं भी
'लेकिन', 'शायद', 'अगर' नहीं है
उसके लिए हम इत्मीनान से कह सकते हैं कि वह
एक ऐसा आदमी था जिसका मरना—
कविता से बाहर नहीं है।

जिस नंगे और बेलौसपन के साथ यहाँ एक सच बात कही गई है वह भी कुछ लोगों को 'नंगई' मालूम हो सकती है, लेकिन सच कहने के लिए अनेक युवा लेखकों ने ऐसी नंगई को जान-बूझकर अपनाया है; क्योंकि बड़े-बड़े पहाड़ों को तोड़ने के लिए ऐसे शब्द 'डाइनामाइट' अथवा विस्फोटक का कार्य करते हैं और रचना में मितव्ययिता की दृष्टि से उनका उपयोग आवश्यक है। एक ऐसे विस्फोटक शब्द को वर्जित मान लेने के बाद जब दूसरे शब्दों का सहारा लिया जाता है तो यही नहीं कि कलात्मक दृष्टि से रचना अनावश्यक रूप में पसर जाती है बल्कि मूल कथ्य भी बदल जाता है और कभी-कभी वह सच सच भी नहीं रह जाता। किन्तु उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि युवालेखन में कहीं-न-कहीं "जीभ और जांघ का चालू भूगोल" भी है, जिसे अनायास ही कुछ-एक 'अकवियों' में देखा जा सकता है।

वैसे, सेक्स-नैतिकता के मामले में सामान्यतः आज के युवा लेखक पूर्ववर्ती पीढ़ियों की तुलना में अधिक वर्जना-मुक्त हैं। युवा लेखकों के इस दावे में काफी सचाई है कि उनमें अपने पूर्वजों का-सा ढोंग नहीं है। औरों ने जो किया लेकिन कहा नहीं, उसे स्वीकार करने का साहस आज के युवक में है क्योंकि वह ढोंग को अनैतिक कार्य-विशेष से भी अधिक अनैतिक मानता है। अतिरिक्त साहसिकता और आत्म-प्रदर्शन के बावजूद यह मानसिक खुलापन कुल मिलाकर साहित्य के लिए स्वास्थ्यप्रद है।

लेकिन जैसा कि राजकमल चौधरी के उस पत्र से स्पष्ट है, आज की स्थिति में युवा लेखक स्त्री-शरीर की अपेक्षा देश और संसार की राजनीतिक-आर्थिक समस्याओं को साहित्य-सृजन के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इसी दृष्टि से आज की कविता 'नयी कविता' से कहीं अधिक 'राजनीतिक' है। जिन भारत-व्याकुल लोगों की नज़र में चीनी और पाकिस्तानी खतरा ही सबसे बड़ी समस्या है और इस दृष्टि से जो युवा लेखकों से देशभक्ति के उद्‌बोधन गीतों की अपेक्षा रखते हैं, उनके लेखे युवा लेखन निश्चय ही देश-द्रोही है। लेकिन राजनीति को व्यापक अर्थ में लेने वाले देख सकते हैं कि युवा लेखक कहीं अधिक मूलगामी या 'रैडिकल' है—उग्रवाद की सीमा तक। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के अकाल पर युवा लेखकों ने जो सशक्त रचनाएँ कीं उनसे युवा लेखन की जागरूकता ही नहीं बल्कि दूसरी पीढ़ी के लेखकों से उनकी विशिष्टता भी स्पष्ट हुई है। इस दृष्टि से लखनऊ से निकलने वाली लघु-पत्रिका 'आरम्भ' का अकाल-अंक एक मिसाल ही नहीं, चुनौती है।

अपनी बाहरी स्थिति के कारण अधिकांश युवा लेखक राजनीतिक पार्टियों और राजनीतिक मतवादों से भी बाहर हैं यहाँ तक कि कभी-कभी उन सबको निकम्मा भी कह बैठते हैं, किन्तु "आज की तीव्रतम राजनीतिक स्थिति और उसकी सारी तार्किक परिणतियों को अपनी नितान्त व्यक्तिगत और छोटी-से-छोटी अनुभूतियों के साथ सम्बद्ध कर लेने" का प्रयास निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार राजनीति युवा लेखन में 'ज्वलन्त प्रश्नों' और बड़ी-बड़ी घटनाओं के निर्वैयक्तिक वर्णन के रूप में नहीं, बल्कि रोजमर्रा के व्यक्ति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गत अनुभवों के बीच से निकलती हुई-सी व्यक्त हुई है और इस दृष्टि से वह चौथे दशक की सामान्य राजनीतिक कविताओं से प्रकृत्या भिन्न है। चौथे आम चुनाव के बाद देश में जो राजनीतिक विकल्प प्रकट हुआ उसने इस दिशा में युवा लेखन को और भी जागरूक कर दिया है। साथ ही वियतनामी जनता के मुक्ति-संघर्ष में युवा लेखकों ने जैसी दिलचस्पी ली है उससे स्पष्ट है कि वह अपनी राजनीतिक दृष्टि में नितान्त स्थानीय नहीं, बल्कि विश्व की व्यापक गति-विधियों के प्रति भी पर्याप्त संवेदनशील है। इस सन्दर्भ में कभी-कभी युवा लेखकों की 'प्रतिबद्धता' का प्रश्न भी उठाया जाता है। इस मामले में सभी युवा लेखकों की स्थिति एक-सी नहीं है; किन्तु एक बात स्पष्ट है कि पिछली पीढ़ी के कुछ व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी लेखकों के समान इस पीढ़ी में एक भी लेखक अन्ध-कम्युनिस्ट-विरोधी तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रूस के विरुद्ध अमरीका के साथ रागात्मक सम्बन्ध रखने वाला नहीं है। युवा लेखक सामान्यतः वामपक्षी राजनीति के हिमायती हैं और कुछ तो किसी-न-किसी वामपक्षी दल से सम्बद्ध भी हैं, लेकिन अधिकांश में प्राक्-प्रतिबद्धता (प्रि-कमिटमेंट) है, उन्होंने अप्रतिबद्धता (नॉन-कमिटमेंट) का अन्तिम निर्णय नहीं कर लिया है।

अप्रतिबद्धता प्रायः मोहभंग की उपज है, जिसकी बहुलता पिछली पीढ़ी के लेखकों में पाई जाती है। युवा लेखन मोहभंग का साहित्य नहीं है। युवा लेखकों ने कभी कोई मोह पाला ही नहीं जो उसका भंग होता। वह तो मोहभंग के बाद के वातावरण की उपज है, इसलिए न तो उस रूप में 'रोमांटिक' है और न उस रूप में 'एंटी-रोमांटिक'। उसकी तल्खी का रंग ही और है। जहाँ तक युवा लेखकों की 'प्राक्-प्रतिबद्धता' के विकास की दिशा का सम्बन्ध है, उसके बारे में इतना तो स्पष्ट है कि ऐतिहासिक विकास के समानान्तर उनमें भी एक निश्चित प्रकार की स्पष्टता और दिशोन्मुखता आ रही है। शुरू में जो चेतना एक तथाकथित 'इस्टैब्लिश-मेंट' के विरुद्ध अस्पष्ट से असन्तोष के रूप में मुखर हो रही थी वह अब प्रतिष्ठित सत्ता के आधारों को विविक्त करने लगी है। पिछले दशक में युवकों को जिस प्रकार राजनीति से बाहर रखने की मिली-जुली साजिश की गई और वामपंथी दलों ने भी युवकों के प्रति जैसी उदासीनता दिखलाई उसे देखते हुए युवा लेखकों की इतनी जागरूकता भी ग़नीमत है।

इस प्रकार युवा लेखन जिस 'बोध' के आधार पर निर्मित हुआ है वह वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक स्थिति के सम्मुख बहुत-सी मनोगत सीमाओं के बावजूद वस्तुस्थिति को यथासम्भव साहस के साथ देख सकने का आभास देता है। "मानवीय नियति का साक्षात्कार" और "वास्तविकता का नगे बदन संस्पर्श" की आवाज़ इसी दौर में उठाई गई और उस दिशा में प्रयास भी किया गया है। समाजशास्त्रीय 'वस्तुनिष्ठ' औज़ारों से आज की स्थिति को देख सकने में समर्थ विद्वानों को युवा लेखन का संसार एकांगी, अधूरा, कुछ विकृत, कुछ अतिरंजित भी लग सकता है किन्तु इतना निश्चित है कि वह आदर्श-रंजित नहीं है। एक विशेष कोण से देखे जाने के कारण परिप्रेक्ष्य में अन्तर हो सकता है, लेकिन रोशनी की तेज़ी में कमी नहीं है। यह तेज़ी ही युवा लेखन की शक्ति है, और वैचारिक प्रतिज्ञाओं का ढाँचा गिर जाने के बाद भी सर्जनात्मक कृतियों को कायम रखती है। युवा लेखन का रचना-संसार निस्सन्देह बेहद खूं-खार, भयावह और अजनबी है, किन्तु अपनी सृजनशीलता के द्वारा वह यह भी व्यंजित कर देता है कि यह यथार्थ नहीं बल्कि यथार्थ का 'कलात्मक भ्रम' है और यह मायावीपन ही उसकी कलात्मकता का रहस्य है।

युवा लेखन कविता और कथा दोनों विधाओं में समान रूप से व्यक्त होने वाला एक समेकित आन्दोलन है, पिछले युग के नवलेखन के समान 'नयी कविता' में कुछ और तथा 'नयी कहानी' में कुछ और जैसा विभक्त एवं खंडित युगबोध नहीं। यह समग्रता उसकी विशेषता है। युवा लेखन 'प्रयोग-वाद' की तरह न तो शिल्पगत प्रयोग का आन्दोलन है और न 'नयी कविता' की तरह अनुभूतियों की अद्वितीयता का आग्रह। यह "परिस्थिति की तात्कालिक भाषा" है जिसे युवा लेखक इतिहास में अपनी विशेष 'स्थिति' के कारण पकड़ने में समर्थ हो सके। युवा लेखन का महत्त्व 'अवां गार्द' होने में नहीं है—'अवां गार्द' होने की दिशा में उसका प्रयास भी नहीं है। 'समकालीनता' उसकी सार्थकता है और सम्भवतः नियति भी। इस 'ऐतिहासिक' अभियान में जो 'साहित्यिक' उपलब्धि हुई है उसका अनुमान सिर्फ इस बात से लगाया जा सकता है कि 'अकविता' और 'अकहानी' तक की धज्जियाँ उड़ाने वाले भी इनकी कमजोरियाँ तो गिना देते हैं लेकिन वहीं इनके समानान्तर 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' को बेहतर साबित करने का साहस नहीं जुटा पाते। इस लेखन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सामाजिक स्थिति भले ही न बदली हो, साहित्यिक स्थिति निश्चय ही बदल गई है, जिसका प्रमाण यह है कि पूर्ववर्ती लेखक भी इसी भाषा में बोलने का प्रयास करने लगे हैं। यह छायावाद की शक्ति थी कि मैथिलीशरण गुप्त भी 'झंकार' लिखने के लिए विवश हो गए थे। युवा लेखन ने भी बहुतों को मैथिलीशरण बनने के लिए बाध्य कर दिया है। जरूरी नहीं कि इतिहास को इसी तरह दोहराया जाए। अपनी जगह से भी एक वास्तविकता का साक्षात्कार तो किया ही जा सकता है। लेकिन इससे भी आगे बढ़कर जो युवा लेखन के विकास में सक्रिय भाग लेना चाहते हैं और केवल मुहावरे में नहीं बल्कि सच्चे मन से युवकों को भविष्य मानते हैं और उस भविष्य के निर्माण की चिन्ता करते हैं उनके लिए एक युवा-कवि धूमिल के ये शब्द :

तुम मेरी चिन्ता मत करो। उनके साथ
चलो। इससे पहले कि वे
गलत हाथों के हथियार हों
इससे पहले कि वे नारों और इश्तिहारों से
काले बाजार हों
उनसे मिलो। उन्हें बदलो।

●

तथाकथित साठोत्तरी पीढ़ी : एक ऐतिहासिक संदर्भ

लक्ष्मीकान्त वर्मा

साहित्य के जितने आन्दोलन विकसित होते हैं उनमें कहीं-न-कहीं एक प्रवृत्ति अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रवृत्ति को नकारने की होती है। दूसरे शब्दों में नितान्त समकालीन नितान्त समसामयिक को अस्वीकार करके ही चलता है। इस अस्वीकृति में केवल प्रतिक्रिया ही नहीं होती वरन कुछ मौलिक अनिवार्यता भी होती है जो कथ्य और तथ्य दोनों स्तरों पर पूर्ववर्ती प्रवृत्ति से भिन्न होने के साथ-साथ मूल्यों के स्तर पर भी भिन्न होती है। साठोत्तरी पीढ़ी का बहुत-कुछ विद्रोह ऐसा ही है। उनकी पूर्ववर्ती पीढ़ी अपनी **स्वप्नभंग** की मनःस्थिति में जिस प्रकार **आत्मरति** और **रागात्मक ऐश्वर्य** के ऊहापोह में डूबी थी, वह स्वतः यह घोषित करती है कि स्वातंत्र्योत्तर मानस के खण्डित स्वप्नों और एक-एक कर टूटते भ्रमों के बीच रह-रहकर एक ऐसा रेगिस्तान पनप रहा है जिसमें संवेदनाओं की मार्मिकता और भावबोध की भिन्नता दोनों ही एक अजनबीपन का बोध देने लगते हैं। गत बीस वर्षों में यह रेगिस्तान, यह अजनबीपन, यह काठ के चेहरों से घिरे होने की विवशता और आत्मसाक्षात्कार की पाषाणी अवरुद्धता बढ़ी है। नयी कविता जो मूलतः स्वातंत्र्योत्तर की प्रवृत्ति रही है वह काफी सीमा तक केवल **स्वप्नभंग** की स्थिति को **अपराजेय विवशता की आत्महीनता और आत्मकरुणा** तक ले जाकर मौन हो गई। जिस अपराजेय विवशता की व्याख्या को वह व्याख्यायित करने में लगी रही उसमें वह स्वयं घिरी तो थी लेकिन उसका कलात्मक पलायन कहीं और था, इसलिए वह उस विवशता को अपने स्वप्नभंग से जोड़कर उस स्थिति की अनिवार्य विषमताओं एवं विसंगतियों से उबर जाती रही है।

यही कारण है कि नयी कविता का आग्रह विद्रोह का तो है लेकिन वह विद्रोह केवल एक काव्यगत विद्रोह है, शब्दों के प्रति विद्रोह है, प्रतीकों और बिम्बों के प्रति विद्रोह है; किन्तु जहाँ वह सम्पूर्ण परिवेश की गहनता के प्रति विद्रोह की बात करती है वहाँ उसकी परिणति या तो शमशेर के रूप में होती है या साही या भारती के रूप में होती है जो केवल 'वामपंथ' का दिवास्वप्न या 'छापामार दस्तों' के बिम्ब या अश्वत्थामा की आत्मपीड़ा (Self Torture) को मार्क्स, कृष्ण और रहस्य की परिधि में आत्मसमर्पण कराने के बाद सन्तुष्ट हो जाती है। कुंवर नारायण की प्रतिभा भी 'आत्मजयी' में बार-बार जिस मृत्यु और जीवन की बात करती है वह पुनः एक आत्मसमर्पण के नये बहाने की खोज की बेचैनी है—वह भी मृत्यु का साक्षात्कार न होकर मृत्यु-जैसी किसी चीज से परिचय-मात्र का बोध देती है। दूसरे शब्दों में नयी कविता और प्रयोगवाद को यह अवसर था कि वह पूरी स्थिति को एक अपराजेय विवशता का नाम देकर स्वयं मुक्त हो जाए। इस दृष्टि से तथाकथित साठोत्तरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीढ़ी—जो स्वप्नभंग की स्थिति में जन्मी और अपराजेय विवशता के बीच बढ़ी और पनपी—नयी कविता की पीढ़ी से अनेक अर्थों में भिन्न है। सबसे बड़ी भिन्नता यही है कि उसे इस पूरी विषम स्थिति का भोक्ता होकर जीना पड़ रहा है। उसके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं है। उसके मन और संकल्प को यह अवसर है ही नहीं कि वह स्वप्नभंग की स्थिति को स्वप्नभंग के रूप में ले। जो हमारे लिए स्वप्नभंग की स्थिति है वह उनके लिए कठोर सत्य है, कटु संस्कार है, न बदल सकने वाली स्थिति है।

●

मैं समझता हूँ साठोत्तरी पीढ़ी का अधिकांश साहित्य एक भिन्न स्तर का ही नहीं **सर्वथा नए सन्दर्भ का साहित्य** है। यह पूरा साहित्य उस पीढ़ी का है जो अपराजेय विवशता की स्थिति में जन्मी है और आज भी उसी विवशता को भोग रही है। उसके लिए 'विवशता' या 'विसंगति' या 'विघटन'-'आतंक' अनुभव नहीं जीवित संस्कार है। उन्हें स्वप्न-मोह कभी हुआ ही नहीं, इसलिए वे स्वप्नभंग की वेदना को भी नहीं जानते। वे विवशता को अपनी नियति का अनिवार्य अंश मानते हैं इसलिए वे इतिहास के किसी खंड के प्रति विद्रोह करने के बजाय सम्पूर्ण इतिहास से विद्रोह करते हैं, किसी स्थिति-विशेष के प्रति नहीं वरन् पूरी मानव-सभ्यता में जो एक काठ-जैसा बेडौलपन है उसे स्वीकार करके, उसकी अनिवार्य परिणतियों को स्वीकार करके उसके नतीजे से कतराने के बजाय उनको उधेड़कर रख देना चाहते हैं। युद्ध, शान्ति, सौन्दर्य, वर्जना, संस्कृति, समाज, प्रतिबद्धता, गति, अवरोध, विरोध, समर्थन, प्रेम, सहवास, रति, शृंगार, ये सारे-के-सारे शब्द उनके निकट एक दबाव के रूप में आते हैं, क्योंकि युद्ध से उनके पिता की पीढ़ी सम्बद्ध थी। वे आज उनके परिणामों को केवल साठोत्तरी पीढ़ी का होने के नाते भोग रहे हैं, शान्ति का उनके निकट कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वे शीत युद्ध के युग में जन्मे, पनपे और बड़े हुए हैं, यौन का, सौन्दर्य का उन्होंने एक नग्नता के सन्दर्भ में ही अनुभव किया है, क्योंकि नैतिकता केवल वर्जना के रूप में ही उन्हें मिली है। संस्कृति को उन्होंने औपचारिकता और प्रदर्शन के रूप में ही अनुभव किया है। समाज से केवल उन्हें एक भीड़ का बोध होता है, इससे आगे वे उसे कुछ भी अर्थ देने में असमर्थ हैं। प्रतिबद्धता उनके लिए निरर्थक-सी लगती है, क्योंकि वह जिस भी वस्तु को सार्थकता की दृष्टि से देखती है, आज की विसंगतियों के बीच वह फीकी लगती है। गति का भी अर्थ आज खो गया है क्योंकि जिस गति से हमारे देश में योजनाएँ चली हैं, या विश्व के स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ से लेकर अन्य जितनी भी परिकल्पनाएँ विकसित हुई हैं, उनकी अनिवार्य असमर्थता के सामने गति का कोई अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। और तब अवरोध का भी अर्थ-बोध कैसे हो? और तब उसके सामने ये सारे शब्द केवल ठीकरे-से ऐतिहासिक स्तर पर 'टेराकोटा' के टुकड़े-से लगते हैं और वह स्वयं एक ऐसी भीड़ के बीच दबा हुआ-सा पाता है जिसके पास न तो व्यवस्था है और न अनुशासन। प्रत्येक व्यवस्था एक अव्यवस्था और प्रत्येक अनुशासन केवल स्वेच्छाचार ही लगता है। ऐसी दशा में वह जो कुछ भी ग्रहण करता है वह उपेक्षा है और जो कुछ अस्वीकार करता है वह 'टेराकोटा' के टुकड़े हैं जो बार-बार एक बौछार के रूप में उसके ऊपर फेंक दिये जाते हैं ताकि वह उनसे जूझे, लड़े या 'यथास्थितिवादिता' के रूप में स्वीकार करके स्वतः जड़ हो जाए। प्रतिक्रिया का आज अर्थ ही बदल गया है इसलिए यथास्थितिवादिता और उसके सारे सन्दर्भ भी टूट गए हैं। वस्तुतः सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही इसका कोई महत्त्व हो सकता है। आज क्रान्ति का अर्थ भी इसलिए खो गया है। कभी-कभी वह एक पुरानी दुनिया का शब्द लगने लगता है क्योंकि गत बीस वर्षों के इतिहास में यदि कोई शब्द आवश्यकता से अधिक गलत समझा गया है तो वह क्रान्ति है, समाज है, और उसी के साथ-साथ समाजवाद है। क्रान्ति का अर्थ Defection और समाज का अर्थ यथास्थितिवाद के साथ-साथ शोषण का यंत्र हो गया है। फिर मूल्यों की क्या बात है? यदि कोई कहता है कि मूल्य का कोई अर्थ नहीं है, मूल्यहीन होना ही सार्थकता है तो इसमें आश्चर्य क्या है? कौनसे मूल्य आज स्थिर हैं? लेकिन यह जो अस्थिरता है यह भी मूल्यवान हो सकती है यदि वह किसी के प्रति होती। आज तो अस्थिरता एक प्रकृति बन गई है। ऐसी दशा में जो पीढ़ी आज उग आई है उसकी संवेदना को बिना समझे नकार देना, मैं समझता हूँ, सबसे बड़ा अन्याय है। मैं यह भी नहीं मानता कि यह पूरा-का-पूरा आन्दोलन, चाहे वह भूखी पीढ़ी का हो या अकविता का या युयुत्सावादी कवियों का, इन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेश की नकल कहकर भी नकारा जा सकता। ये आन्दोलन उतने ही भारत की भूमि से उपजे हैं जितने कि अन्य आन्दोलन। सौन्दर्यशास्त्रीय माध्यम से विचार करने पर हो सकता है इसमें सृजनात्मक कमज़ोरियाँ हों; हो सकता है इनमें कुछ अंश ऐसा हो जो अधकचरा हो या अधूरा हो, लेकिन यह एक दूसरी बात है जिसको शास्त्रीय और वैज्ञानिक आलोचना के आधार पर परखने की ज़रूरत है। लेकिन इस विवेचन में सफल और असफल होना ही आँका जा सकता है। प्रयास और प्रयोग के रूप में तो इनका अस्तित्व रहेगा ही। आज बहुत-से साहित्यिक आन्दोलनों को हम सफल या असफल मानते हैं लेकिन इससे उन आन्दोलनों के अस्तित्व से न तो इनकार कर सकते हैं और न करना बौद्धिक ईमानदारी ही होगी। इस तरह हम भी हर नये आन्दोलन पर वैसा ही आरोप लगायेंगे जैसा कि छायावादी कवि या आलोचक नयी कविता या प्रयोगवाद के प्रति करते रहे हैं। वस्तुतः इस सम्पूर्ण स्थिति को एक दूसरे ही पहलू से देखने की आवश्यकता है।

●

समसामयिक मनःस्थिति पर विचार करने के साथ-साथ जो तीन-चार बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं वे यह हैं कि पिछले बीस वर्षों में यदि किसी चीज़ का विकास तेज़ी से हुआ है तो वह हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन की विसंगतियाँ हैं। हमारे सामने जो नैतिक मूल्य आज से बीस वर्ष पहले थे वे एकदम झूठे पड़े हुए-से दिखते हैं। जो वैध या अवैध की दृष्टि थी वह भी चुकी हुई लगती है। नित्य-प्रति वैध को अवैध के रूप में बदलते हुए हम देखते हैं और उनके साथ सहअस्तित्व स्थापित करके शान्त हो जाते हैं। 'फ़ेयर प्राइस शॉप' आज से दो महीने पहले के अवैध मूल्य और काले बाज़ार को वैध की सील-मोहर लगाकर प्रस्तुत करने की एक अनवरत प्रक्रिया है जो 'अनफ़ेयर' को पनपाती रहती है। आज वैधानिक और संवैधानिक मूल्य भी क्या है? हमारे जीवन की सबसे मूल्यवान संस्थाएँ विधान सभा या संसद आज जिस प्रकार वैध या अवैध के दौर से गुज़र रही हैं उसी से हम पूरे राष्ट्र के मानस का अनुमान लगा सकते हैं और यह देख सकते हैं कि वास्तविक विसंगतियाँ, विघटन और विस्फोटक परिस्थितियाँ कितनी मार्मिक, गहरी और दर्दनाक रूप में हमारे सामने विद्यमान हैं। इनसे बचने की कोई गुंजाइश नहीं है और न यही है कि इनको स्वीकार करके जीवन की कोई क्रिया-प्रतिक्रिया ही व्यक्त की जा सकती है। वस्तुस्थिति यह है कि एक अनहोने के होने की विसंगति मात्र है जिसके हम केवल साक्षी-भर हो सकते हैं। आज का कवि केवल इन स्थितियों का साक्षी और भोक्ता-मात्र है।

यह एक विसंगति की स्थिति है किन्तु इस विसंगति का बोध या इसकी जागरूकता ही इस अवरुद्धता से निष्कृति पाने का मार्ग है। लोगों ने राजकमल चौधरी या भूखी पीढ़ी या अकविता में व्यंजित यौन-सम्बन्धी विसंगतियों की ओर ध्यान दिया है। उन्होंने इन विसंगतियों के बीच जो सुलगता विद्रोह, असन्तोष और अस्वीकार है उसे नहीं देखा है। चन्द्रकान्त देवताले, मोना गुलाटी, सौमित्र मोहन, कमलेश, धूमिल और इसी प्रकार के अन्य कवियों में जो अस्वीकार की तीव्रतम व्यग्रता है, उससे उपजा हुआ जो असन्तोष है उस पर ध्यान नहीं दिया है। यही कारण है कि प्रायः इन आन्दोलनों के पीछे जो बौद्धिक बेचैनी और पीड़ा है वह हमसे छूट जाती है। हम उनमें अपने बिम्ब, अपनी शब्द-योजना, अपनी दृष्टि ढूँढने की चेष्टा करते हैं और जब वह नहीं मिलता तो सबको नकारने की कोशिश करते हैं। ऐसा नहीं है। इन सब कवियों की प्रकृति में कहीं यथास्थिति के प्रति विद्रोह की भावना है। वह आज के परिवेश में जो पत्थर-जैसा दबाव और जमाव है उन सबको काट फेंकना चाहते हैं या उनकी अवहेलना करके भी जीने के तरीकों की बात सोचते हैं। उनके सोचने के तरीकों में भेद हो सकता है, जैसा कि है, लेकिन यह सोचने का भेद मूल अस्वीकार या विद्रोह की भावना को नहीं नकारता। उनसे स्पष्ट यह व्यंजित होता है कि आज के ठहराव के प्रति इन कवियों में एक गहरा आक्रोश है। यह आक्रोश ही इनकी सम्पूर्ण सृजनशीलता का केन्द्र है। यह कहना और बात है कि इस आक्रोश का सृजनात्मक उपयोग इनके साहित्य में कितना हुआ है? इनकी असफलता के क्या कारण हैं? इनका मानसिक विद्रोह कितना गहरा है? इनकी अभिव्यक्ति कितनी सीमा तक सौन्दर्यात्मक उपलब्धि प्राप्त कर सकी है? लेकिन यह पूरे साठोत्तरी आन्दोलन को आँकने का एक दूसरा पहलू है। पहले हमें इस मूलस्थिति को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ये सारे कवि नयी कविता से भिन्न हैं, प्रयोगवाद से भिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यह भिन्नता भी दो प्रकार की है। एक तो शुद्ध रोमानी दृष्टि के कारण कुछ कवि और लेखक छायावादी मानसिकता के निकट चले जाते हैं और कुछ इसी विद्रोह को अति यथार्थवादी रूप देकर 'युयुत्स' स्वर को तीव्र करते हैं। इन स्थितियों का विश्लेषण अलग से करना ही उचित होगा। यहां इतना ही स्वीकार करना पर्याप्त है कि ये कवि और लेखक नयी कविता और प्रयोगवादी मानस से पृथक् हैं। इन्होंने अपनी पृथकता स्थापित भी कर ली है।

यहीं इसकी भी आवश्यकता है कि समूचे आन्दोलनों की वास्तविक स्थिति का भी मूल्यांकन किया जाए। जैसा मैंने ऊपर कहा है कि इस पूरे-के-पूरे आन्दोलन ने भाव-बोध, शब्दचयन, मुहावरे, भाषा, विम्ब-योजना आदि में अपनी भिन्नता तो स्थापित कर ली है, लेकिन यह सब हो जाने के बावजूद इसमें अधिकांश ऐसा है जो अधकचरा है, अधूरा है और अभिव्यक्ति के स्तर पर केवल 'रिटारिक' होकर रह गया है। मात्र भिन्नता अपने में कोई मूल्य नहीं है, न ही वह अपने-आपमें कोई उपलब्धि ही है। वह केवल एक स्थिति-बोध है जो केवल एक प्रकार के संक्रमण की पुष्टि करता है। इस संक्रमण से हम अलगाव भी पहचान लेते हैं। यह भी समझ लेते हैं कि कवि और लेखक एक भिन्न धारा के हैं, लेकिन यह भिन्न धारा कहां से भिन्न होती है, यह अलगाव क्यों है? इसकी प्रकृति क्या है? मूल्यों का धरातल है या नहीं? यदि नहीं है तो उसके कारण क्या हैं? क्यों हैं? ये कुछ प्रश्न हैं जो एक साथ दिमाग में उठते हैं और हमें झँझोड़ने लगते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर मुझे लगता है कि यह पूरा साहित्य एक भीड़ का साहित्य है। इसका पूरा भाव-बोध एक भीड़ के वृत्त में फँसे मानस की अकुलाहट है। इसकी सारी शब्द-योजना इसी भीड़ के बीच से उभरती हुई चीख है जो अलग-अलग स्तरों से अपने-आपको पहचानने की प्रक्रिया में उभरी है। कहीं-कहीं यह बिलकुल 'स्ट्रीट आर्चेन' की चीख-जैसी लगती है। शब्दों का इस्तेमाल ढेले के समान किया गया है। बिम्बों को रद्दी कूड़े-कचरे के समान उछाल दिया गया है। नये मुहाविरों की तलाश में प्रचलित मुहाविरों को उलट-पुलटकर प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। सारी रचनाओं को पढ़ने और समझने के बाद ऐसा लगता है कि हम सब ऐसे आईनों से घिरे कमरों में बन्द हैं जहां जिस किसी दशा में भी अपना सिर उठाते हैं उधर अपनी ही शक्ल ऐंची,-बैंची, तिरछी-टेढ़ी लगती है। तनाव, संघर्ष, टूटते हुए हाशिये, घिसते हुए कन्धे, खिंचे हुए चेहरे, भिंची हुई मुट्ठियां, चढ़ी हुई आँखें, और सार्थक गालियों जैसे शब्द—ये सारे-के-सारे जैसे जिस्म को छीलते हुए निकल जाते हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि इन शब्दों, मुहावरों से कतराकर चला जाना ही उचित है। लेकिन शायद इनसे कतराकर निकल जाना असंभव है, क्योंकि ये चाहे जितने निरर्थक-से क्यों न लगें, ये कहीं गहरे पैठते भी हैं और एक साथ कई प्रश्न-चिह्न भी अंकित करते हैं। वे प्रश्न-चिह्न मूलतः सामाजिक भी हैं, वहीं कहीं वैयक्तिक भी हैं, कहीं ये सामूहिक हैं, कहीं केवल सांस्कृतिक, कहीं परम्परा की ओर उन्मुख हैं तो कहीं ये इतिहास पर ही चोट करते हैं, कहीं वर्जनाओं को तोड़ते हैं तो कहीं एक नयी वर्जना के जाल में स्वतः फँस भी जाते हैं। वस्तुतः विसंगतियों के बीच ये एक प्रकार के Chaos को व्यक्त करते हैं। यदि ये केवल Chaos को ही व्यक्त करके रह जाते तो भी गनीमत थी। स्थिति मूलतः इस Chaos में पश्चात्ताप की है। इसको व्यवस्थित करने की बेचैनी भी है, कहीं-कहीं वह इच्छा-शक्ति भी दीख पड़ती है जो इस जमाव वाली स्थिति से टक्कर लेने के लिए उद्धत है। इससे भी अधिक कहीं-कहीं विद्रोह की उत्तेजना भी है, नई कविता के 'हाई-टेम्पो' के स्वर भी हैं, और मूर्ति-भंजन ही नहीं सम्पूर्ण परिवेश को तोड़कर सांस लेने का संकल्प भी है। ऐसी स्थिति में विसंगतियाँ मात्र विसंगतियाँ नहीं रह जाती हैं। वे किसी मूल्य की सापेक्षता में विसंगतियां होती हैं। यह वस्तु-सत्य भी है। विसंगतियाँ संगति के सन्दर्भ से ही उपजती हैं, यदि संगति की धारणा नहीं हैं तो विसंगतियों का कभी जन्म ही नहीं होगा। प्रतिष्ठिति के अभाव को ही विसंगति कहा जा सकता है। फिर विसंगतियों के प्रति विद्रोह का क्या अर्थ है? क्या इनके प्रति विद्रोह का अर्थ पुरानी संगतियों, मान्यताओं और प्रतिष्ठाओं को पुनः स्थापित करना है या कुछ नयी स्थापनाओं को जन्म देना है? स्पष्ट है कि ये कवि एक साथ विसंगतियों और प्रतिष्ठित मूल्यों दोनों के प्रति अपना विद्रोह व्यक्त करना चाहते हैं। दोनों के प्रति विद्रोह का अर्थ एक तीसरे प्रकार की व्यवस्था को जन्म देना है। और तब जो मूल प्रश्न बार-बार उभरकर आता है वह यह कि क्या अभी तक की रचनाओं में इन कवियों और लेखकों को किसी मूल्य-विशेष को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित करने का प्रश्न नहीं दीखता था। यह बेचैनी मात्र इन कवियों की ही नहीं है। यह बेचैनी इस पूरे युग की है और जब यह पूरे युग की बेचैनी के रूप में प्रस्तुत होती है तो इसके कुछ गम्भीर नतीजे निकलते हैं :

पहली बात जो मेरे सामने उभरकर आती है वह नयी कविता की अपराजेय विवशता और स्वप्नभंग में आत्मरति की सीमा से निकलकर विसंगतियों को वस्तुपरक रूप में देखने की है। मोना गोलाटी जब अपने वक्तव्य में यह कहती हैं कि "अपने अस्तित्व का सन्देहास्पद स्थिति में गुब्बारे की भाँति फूलना मुझे हास्यास्पद लगता है। आत्मस्थ होते हुए स्वयं को खोजने के प्रयास में मैंने अँधेरे खोल में बैठकर पूरे शरीर में नुकीली कीलों से छेद कर लिए हैं, लेकिन निष्प्राण परिस्थितियों की यन्त्रणा न किसी व्यक्तित्व का प्रसव करती है और न ही आवश्यक रूप से वह किसी को भी बौद्धिक या अबौद्धिक घोषित करती है।"

स्पष्ट है कि यह पूरी संवेदना समस्त विघटन और विसंगतियों को नितान्त वैयक्तिक से वस्तुपरकता की ओर ले जाती है। इस स्थिति के कुछ अच्छे परिणाम भी निकल सकते हैं, लेकिन यदि यह केवल एक 'मैनरिज़्म' के रूप में है तो यह पतनशील भी हो सकता है। यहाँ मुझे केवल पृथकत्व ही दीखता है। यह पृथकत्व निश्चय ही स्तर का नहीं सम्पूर्ण भावबोध का भी है।

दूसरी बात जो इसी से निकलती है, वह है सम्पूर्ण भाषा के गठन की, एक दूसरे स्तर पर नियोजित करने का प्रयास। इसकी एक सशक्त अभिव्यक्ति मुझे चन्द्रकान्त देवताले के वक्तव्य में मिलती है जहाँ वह कहते हैं—"मतलब जहाँ हर चीज़ व्यक्तिगत धरातल से लेकर सार्वजनिक धरातल तक बेहद गड़बड़ है वहाँ आप मुझसे किस भाषा का इस्तेमाल करने के लिए कहना चाहते हैं···? मैं हूँ सिर्फ़ मैं, मृत अहं और लाचार ईमानदारी के साथ मुझे खुद अपनी भाषा तलाशनी है—और यह जानते हुए भ्रष्ट परिवेश में व्यर्थ हो गई है कविता, मुझे उसी में मरना है।"

मैं पिछले कई वर्षों से काव्य-भाषा की इस स्थिति के प्रति जागरूक रहा हूँ और मुझे लगता रहा है कि कहीं आज की काव्य-भाषा संवेदनाओं के अनुकूल नहीं आ रही। शब्दों के सन्दर्भ बदल चुके हैं। अर्थों का लोप हो चुका है। मूल्यों की विसंगतियाँ बढ़ रही हैं, इसलिए चन्द्रकान्त देवताले जब सृजनात्मक स्तर पर भाषा की समस्या उठाते हैं तो मुझे लगता है इसमें कुछ सत्य है, किन्तु यह सत्य विवशता की स्थिति नहीं है। यह नितान्त पहचानपने की स्थिति है। इस पहचानपने की स्थिति में कभी-कभी घुटन होती है लेकिन वह घुटन ही निष्कृति की द्योतक है।

तीसरी बात जो इसीसे सम्बन्धित है और वह है ऐतिहासिक असमर्थता की। ऐसा लगता है कि साठोत्तरी पीढ़ी का प्रत्येक कवि या रचनाकार एक साथ अपने समय से भी लड़ रहा है। उसके सामने न तो अतीत है और न भविष्य। काल-बोध एवम् इतिहास-बोध का यह संक्रमण कई अर्थों में आत्मसमर्पण है आत्ममुक्ति नहीं। इसीलिए साठोत्तरी पीढ़ी में जो चीज़ सबसे अधिक उभरकर आई है वह है आत्मदाह का अनुभव। लेकिन इस अनुभव के साथ भी एक प्रकार की ममता ही अधिक व्यक्त हुई निस्संगता कम। इस ममता के कारण ही ज़ख्मों की तीव्रतम अनुभूति भी प्रदर्शन में बदल जाती है। विसंगति, विघटन, मृत्यु, संत्रास, ज़ख्म, कोढ़, योनि, रजस्वलापन, ये सब-के-सब एक पत्थर के टुकड़े-से कविता में व्यक्त होते हैं। इनमें यह क्षमता नहीं है कि वे अपने को विलीन करके अर्थ की अन्य सीमाओं तक पहुँच सकें। इसलिए चाहे वह आत्मदाह की या विसंगति की स्थिति हो, वह कलात्मक उपलब्धि की अपेक्षा केवल नारे-सा लगने लगता है। इसका भी एक ऐतिहासिक कारण है और वह कारण संक्रान्ति में सृजनशील तत्त्वों का अभाव ही है। कोई शब्द भी गाली बन सकता है यदि उसकी संगति के साथ-साथ कविता की रचना में गठन को ध्यान में रखकर उसका प्रयोग हो। ठीक इसी प्रकार कोई सीधा-सादा शब्द गाली भी लग सकता है, लेकिन यह तभी होगा जब गाली वाले शब्द को रूढ़ि से हटाकर रखें और सीधे-सादे शब्दों को उनके अभिधात्मक अर्थ से हटाकर उनके सन्दर्भ, मुद्रा, भंगिमा को अर्थ के नये आयामों से जोड़ें। विसंगतियों की विडम्बनाप्रधान स्थितियों में ऐसा होना स्वाभाविक है। विसंगतियों के विश्लेषण के साथ-साथ शब्दों के सन्दर्भों को भी विस्थापित करना यह साठोत्तरी पीढ़ी का दायित्व था, लेकिन मेरा यह आरोप है कि ऐसा करने में यह पीढ़ी असमर्थ रही है।

●

प्रश्न उठता है कि इन विसंगतियों की अभिव्यक्ति का अर्थ क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में आज के नये लेखकों का कहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि अर्थ पूछने वाले आप होते कौन हैं ? मैं इसी बात को दूसरी तरह से रखना चाहता हूँ और वह यह कि क्या मात्र विसंगतियों को व्यक्त कर देना अपने-आपमें सार्थक नहीं है? यदि मात्र विसंगतियाँ अपने-आपमें सार्थक हो जाएँ तो सारे समाज का ढाँचा ही बदल सकता है। सारे जीवन का संगठन ही बदला जा सकता है। लेकिन जहाँ मैं साठोत्तरी पीढ़ी की मानसिक स्थिति और उसकी मनोदशा से पूर्णतया सहमत हूँ वहीं मेरा यह मत है कि केवल कुछ कवियों और लेखकों को छोड़कर अधिकांश में विसंगतियों का आभास है विसंगतियाँ नहीं हैं। विसंगतियों का नाम है उनकी गहराइयाँ नहीं। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि ये कवि या लेखक केवल विसंगति-विसंगति रटते हैं उसके व्यंग्य और सार्थक मर्म को पकड़ नहीं पाते।

यह स्थिति कला में प्रायः एक मुद्रा बनकर रह जाती है क्योंकि अन्ततोगत्वा सारे शब्दजाल की तान यहाँ टूटती है कि आप लिखते क्या हैं ? जहाँ तक साठोत्तरी पीढ़ी का प्रश्न है उसके अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि अभी यह पीढ़ी शब्दों के रूढार्थ के प्रति आक्रोश की मुद्रा में मात्र प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। अनुभूति के गहरे पर्तों तक जाने में यह असमर्थ रही है। इसी असमर्थता के कारण यह पूरी पीढ़ी या तो वर्जनाओं से टकराती नज़र आती है या सामाजिक अभिप्रायों से या केवल अपने से, किन्तु इस टकराहट का स्तर और उसकी मार्मिक वेदना गहरे नहीं उतरती है। अभी वर्जनाएँ पिघल नहीं पाई हैं, अभिप्राय विलीन होकर नये अर्थबोध के अन्तरतम तक नहीं पहुँच पाए हैं और अपने से टकराने की प्रक्रिया में केवल 'मैं' ही ज़्यादा दीखता है। मैं के सन्दर्भ और उसके अनेक रूप-प्रतिरूप अभी वास्तव में Conjugate नहीं हो पाए हैं। इसीलिए सारी-की-सारी साहित्यिक व्यंजना एक 'शैडो बॉक्सिग'-सी लगती है। इससे अधिक का कोई अर्थ बन नहीं पाया है। इस पूरी पीढ़ी में साहसिकता और दुस्साहस दोनों एक साथ एक स्तर पर काम करते हैं, लेकिन यदि विवेचन किया जाए तो न तो यह साहस ही किसी भावबोध को व्यंजित करता है और न दुस्साहस यही स्थापित कर पाता है कि यह पूरा-का-पूरा प्रयास एक ऐतिहासिक अनिवार्यता से उबरने के लिए तत्पर है। इसलिए चाहे जितनी निर्भीकता से मिथुन-क्रियाओं का वर्णन हो या चाहे योनि और शिश्न का प्रयोग हो या गर्भाशय और मूत्राशय का प्रयोग हो या श्मशान, शव और छातियों का वर्णन हो, ये सब केवल शब्द बनकर रह जाते हैं। इन समस्त शब्दों में यह क्षमता नहीं है कि ये अपने को विलुप्त करके स्वयं एक अर्थ बन जाएँ। इसी अर्थ में इस प्रकार के अधिकांश प्रयोग केवल अपने कोशीय अर्थ को ही व्यक्त करते हैं, ये सफल काव्य-बिम्ब नहीं बन पाते। इसका सफल और सजीव चित्रण हमें नहीं मिल पाता।

काव्य में प्रत्येक शब्द और शब्दों के आधार पर भाषा यदि केवल पत्थर के रोड़े-से लगें और अपनी मार्मिक व्यंजना को गोठिल करके चमक पैदा करने में असमर्थ रह जाएँ तो मैं यह मानूँगा कि वे शब्द और भाषा निर्जीव और नितान्त असफल हैं। काव्य की भाषा में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने कोशीय अर्थ से उबरकर, ऊपर उठकर एक-दूसरे अर्थवृत्त तक व्यंजित हो जाए। आज की कविता का यद्यपि यह आग्रह है कि वह रूढार्थ को तोड़कर नए सन्दर्भों की ओर बढ़ती है लेकिन ऐसा होना मुझे प्रतीत नहीं होता। यद्यपि अकविता के एक कवि नरेन्द्र धीर का कहना है कि :

> "ऋतुगन्ध में भीगे कपड़े-सा फेंक दिया गया हूँ
> इसलिए कि तुम्हारी
> रति गन्ध न ले पाऊँ"

…जैसी पंक्तियाँ "समूचे समाज द्वारा तिरस्कृत और अचीन्हे (unrecognised) रहने की प्रतिक्रिया का निरूपण है।" किन्तु पूरी कविता में यदि 'ऋतुगन्ध से भीगे कपड़े' का सन्दर्भ या कोशीय अर्थ अपनी रूढ व्यंजना से उबर (Transcend) करके वास्तव में अचीन्हे (unrecognised) का बोध करा देता तो मैं यह स्वीकार कर लेता कि यह प्रयोग कलात्मक है। वास्तव में ऐसा कुछ नहीं हो पाता। उपर्युक्त तीनों पंक्तियों में प्रत्येक शब्द कोशीय अर्थ से उबरकर नया सन्दर्भ नहीं देता। जो कुछ श्री नरेन्द्र धीर की व्याख्या है वह कविता पर आरोपित और इस आरोपण को स्वीकार करने के बाद भी इन शब्दों में अर्थ की कोई नई चमक नहीं पैदा होती। हाँ, यह अवश्य लगता है कि कवि में हठात कुछ शब्दों को कविता में लाने का आग्रह दुराग्रह बन जाता है, जब ये सारे शब्द चाहे वह योनि हो या ऋतुगन्ध चाहे वह टाँगों के बीच की झाड़ियाँ हों या शिश्न, ये पूरी अकविता की भाषा के टेक्सचर को तोड़ते हैं, उसमें कृत्रिमता लाते हैं और हर जगह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घुसपैठिये-से दिखते हैं। उनका संगत प्रयोग कहीं नहीं दीख पड़ता। यही कारण है कि सशक्त-से-सशक्त सम्भावनाएँ इस पूरी प्रवृत्ति में केवल शब्द-युद्ध तक ही रहती हैं, अनुभूति की पर्तों में गहराइयों को नहीं छू पातीं।

एक दूसरी किन्तु विरोधाभासी प्रवृत्ति, जो इस पूरे काव्य-आन्दोलन और साहित्यिक आन्दोलनों में दीख पड़ती है, वह यह कि ये सारे कवि और लेखक अपने-अपने अलग-अलग वक्तव्यों और व्याख्याओं में नितान्त वैयक्तिक 'सिनिसिज़्म' को व्यजित करते हैं। क्रोध की भी भावना इनमें नहीं व्यक्त होती। कहीं-कहीं तो ये आत्मदया (Self pity) के शिकार हो जाते हैं और कहीं नितान्त खिसियाहट को व्यक्त करते हैं। ये दोनों स्थितियाँ कवि की आन्तरिक स्थिति को व्यंजित करती हैं। वे किसी भी प्रकार से यह नहीं व्यक्त करतीं कि ये किसी भी प्रकार के असामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना चाहती हैं। वैसे मैं काव्य में या साहित्य में लेखक के वक्तव्य और प्रतिज्ञा का उतना कायल नहीं हूँ जितना कि उसकी कविता का, फिर भी मैं मान लेता कि यह कवि आज के सामाजिक जमाव और ठहराव के प्रति जागरूक है यदि वह अपनी टूटी-फूटी शैली में भी उस विसंगति को व्यक्त करता है। वस्तुतः यह वे भी नहीं कर पाए हैं। इन्होंने केवल शब्दों को बदला है, प्रतीकों को बदला है, बिम्बों को बदला है, लेकिन यह बदलाव अधिकांश कविताओं में केवल आग्रह बनकर ही व्यक्त हुआ है उसके पीछे अनुभूति की प्रामाणिकता नहीं व्यक्त हो पाई है। यही कारण है कि ये अपने और अपनी रचना के बीच किसी तीसरे को नहीं आने देना चाहते और बड़े ज़ोर से चीख-चीखकर यह कहते हैं कि "आप या और कोई कौन होते हैं!" ये जानते हैं कि इनकी व्याख्या और है और कविता और। ये अपनी रचना-प्रक्रिया में सामाजिकता की बात करेंगे और कविता में नितान्त वैयक्तिक होकर काव्य प्रस्तुत करेंगे। इस विसंगति की बहस में न पड़कर ये किसी और तीसरे को अपने वृत्त में शामिल नहीं करना चाहते। इसी स्तर पर ये अपने कथ्य और तथ्य में कमज़ोर पड़ जाते हैं।

मैं इस विसंगति को भी स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ, लेकिन मैं फिर इन कवियों के वक्तव्यों को विस्मृत करके केवल कविता के संगठनात्मक (Structural) विवेचन की छूट चाहूंगा। मैं अनुभूति के भी संगठनात्मक (Structural) विवेचन में नहीं जाऊँगा। मैं इसके लिए भी प्रस्तुत हूँ कि साठोत्तरी पीढ़ी के कवियों से किसी भी परम्परा के दायित्व या प्रतिबद्धता के नाम की चीज़ की माँग न की जाए, लेकिन प्रश्न फिर भी यह है कि यदि ये लोग सारे प्रतिष्ठित मान अस्वीकार करके चलना चाहते हैं तो क्या यह कोई नया प्रतिमान स्थापित करने में सफल हुए हैं? और तब यह सारा प्रयास और भी अर्थहीन लगने लगता है क्योंकि तब यह अनुभूति की अद्वितीयता के अभाव में एक रीति-प्रधान (Mannerism) की कविता लगती है जिसमें औरत, टाँगें, स्तन, योनि, ऋतुगन्ध, चीथड़े—ये सब-के-सब केवल अभिप्राय के रूप में ही दीख पड़ते हैं, ये सार्थक अर्थसेतु नहीं बन पाते। यही नहीं, योनि, श्मशान, थोना, चाटना, पीना, ये सारी-की-सारी संज्ञाएँ और क्रियाएँ नितान्त दैनन्दनीय-सी लगती हैं। यदि नयी कविता में एक चुटकी दर्द, एक चुटकी आस्था और एक चुटकी आँसू मिलकर कविता बनती-सी दीखती है तो इन कवियों में एक अदद योनि, एक थोड़ा स्तन, एक श्मशान और एक शराब केवल काव्य-अभिप्राय की सीमा तक सीमित रहकर सारी शक्ति का क्षय कर देते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि सारा-का-सारा आन्दोलन केवल एक बहक-सी लगती है, क्योंकि बावजूद अकथ कोशिशों के इन समस्त कवियों ने कोई ऐसा नया मुहावरा नहीं निर्मित किया है जो इनकी अनुभूति या अभिव्यक्ति को अद्वितीयता प्रदान कर सकता। दोनों चीज़ें साथ नहीं चल सकतीं। यदि वक्तव्यों को सही मान लिया जाए और यह स्वीकार कर लिया जाए कि ये सारे कवि एक स्वर से सामाजिक विसंगतियों की प्रतिक्रिया में लिख रहे हैं, तो इनकी रचनाओं से यह प्रमाणित करना कठिन है क्योंकि अपनी रचनाओं में ये लेखक विसंगतियों और विघटन के विरुद्ध संघर्ष करते नहीं दीख पड़ते। या तो ये उन विसंगतियों में खो जाते हैं या उनका रस लेने लगते हैं या उन्हें स्वीकार करके आगे बढ़ने की भी चेष्टा नहीं करते। आज की स्थिति यही है। इनमें से कोई भी लेखक या कवि ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता जो किसी प्रकार की सौन्दर्यात्मक तटस्थता के साथ-साथ सारी स्थिति को झेल रहा हो। तब ऐसा लगता है कि इन विसंगतियों के प्रति इनकी आत्म-प्रवंचना या आत्महीनता या आत्मदाह की दृष्टि ही शेष बच जाती है और इनकी सारी कोशिश, चाहे वह वर्जनाओं को तोड़ने की हो या विसंगति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोड़ने की हो, महज़ एक चीख बनकर रह जाती है। वह किसी भी प्रकार काव्य या साहित्य की उन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती जो कि इस पीढ़ी के कवियों से आपेक्षित है। लेकिन क्या इस चीख की अवहेलना की जा सकती है···? यह एक प्रश्न है जिससे हम-आप बच नहीं सकते।

●

इस सारी प्रवृत्ति को जब मैं वस्तुपरक दृष्टि से देखता हूँ तो इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि तथाकथित साठोत्तरी पीढ़ी एक प्रकार के 'स्ट्रीट आर्चिन कल्चर' से आक्रान्त है। मैं इस 'स्ट्रीट आर्चिन कल्चर' की प्रवृत्ति को इस युग की सहज देन मानता हूँ। राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टियों से यदि देखा जाए तो १९४७ के बाद की पीढ़ी को जो उपेक्षा मिली है और जिस प्रकार से भीड़ में खो जाने जैसी स्थिति पैदा हुई है, उसमें इस प्रकार की मनोवृत्ति का विकसित होना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी है। राजनीतिक स्तर पर हमारा समूचा देश एक ऐय्याशी के दौर से गुज़रा है और १९४७ के बाद की पीढ़ी को ठीक वही यातना भोगनी पड़ी है जो किसी ऐय्याश की सन्तान भोगती है। इस सबका आज परिणाम यह हुआ है कि अनुशासन, संयम, विवेक, सन्तुलन आदि सारे शब्द केवल शब्द रह गए हैं, इनका कोई भी अर्थ आज इस पीढ़ी के सामने शेष नहीं रह गया है। गत बीस वर्षों में एक ऐसी नसल-की-नसल पैदा हो गई है जिसके सामने सम्पन्नता, मुक्ति, सामान्यता और साधारणता आदि केवल खोखले शब्द हो गए हैं। उन्हें जो शब्द मिले हैं वह है भीड़, संत्रास, उपेक्षा, चीख, भटकन और इसी प्रकार के अनेक ऐसे सन्दर्भ जिनमें उनका सारा सब-कुछ खो-सा गया है। आदर्शों की खलड़ी उधड़ चुकी थी और सामने एकदम नंगा यथार्थ आ गया था जिसमें देश की सीमा का अर्थ हो गया था बजट, अमर देश का नाम हो गया था, किसी-न-किसी बाहरी दबाव का शिकार स्वाभिमान का अर्थ हो गया था और विश्वास का अर्थ हो गया था किंवदन्तियों का अम्बार।

इस संदर्भ में जब मैं साठोत्तरी पीढ़ी के पूरे साहित्य को देखता हूँ और उनकी कृत्रिम-से-कृत्रिम अभिव्यक्ति के माध्यम से उन चेहरों को देखने की कोशिश करता हूँ जो ये रचनाएँ लिख रहे हैं, तो मुझे सारी व्यंजना एक ऐतिहासिक विवशता और सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में दिखलाई पड़ने लगती है। फिर तो मुझे एक कमज़ोर-से-कमज़ोर कविता आईना नज़र आती है जिसमें मुझे पिछले बीस वर्षों की उथल-पुथल स्पष्ट दीख पड़ती है, क्योंकि सारे देश की मनःस्थिति बड़ी भिन्न और अजीब है। आज का अनुभव है :

जहाँ सत्य काँपता हो, सकुचाता हो
त्याग, तेज, तप सब कुचला जाता हो
आज़ादी सीमित शब्दों, कोषों तक
वह मेरा देश है।

—श्यामसुन्दर घोष

इसी प्रकार की एक दूसरी व्यंजना है—

क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता
कि दो निरर्थक और नाटकीय अनुभूतियों के नीचे से
ज़मीन खिसक रही है
और यदि उनके नीचे कहीं कोई दलदली ज़मीन शेष है
तो वह मेरा
विभक्त होते हुए कोशों वाला शरीर ही हो सकता है।

—शिवकुटीलाल वर्मा

उपर्युक्त अनुभूतियाँ आज किसी व्यक्ति तक सीमित नहीं रह गई हैं। यह अनुभूति आज सबकी है। 'सत्य' की मृत्यु और 'आज़ादी' की अर्थहीनता का बोध आज प्रत्येक भारतीय के मन पर विभिन्न रूपों और प्रकारों में व्याप्त है। अनुभूतियों का नाटकीय अस्तित्व अब समाप्त हो गया है इसलिए आत्म-अस्तित्व केवल एक निर्जीव शव-जैसा लगता है। ऐसा होना इसलिए भी स्वाभाविक है कि आज की साठोत्तरी पीढ़ी स्वतन्त्र देश में जन्मी है, इसलिए स्वतंत्रता के अभिशाप को भुगत रही है अभाव को नहीं। उसकी दृष्टि में स्वतन्त्रता का एक व्यापक रूप है और जब उस व्यापक रूप में देश की स्वतन्त्रता खपती नहीं दीख पड़ती तो उसे एक प्रकार की बेचैनी-सी होती है और वह बेचैनी भी साधारण नहीं है। कमलेश के शब्दों में :

···सही है
अनाजों की दुकानें
सबको इजाज़त है भर लें
कोई भी स्वाँग। सब रहते हैं तैयार
धोखा खाने को जान या अनजान। शर्त सिर्फ
गले में लटका लें। तस्वीर
आप प्रधान मंत्री की।

कमलेश की इस भावना का सीधा सम्बन्ध आज व्यक्ति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परक नहीं रह गया है। यह पूरी-की-पूरी संवेदना उस पीढ़ी की हो सकती है जो एक स्वतन्त्र देश में जन्मा हो और स्वतंत्रता के स्वाँगों का भुक्त, भोगी रहा हो। साठोत्तरी पीढ़ी के पूर्व, जिनमें अज्ञेय, जैनेन्द्र से लेकर धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय आते हैं, वह इसी स्थिति की संवेदना को दूसरी तरह से ग्रहण करेंगे और पंत की पीढ़ी इसी संवेदना को भूमानव की कल्पना करके पलायन करेगी। जगदीश चतुर्वेदी जब कहते हैं कि :

मुझे पत्थर में बांधकर फेंक दो मेरे देश
मैंने अपने शरीर में एक पत्थर लपेट लिया है
और तमाम वस्तुओं में रुचि खोकर
एक अमानुषिक मर्यादा में जी रहा हूँ।

तो इसमें अज्ञेय, भारती, मुक्तिबोध से भिन्न प्रकार की संवेदना है।

इस अमानुषिक मर्यादा से वर्तमान **'स्ट्रीट आर्चिन कल्चर'** का बहुत-कुछ तथ्य विकसित हुआ है, क्योंकि आज समाज में, जीवन में, व्यापार और व्यवहार में जो कुछ भी हो रहा है या प्रतिष्ठा पा रहा है, वह कहीं-न-कहीं अमानुषिकता को ही जन्म दे रहा है। 'स्ट्रीट आर्चिन कल्चर' स्वयं अमानुषिक नहीं होता। वह अमानुषिकता के संघात से जन्मता है, इसलिए उसमें अपराध के प्रति मोह नहीं होता वरन सहज उपेक्षता में अपराध होता है। मैं जब इस पूरी संवेदना को स्ट्रीट आर्चिन कल्चर से सम्बद्ध करता हूँ तो उसके पीछे वे समस्त सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ आती हैं जिनमें सम्पूर्ण देश की मन:स्थिति खिन्नता और आक्रोशपूर्ण नपुंसकता में घुटकर पिस रही है। सहज 'सिनिक' भाव से सारे मूल्यों को ठोकर मारकर मूल्यहीनता को मूल्य के रूप में घोषित करने में भी मुझे यही संवेदना अधिक दिखती है। पिछले बीस-बाईस वर्षों से जिस पीढ़ी को केवल उपेक्षा, अपमान और अरक्षण मिला हो, यदि आज वह मूल्यहीनता की बात करती है तो इसमें आश्चर्य क्या है। हमारे देश की युवा-पीढ़ी आज नगरों, महानगरों, गाँवों और कस्बों में केवल अपवाद और व्यंग्य का ही सामना कर रही है। जिस देश की पूरी आर्थिक व्यवस्था केवल पचास-साठ लाख आदमियों के निहित स्वार्थों और हितों पर आधारित होगी उसके सामने शेष के लिए सिवा आक्रोश के क्या शेष रह जाएगा ? मैं वर्तमान साठोत्तरी पीढ़ी के इस यथार्थवादी संदर्भ को समझता हूँ और इसीलिए मैं उसकी गालियों, कुण्ठाओं, विसंगतियों और वर्जनाओं के प्रति उमड़ते आवेश को निरर्थक नहीं मानता, क्योंकि इतिहास के जिस दौर से यह पीढ़ी गुज़र रही है उसमें यह स्वाभाविक है। यही वह मानसिक स्थिति है जो यह घोषित करती है :

सनसनीखेज़ जगहों से गुज़रता है—भयाक्रान्त
इतिहास मुझे रौंदकर आगे बढ़ जाता है।

—सोमदत्त गर्ग

इतिहास और व्यक्ति का यह संघर्ष आज तीखा हो गया है, इसलिए इतिहास का अनिवार्य शिकंजा पूरे यथार्थ और उसके आस-पास को केवल घायल बनाकर छोड़ देता है। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ यह पूरी-की-पूरी साठोत्तरी पीढ़ी इसी इतिहास की रौंदी हुई भग्नावशेष है। उसमें यह साहस नहीं है कि वह इतिहास से मुक्त होकर सारी स्थिति से उबर जाए और जब यह उबरने की क्षमता नहीं होती तो वह इतिहास का एक खिलौना बना केवल अपना ज़ख्म देख-देखकर क्रियाशील होता है। 'स्ट्रीट आर्चिन कल्चर' का यह दूसरा पक्ष है जो साठोत्तरी पीढ़ी के साहित्य में हमें विशेष रूप से देखने को मिलता है। वस्तुत: वर्तमान 'स्ट्रीट आर्चिन संस्कृति' उस 'ब्रह्म राक्षस' के प्रेत से जन्मी है जिसके संत्रास में मुक्तिबोध की पीढ़ी केवल अनेक प्रकार के रागात्मक ऐश्वर्य के ताने-बाने बुनती रही है। आज वही ब्रह्म राक्षस गलियों-गलियों में, शहरों और सड़कों पर अपनी अकाल मृत्यु का अभिशाप लिए भटक रहा है। उसकी जेब में कंकड़-पत्थर जैसे शब्द हैं जिन्हें वह नई व्यवस्था देना चाहता है। उसके पास स्वयं कोई व्यवस्था नहीं है इसलिए वह प्रतिष्ठित व्यवस्था पर चोट करता है और चाहता है कि उसकी सापेक्षता में जो विसंगतियाँ हैं वे सार्थक लगें। यह एक चेष्टा है जो आज के ऐतिहासिक संदर्भ में स्वाभाविक रूप से विकसित हुई है। इसकी सफलता-असफलता, औचित्य-अनौचित्य की चर्चा मैं यहाँ नहीं करना चाहूँगा, लेकिन यह प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है और यह स्थिति व्यापक जीवन में बढ़ती हुई खाइयों को अभिव्यक्ति देने में सहायक है। मात्र इतना स्वीकार कर लेने के बाद आज जो कुछ भी एक रेले के रूप में आ रहा है उसकी सार्थकता और अनर्गलता पर विचार किया जा सकता है। बिना इस परिप्रेक्ष्य के यदि अकविता, भूखी पीढ़ी, युयुत्सावादी रचनाओं के विषय में कोई कुछ कहने की चेष्टा करेगा तो वह ग़लती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेगा और इस पूरे आन्दोलन के सही मूल्यांकन करने में अन्याय करेगा।

प्राय: यह कहा जाता है कि ये कवि और लेखक केवल अस्वाभाविकता को ही क्यों व्यक्त करते हैं ? मैं समझता हूँ कि यदि हम किसी भी वृत्ति को अपनी स्वाभाविकता से देखेंगे और जो लेखक और कवि हैं उसके संदर्भों के प्रति सहिष्णु नहीं होंगे तो हम स्वयं अस्वाभाविक मन:स्थिति का परिचय देंगे। मैं यह नहीं मानता कि आज जो कुछ लिखा जा रहा है वह किसी की बदल में या एक झूठी संवेदना का द्योतक है। इसके विपरीत मैं यह मानता हूँ कि आज के लेखन में हमारे पूरे देश की मन:स्थिति, पूरा पिछड़ापन, पूरी विसंगति, पूरी घुटन और पूरा अन्तर्विरोध, अपने-आपमें व्यक्त हो रहा है। यह स्थिति कलात्मक दृष्टि से निम्न स्तर की हो सकती है, हो सकता है जितना कुछ लिखा जा रहा है वह केवल खाद बनकर रह जाए और इसमें कुछ ऐसा भविष्य में न निकले जो हमें अपने पिछड़ेपन, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विसंगतियों और विवशताओं से मुक्ति देकर सर्वथा नये आयाम और नये जीवन की बुनावट की ओर प्रेरित करे। यह भी हो सकता है कि यह सारे का सारा आन्दोलन अलग जा गिरे और इसके बीच से एक ऐसा स्वर फूटे, जो पूरे संदर्भ को सर्वथा नया अर्थ देने में सक्षम हो। आखिर जो कुछ भी आज **रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना** लिख रहे हैं, वह वही नहीं है जो आज से दस वर्ष पहले वे लिखा करते थे। परिवर्तन उनमें भी आया है। आज परिवेश का दवाब उन पर भी है। स्वप्न-भंग के बाद की स्थिति में उनकी अपनी आत्मरत की प्रक्रिया भी टूट रही है। आज 'देश' एक ऐसा विषय बन गया है जिस पर सभी लिखने के लिए मजबूर हैं। **जगदीश चतुर्वेदी, रघुवीर सहाय, कमलेश, मणिमधुकर, केदारनाथ सिंह, चन्द्रमौलि उपाध्याय, चन्द्रकान्त देवताले, सौमित्र मोहन, मोना गुलाटी** आदि की कविताओं में जो वातावरण और परिवेश झलकता है वह आज के इतिहास और ऐतिहासिक संक्रमण में डूबा हुआ है। कुछ लोग ऐसे हैं जो इस ऐतिहासिक विवशता में प्रति-क्रिया को विसंगतियों के लाक्षणिक अवतरणों के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं और जो श्मशान पूरे देश में विकसित हो रहा है, जो रेगिस्तान पूरे सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में उत्तरोत्तर पनप रहा है, उसको उसी रूप में प्रस्तुत करके तुष्टि पाना चाहते हैं। यह उन कलाकारों की असमर्थता और विवशता दोनों ही हो सकती है, लेकिन जब वे बड़ी तेज़ी से मिथुन मुद्राओं का प्रयोग करते हैं या यौन-प्रतीकों की परेड करते हैं या दोनों टाँगों के बीच सत्य को प्रतिष्ठित करते हैं या सपाट अथवा उभरी हुई छातियों के माध्यम से सारी सामाजिक, सांस्कृतिक मर्यादा और प्रतिष्ठित मूल्यों पर आघात करते हैं, तो मुझे इस पूरे प्रयास में केवल वर्तमान 'वाणी' की असमर्थता और नये मुहावरे की खोज ही दीख पड़ती है, क्योंकि इन समस्त यौन-बिम्बों के बीच जो आवेश और मिज़ाज मुझे झलकता दीख पड़ता है वह केवल तोड़ने की छटपटाहट ही नहीं लगती वरन् उसके माध्यम से उनका निज का टूटापन और नये की अकथ चेष्टा दोनों ही दीख पड़ते हैं, क्योंकि उनमें से कोई भी यथास्थिति का समर्थक नहीं दीख पड़ता, क्योंकि जिस तेज़ी से वह अतीत और भविष्य के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है उसमें निहित खीझ, असंतोष, आक्रोश ही नये जीवन, नये परिवर्तन, नये सम्बन्धों और नये मूल्यों की बेचैनी निहित है। मोना गुलाटी की ये पंक्तियाँ केवल यथा-स्थिति को ही नहीं स्वीकारतीं :

एक दिन मैं पाप की भाँति पागल हो जाऊँगी
आग की भाँति फैलूँगी
समूचे कस्बे और गाँव में।
कौन खोदता है मेरे देश की बंजर भूमि को
भविष्य को काँख में दबाये। सभी
वन-मानुष जंगलों में भाग गये हैं और
बनों में लग गये हैं राल के ढेर।
....
खोह से निकलता है एक सूजी आँखों वाला
जानवर और मज़ाक में लील जाता है पूरा देश।

यह पूछा जा सकता है कि इस बेचैनी के पीछे कारण क्या है ? क्या यह पीढ़ी ऐतिहासिक संदर्भ में आज हम सबसे मुक्त और सर्वथा भिन्न है ? स्पष्ट है कि जहाँ तक साठोत्तरी पीढ़ी का प्रश्न है वह निश्चय ही इतिहास के क्रम में उस काल का कवि है जो सर्वथा संक्रान्ति की स्थितियों में जन्मी और बढ़ी है। यह पीढ़ी स्वतन्त्र भारत में पैदा हुई है, इसलिए उन सबसे भिन्न है जो पराधीन भारत में पैदा हुए। संस्कार में भी वह अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से भिन्न है। वह उनकी सीमाओं की उत्तराधिकारी नहीं है, वह उनकी अधूरी उपलब्धियों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिशप्त तो है लेकिन पूर्ववर्ती पीढ़ी के अधभोगे सत्यों और कुछ सीमा तक पुंसत्वहीन आत्म-प्रवंचनाओं का व्यंग्य भोगने के लिए विवश है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इन भिन्न परिस्थितियों के बावजूद भी इस पीढ़ी की बेचैनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से भिन्न है। हमारी पीढ़ी बेचैन नहीं थी, क्योंकि विद्रोह और संघर्ष के युग में जन्म लेने के कारण वह विद्रोह और क्रान्ति के युग में एक फैन्टेसी और दिवा-स्वप्न के जादू से प्रचलित थी। स्वातन्त्र्योत्तर की स्वप्न-गरिमा उन्हें बेचैन नहीं बनाती थी वरन् क्रियाशील बनाती थी। बेचैनी विवशता को व्यक्त करती है—वह विवशता जो पिछले बीस वर्षों में पनपी है। बेचैनी इसलिए है कि इस पीढ़ी को अपनों से टकराना पड़ रहा है, अपने द्वारा प्रतिपादित स्थापनाओं की निरर्थकता से जूझना पड़ रहा है। उस व्यवस्था का अभिशाप भोगना पड़ रहा है जो स्वतन्त्र देश और समाज की व्यवस्था है। कहने का सारांश यह कि आज वह अधिक गहरे स्तर पर मूल्यों और समस्याओं का साक्षात्कार कर रहा है। इसलिए आज की पीढ़ी के पास केवल आत्मदाह की स्थिति ही शेष रह जाती है। इस विवश आत्मदाह की स्थिति को ही वह अभिव्यक्त कर रहा है। कहीं-कहीं यह स्थिति अपने-आपमें गहन बनकर उठती है…शायद अत्यधिक गहन :

गोली से भून दिये जाने के बाद
ट्रकों में ढोया जा रहा हूँ
लाशों को आग नहीं : सिर्फ धक्का काफी होगा।

—चन्द्रकान्त देवताले

इस गहनता के साथ जो बेचैनी है वह बेचैनी केवल जिस्म की भूख को नहीं व्यक्त करती। जिस ऐतिहासिक संदर्भ में साठोत्तरी पीढ़ी की मूल चेतना आत्मदाह की स्वीकृति से चलती है वह उसकी विवशता ही नहीं पूरे युग की विवशता है। इसलिए विशुद्ध सौन्दर्यात्मक स्तर पर जब हम इसकी प्रामाणिकता की माँग करते हैं तो बात कुछ बिखरी-सी लगती है, क्योंकि यह पूरा आन्दोलन अपनी अनुभूति में काफी जटिल है। इस जटिलता में यदि कालिदास और वाल्मीकि भी होते तो शायद इस अभिशाप से बच नहीं पाते, क्योंकि वह पीढ़ी, जिसे इतिहास विदग्ध करके छोड़ देता है, उसकी भाषा, मुद्रा, बिम्ब, प्रतीक सारे-के-सारे तत्त्व सामान्य नहीं होते। इसी असाधारण स्थिति की अभिव्यक्ति शिवकुटीलाल वर्मा में मिलती है :

जब मैं पैदा हुआ
तो राणाप्रताप और नेपोलियन हाथ में हाथ दिये
पैरों में घुँघरू बाँध नाचने लगे।
जब मैं जवान हुआ
तो उन घुँघरुओं के भीतर से
हल्दीघाटी और वाटरलू के मैदान झाँकने लगे
जब मैं समझौते-भरी प्रौढता में प्रतिफलित हुआ
तो उन मैदानों को समेटे हुए घुंघरुओं को पैरों से खोल
वे उनसे अपने गले बाँधने लगे।

इन विसंगतियों को व्यक्त करना यद्यपि कठिन है, फिर भी यह इतना स्पष्ट है कि शयद इनसे बचकर नहीं निकला जा सकता। साठोत्तरी पीढ़ी इनसे बचना भी नहीं चाहती है। यह स्वीकारोक्ति अपने-आपमें अर्थ को जन्म देती है। अर्थ टूटने का, विघटित होने का, आबद्धता का और इन सबसे अलग सम्पूर्ण भीड़ की जिज्ञासा-समाधान का। ऐसा लगता है कि आज हमारे चारों ओर जो घटित हो रहा है वह बिना हमारे सहयोग और सहभोग के। हम केवल उसके पात्र हैं नियन्ता या नियन्त्रित कहने वाले नहीं हैं, इसलिए जब केदारनाथ सिंह यह कहते हैं कि 'क्या फ़र्क पड़ता है' तो उसमें सारी व्यंजना इसी विवशता को होती है कि आज जो कुछ भी हो रहा है उसमें अस्वीकार की मुद्रा और स्वीकार का ऐलान दोनों निरर्थक हो गए हैं क्योंकि वह यह अनुभव करता है कि वह 'एक बेवजह उगा हुआ दरख्त है' और उसकी यात्रा 'एक चील की चोंच में लटकी है जो स्तब्ध आकाश में डूब रही है।'

—जगदीश श्रीवास्तव

और इसलिए यह आत्मदाह की स्थिति बार-बार इन कवियों और लेखकों की रचनाओं में खुलकर आती है। यह आत्मदाह की स्थिति उस 'स्ट्रीट आर्चिन कल्चर' की देन है जो अपने नाबालिगपने में अज्ञात विसंगतियों को भोगने के लिए विवश था। उसके पास कोई विकल्प था ही नहीं। उसकी अपनी गति थी जो बार-बार उन अँधेरी गलियों की ओर उसे ले जाती थी जिसमें आदमी और कुत्ते अपने सह-अस्तित्व के साथ जीवन व्यतीत करने पर विवश थे। गली के बाहर गोलियाँ थीं, गालियाँ थीं; अपमान था। बालिग होने का परिचय देना भी गुनाह था, क्योंकि सारा देश जिस पिछड़ी हुई मनःस्थिति से गुज़र रहा था उसमें यह सब होना सम्भव था। इस आत्मदाह में यह निहित है कि जितनी भी विसंगतियाँ हैं उन्हें हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार करते हैं किन्तु उनका समर्थन आदर्शवादी रूप में न होकर विशुद्ध मानववादी स्तर पर हमें उस पर जो कहना है वह कहते रहेंगे। ऐसा लगता है कि समूची साठोत्तरी पीढ़ी इतिहास के इस अनिवार्य व्यंग्य से मुक्त नहीं हो पा रही है। जिस दिन वह इस विवशता से मुक्त होजाएगी यह सारे-का-सारा साहित्य, यह सारी-की-सारी सम्वेदना एक कृतित्व के रूप में सर्जित हो जाएगी।

अन्त में एक बात और कह देना आवश्यक है और वह यह कि यह सारी आत्मदाह की वेदना, यह सारा आक्रोश अभी अधिकांश रूप में अधकचरा है। यदि यह पूरा-का-पूरा पककर प्रस्तुत होता तो निश्चय ही यह युगारम्भ का सूचक होता। अभी यह केवल संक्रान्ति का द्योतक है।

●

युवा एनार्की और समय का गुस्सा

मुद्राराक्षस

पिछले तीस बरस के दौरान की कुछ घटनाओं के संकेत से बात शुरू की जाए तो बेजा न होगा। १९४२ में हिन्दुस्तान के समाज की ओर से अचानक कुछ बड़े पैमाने पर गुस्सा ज़ाहिर किया गया था। १९४७ में कुछ भिन्न रूप में एक और उबाल गुस्से का आया था। दंगे हुए थे लेकिन इसके बाद से अब तक या तो समाज में उतने बड़े पैमाने का गुस्सा आया ही नहीं या आया तो फिर उसका रूप पहले से काफी बदला हुआ था। फ़र्ज़ के तौर पर तेलंगाना अथवा नक्शलबाड़ी की घटनाओं का गुस्सा लिया जा सकता है।

१९४७ से पहले जो गुस्सा ज़ाहिर किया गया था भले ही वह हिस्प्रस का ही गुस्सा क्यों न हो, औसतन सिर्फ़ एक सरकार-विशेष के प्रति एक समाज-विशेष का ही गुस्सा था। समाजवाद आदि की थोड़ी-बहुत चर्चा के बावजूद वह गुस्सा न तो "समाज-विशेष का किसी व्यवस्था-विशेष के विरुद्ध गुस्सा" था और न ही "व्यवस्था-विशेष के लिए सरकार-विशेष के विरुद्ध कोई गुस्सा" था। यह संयोग नहीं है कि मोटे सुधारवाद के अलावा १९४७ के बाद की व्यवस्था के पास नया और प्रभावशाली प्रायः कुछ भी नहीं था। यही नहीं बल्कि जिस तरह फ्रान्स और रूस में बदल के लिए, बदल से पहले एक समग्र समाज दर्शन की पक्की ज़मीन, बदल लाने वालों के पास थी वैसी पुख्ता ज़मीन हिन्दुस्तान में बदल लाने वालों के पास, बदल लाने के लिए नहीं ही थी। अहिंसा, कुटीर उद्योग, सामाजिक समानता, सहजीवन, सहकारिता, लघु उद्योग जैसे कुछ बिखरे हुए अनुभव-खंडों और असावधानी के साथ बटोरे गए विचार-खंडों के अलावा समग्र सामाजिक इतिहास की परिभाषा और परिशुद्धि के लिए उपयुक्त विवेक-तन्त्र हमारे पास नहीं ही था। क्रान्ति से पैदा हुई बदल की हिस्सेदारी करने वाली रूसो अथवा लेनिन की कृतियों की तुलना में हमारे पास जो पूँजी थी वह 'डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया' तक ही सीमित थी।

इस भावुकताभरे गुस्से का ज़माना बीतने के बाद समाज में आने वाले गुस्से का रूप भी काफ़ी बदल गया। कहना न होगा कि प्रत्यक्षतः प्रभावहीन लगने वाली कुछ और किस्म की भी बदलेच्छाएँ इस समाज में मौजूद रही हैं, लेकिन किन्हीं कारणों से उन्हें बल प्राप्त नहीं हो सका। इन कारणों का अध्ययन एक अलग विवेचना का विषय है। आचार्य नरेन्द्र देव, डॉ० लोहिया, एस० ए० डाँगे और एम० एन० राय जैसे लोगों ने इसी बदल के सन्दर्भ में 'डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया' से भिन्न किस्म के विचार पेश किए, लेकिन १९४७ से पहले की बदलेच्छा पर छाई हुई अनगढ़ भावुकता को ये बेध नहीं ही सके। इसमें सन्देह नहीं कि इन कृतियों में ऐसे समाज-दार्शनिक विवेचन पेश किए गए थे जिनमें "एक व्यवस्था-विशेष से, व्यवस्था-विशेष के लिए समाज-विशेष के संघर्ष की कोशिश" की गई थी। ध्यान देने की बात है '४७ के बाद साफ़ तौर से लोगों के गुस्से का स्वरूप बदलने लगा। इस बदल का मतलब यह था कि इसके बाद समाज को जो गुस्सा आता रहा उसके पीछे व्यवस्थागत बदल का विवेक बराबर समाज के साथ रहा, फिर चाहे वह किसी भी किस्म की व्यवस्था लाने का प्रयास क्यों न रहा हो। तेलंगाना की घटना हो या गांधी की हत्या, फ़ूड एजीटेशन हो या गो-हत्या-विरोधी अभियान, बड़ी हड़तालें हों या नक्शलबाड़ी की घटना, इनमें से सभी गुस्सों के पीछे एक व्यवस्था के विरुद्ध दूसरी व्यवस्था लाने का प्रयत्न किसी-न-किसी रूप में शामिल रहा है। सामाजिक दृष्टि से यह बदल साधारण महत्त्व की नहीं है।

●

अब हम इस भूमिका में कुछ दूसरी बातों पर ग़ौर करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहेंगे । 'भारतमाता ग्रामवासिनी' कविता सुमित्रानन्दन पन्त ने १९४० में लिखी थी। "शर्माती झट। वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट।"—जैसी बातें ही इत्तफ़ाक से इस कविता में ज़्यादा थीं और मैं नहीं कह सकता कि पन्त या उनके समकालीन कुछ अन्य कवियों की इस किस्म की फ़ैशन-सुलभ जिज्ञासा कहाँ तक बदल की इच्छा या उसके संकल्प से जुड़ी हुई थी। मशीनयुग, मध्यवर्ग, मार्क्स और युग-संघर्ष की काफ़ी लम्बी-चौड़ी बातें होने के बावजूद पंत की यह जिज्ञासा बदल के सन्दर्भ में उतनी ही प्रसंगेतर थी जितनी स्वाधीनता-आन्दोलन के साथ कुटीर उद्योग, समानता, सह-कारिता आदि की बातें। दरअसल व्यवस्था की बदल के लिए व्यवस्थित चिन्तन न तो स्वाधीनता के आन्दोलन के साथ ही था और न ही उस काल के किसी भी कवि की जिज्ञासाओं में।

ध्यान देने की बात है कि '४७ के बाद जहाँ राजनीतिक क्षेत्र में बातें उतनी वायवी नहीं रह गई, और व्यवस्था से लड़ाई के लिए व्यवस्थित विवेक-तन्त्र हमारे सामने आए वहाँ हमारे कवि अचानक अरविन्द की गति को प्राप्त हो गए। अरविन्द की ही गति को संयोग या दुर्भाग्य से निराला भी प्राप्त हुए।

याद होगा कि पाँचवें-छठे दशक में साहित्यिक बहसों के लिए एक बड़ा मुद्दा सामने आया था संयुक्त मोर्चे का। इसी के साथ यहाँ के समाज के तन्त्र-चेतन गुस्से से साझीदारी करने की पहली कोशिश साहित्य ने की थी। लेकिन इस किस्म के लेखन पर दो किस्म के एतराज़ उठाए गए। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों एतराज़ात ने काफ़ी व्यापक समर्थन पाया और कुछ लोगों ने राजनीतिक कारणों से और कुछ ने विवाद की जड़ता से उकताकर इस आन्दोलन से किनारा कर लिया। पहला एतराज़ था साहित्य द्वारा राज-नीति के पिष्ट-पेषण और उसकी कदम-बोसी का और दूसरा एतराज़ था साहित्यिक अथवा कलात्मक मानदण्डों की क्षति का।

इसीलिए एक बार फिर पीछे का ही इतिहास दोहराया गया और "युग के सत्य की तलाश" करने वाला 'तार सप्तक' का वह विवेक, जो जनता की भाषा सीख लेने की साध लिए फिरा था, अचानक शाश्वत और अद्वितीय ही नहीं, परा और अपरा के गह्वरों में लौट गया। 'अरी ओ करुणा प्रभामयि' और 'आत्मजयी' की दृष्टि इस सन्दर्भ में 'डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया' की भावुकता से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं कही जा सकती।

इस तरह जिस पीढ़ी ने वैचारिक दासता का विरोध करते हुए राजनीतिक पिछलग्गूपन से अपने-आपको मुक्त रखने का अभियान शुरू किया, उसी ने अपनी पीढ़ी के गुस्से के साथ एक प्रच्छन्न लेकिन अक्षम्य गद्दारी की। यह गद्दारी उन सभी लेखकों ने की जो नयेपन की बलपूर्वक चर्चाएँ करते रहे हैं।

यह संयोग नहीं माना जाना चाहिए कि नये मूल्य, नये प्रतिमान, नये बिम्ब, नये बोध, नये आदमी आदि की चर्चा हिन्दी में ठीक उन्हीं दिनों ज़ोर-शोर से हुई, जिन दिनों '४७ के बाद आई व्यवस्था ने अपनी सामाजिक असफलताओं को छिपाने के लिए नये उद्योग, नये बाँध, नई क्रान्ति, नये समाज आदि की चर्चा ज़ोर-शोर से की। नेहरू ने ठीक इन्हीं दिनों बाँधों को नये मन्दिर कहा था। दो विभिन्न श्रेणी के प्रव-क्ताओं की व्यंजनाओं में यह आश्चर्यजनक साम्य केवल रहस्य ही नहीं सचाई का द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों जगह कही गई बातें, नयेपन के सिलसिले में बराबर तेज़ी से चमकती हैं, क्योंकि नया बिम्ब भी उतनी ही वज़नी अनुभूति देता है जितना नया बाँध। दोनों दूर से दिखाई देते हैं और महज़ बाहरी सतह पर ही कुछ बदलते हैं। अन्दर के ढाँचे को न तो नया बोध या बिम्ब बदलता है न नया बाँध। जितना क्षीण आइडेण्टिफ़िकेशन 'भारतमाता ग्रामवासिनी' का स्वाधीनता आन्दोलन से होता है उतना ही क्षीण आइ-डेण्टिफिकेशन '४७ के बाद के सामाजिक गुस्से से 'अंधा युग' अथवा 'आत्मजयी' का होता है।

मुमकिन है कि "सामाजिक सामयिक घटनाओं से संपृक्ति साहित्य की शाश्वत सार्वभौमिकता को क्षति पहुँचाती है।"—यह धारणा इन लोगों में भी मौजूद हो और इसीलिए इनका लेखन इस प्रकार बदल की समस्या को छूने से कत-राता हो।

●

यहाँ से हम शुरू करना चाहेंगे आज की युवा पीढ़ी की चर्चा। अभी हाल में ही दूधनाथ सिंह ने केशनी प्रसाद चौरसिया से सम्बद्ध एक प्रसंग का ज़िक्र किया है : "विजयदेव नारायण साही ने उनकी (श्री चौरसिया की) रचनाओं को देखकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा था कि तुम इस तरह की और कविताएँ लिखकर ज़िन्दा नहीं रह सकते। इतना भयावह तनाव साधारण मानसिक स्थिति में सहा नहीं जा सकता।"

सुना था कि श्री चौरसिया ने छत से लटककर खुदकशी कर ली थी। डॉ० चौरसिया द्वारा ही प्रकाशित एक पत्रिका 'विद्रोही पीढ़ी' के सम्पादकीय में एक बड़ी साफ़ बात कही गई है : "हमारे युग की वास्तविक बुराई अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्राज्यवाद है और राष्ट्रीय स्तर पर पूँजीवाद।"

इस वक्तव्य पर ध्यान देना इसलिए ज़रूरी है कि यह नये बाँध और नई परियोजनाओं तथा नये बिम्ब और नये बोध की समानान्तर ख्यातिवाले युग से पहले के एक सुव्यवस्थित, लेकिन अतिरिक्त उत्साह के कारण असफल आन्दोलन के सन्दर्भ में भी काफी कुछ सोचने की गुंजाइश पैदा करता है। इसमें सन्देह नहीं कि पिछले दिनों इस दशक में सामने आए साहित्यिक आन्दोलनों में कुछ हद तक वामपन्थी झुकाव है, लेकिन यह निश्चयतः प्रगतिवादी रुझान है, यह नहीं कहा जा सकता। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की चर्चा के बावजूद यह पीढ़ी उस किस्म के विवेक-तंत्र से बँधकर अनुशासित बदल के प्रयत्न में लगी नहीं।

ऊपर की बात के साथ ही एक और बात विद्रोही पीढ़ी के सम्पादकीय में कही गई है। "सूदखोरी, घूसखोरी, चोरी, डकैती, जातिवाद, अन्धराष्ट्रवाद, चापलूसी, गरीबी, वेश्यावृत्ति, भुखमरी, गुलामी, असत्य, हिंसा, युद्ध-लोलुपता, दासता, सन्तानघाती प्रवृत्तियाँ, भ्रष्टाचार के विविध रूप एवं जेल की व्यवस्था के संरक्षक वे ही लोग हैं।…बेशर्म व्यवस्था की रहस्यमय प्रकृति के सन्दर्भ में ही विद्रोही प्रयत्नों का औचित्य सिद्ध हो सकता है।"

आश्चर्य हो सकता है कि सातवें दशक की यह पीढ़ी इतनी अधिक सुधारवादी बातें कैसे कह लेती है!

यहाँ एक बात पर ज़रूर ग़ौर करना होगा। जहाँ यह सच है कि किसी व्यवस्था-विशेष के विरोध की बात विवेक-तन्त्रों के स्तर पर कैसे की जाए, यह पिछले बीस बरसों में अब काफ़ी स्पष्ट हो चुका है वहाँ यह सचाई भी कटुता के साथ सामने आई है कि प्रस्तुत व्यवस्था के स्थान पर उतने व्यापक पैमाने पर किसे लाया जाए इस बात का निर्णय अब और भी मुश्किल हो चुका है। विकल्प बहुत अधूरे, असमर्थ अथवा सीमित प्रभाव वाले हैं। यही नहीं, बल्कि जब इस बार के चुनावों के बाद विकल्प खड़ा करने का मौका आया तो इसके सिवा और चारा ही नहीं रहा कि अलग-अलग और अक्सर परस्पर-विरोधी सत्यों के सुविधाजनक खण्ड लेकर अनेक विवेक-तन्त्र कोई एक व्यवस्था बनाएँ। इसमें न तो किसी एक विवेक-तन्त्र की, सम्पूर्ण दायित्वों के साथ हिस्सेदारी हो पाई और न ही अनेक हिस्से कोई और ऐसा समाज-तन्त्र खड़ा कर पाए जो आमूल बदल के सपने को पूरा कर पाए। इससे भी निचले स्तर पर जो कुछ हुआ और हो रहा है उसे हम यहाँ शामिल नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में इसे हम निश्चयतः प्रत्येक विकल्प वाले विवेक-तन्त्र की समग्रता की पराजय कहना चाहेंगे। अधिक-से-अधिक हम कह सकते हैं कि यह उनकी सम्भावनाओं की पराजय है, लेकिन इस तरह भी उनकी लाज-रक्षा होती है, ऐसा मैं नहीं मानता। इसे स्पष्टतः तन्त्र-भ्रंश की स्थिति कहा जाएगा।

तन्त्र-भ्रंश की यह स्थिति सहसा चुनाव के साथ ही पैदा नहीं हो गई। पिछले कोई तीन-चार बरसों से बराबर यह होना जारी था। और खण्ड-सत्यों से बनी विकल्प की व्यवस्था के पास इसके अलावा चारा नहीं था कि समाज की बाहरी बदल को ही अपना प्रमुख कार्यक्रम बनाती। इसी बात को मद्दे-नजर रखकर हर पार्टी ने पिछले, यानी '६२ के चुनाव की तुलना में इस बार के चुनाव के वक्त अपने घोषणा-पत्रों में क्या बारीक रद्दोबदल की है, यह अच्छे अध्ययन का विषय है। बहरहाल, विकल्प की व्यवस्थाओं ने जिस न्यूनतम कार्यक्रम पर ज़ोर दिया वह ऊपर केशनी प्रसाद चौरसिया की बदलेच्छाओं से कम सतह-जीवी नहीं है। न्यूनतम कार्यक्रम में जिस प्रकार 'व्यवस्था की बदल' के बजाय, 'व्यवस्था में सुधार' को ही अपना लक्ष्य बनाया गया, उसी तरह चौरसिया और उन जैसे अनेक कवियों-लेखकों में सतह की बदल के लिए एक सामूहिक गुस्सा पैदा हुआ।

यहाँ अप्रासंगिक-सी लगने वाली एक और बात का ज़िक्र मैं करना चाहूँगा। विद्यार्थी आन्दोलन—१९६६ की असफलता के बाद डॉ० लोहिया ने एक जगह लिखा था कि जेल में उनके कुछ साथियों के दिमाग में यह आया कि इसके असफल होने के बाद कुछ आतंकवादी काम करने होंगे। यह बात ग़ौर करने की है। लोहिया की धारणा में यह सोचना गलत था, लेकिन उनसे नीचे के स्तर पर सोचने-करने वालों के दिमाग़ में यह बात आई तो सही कि आतंकवादी काम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना पड़ सकता है।

यहाँ हम ग़ौर करें दो बातों पर। खण्डित विवेक-तन्त्रों से बनी व्यवस्थाओं ने 'न्यूनतम कार्यक्रम' अपनाया और राजनीतिक असफलता के बाद दूसरे स्तर पर सोचने-करने वालों में 'आतंकवाद' की इच्छा जागी।

थोड़े-से ग़ौर करने पर ही पता लग जाएगा कि विकल्प की जिन व्यवस्थाओं ने 'न्यूनतम कार्यक्रमों' को अपनाया उन्होंने भी केशनी प्रसाद चौरसिया की तरह से सुधारवादी बातें ही ज्यादा ज़ोर से की थीं। इत्तफाक से सुधारवादी प्रवृत्ति की ऐसी रचनाओं की इधर के विद्रोही लेखन में बहुतायत है। मैं यहाँ सुधारवाद शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ में नहीं कररहा। भ्रष्टाचार और मूल्य-विकार के प्रति गुस्सा सबसे ज़्यादा बलपूर्वक ज़ाहिर किया गया है, इसे इधर की लिखी हुई कृतियों में से बहुसंख्यक कृतियाँ साबित कर सकती हैं। विकल्प के विवेकतन्त्र की स्थापना के साथ "आमूल बदल के संकल्प का स्थगन" दोनों ही जगह समान भाव से मिलता है। संयोग की बात है कि राजनीतिक असफलता के साथ जहाँ आतंकवाद की धारणा जुड़ने लगती है वहाँ नव-लेखन में भी आतंकवादी प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। इधर युवा पीढ़ी के समूचे लेखन में सहसा एक उद्धतता, क्षोभ की उत्कटता और ज़बर्दस्त ज़हरीलापन उभरता मिलता है। मैं इसे आतंकवादी चेष्टा ही मानता हूँ।

भूखी पीढ़ी के एक कवि ने एक कविता लिखी है 'आमार वियतनाम'। इसी कवि ने इस बात पर भी क्षोभ प्रकट किया है कि कविता की बलि संस्कृति के लिए दे दी जाए। इन कवियों ने मिलकर अपने व्यवस्था-संबंधी गुस्से को व्यापक रूप से ज़ाहिर किया है। मुझे याद है कि इन्हीं कवियों में से किसी ने नक्शलबाड़ी तक का ज़िक्र अपनी कृतियों में किया है। लेकिन इन्होंने ही बंगाल की सुरुचि को एक दूसरे स्तर पर भी भयानक धक्का पहुँचाया। अश्लीलता के नाम पर इस पीढ़ी ने काफी आक्रामक रुख़ अपनाया। मैं मानता हूँ कि तथाकथित अश्लील इनके कृतित्व का समग्र नहीं बल्कि एक मामूली हिस्सा है। लेकिन उस पर ज़ोर का कारण सिर्फ़ आतंकवाद का चुनाव ही है जो बलपूर्वक काफ़ी आवाज़ पैदा करते हुए कुछ विस्फोट किए बिना उपलब्ध नहीं हो सकता।

पिछले दिनों जितनी कविताएँ सामने आई हैं उनमें से अनेक में वियतनाम के बारे में एक गहरा क्षोभ है। लेकिन इसके साथ ही भ्रष्ट व्यवस्था के बारे में सुधारक-सुलभ गुस्सा है और फिर एक भयानक या कहूँ, डरावनी नग्नता। भ्रष्ट व्यवस्था के प्रति गुस्से का रूप कुछ इस किस्म का है :

"जब भी मैंने उनसे कहा है कि देश शासन और राशन···
उन्होंने मुझे टोक दिया है।
अक्सर वे मुझे अपराध के असली मुकाम पर
उँगली रखने से मना करते हैं।"

—धूमिल

"क्या अब सारी व्यवस्था खुर्राट वेश्या के
सिफलिस सड़े अंग विशेष-सी नुची-चिथी
बजबजा नहीं चुकी ?"

—केशनी प्रसाद चौरसिया

"क्या दिया तुमने ? महज़ जय हिन्द
फ़कत फ़ाक़ाकशी, आँकड़े, बस आसमानी आँकड़े
और गुत्थमगुत्थई राशन की कसी कतारें
बेरोज़गारी···"

—केशनी प्रसाद चौरसिया

वैसे व्यवस्था से विद्रोह तो है। लेकिन 'न्यूनतम कार्य-क्रम' के लिए प्रतिबद्ध 'विकल्प वाली व्यवस्था' से ज्यादा गहरा नहीं। विकृति पर क्षोभ है, व्यवस्था की बदल के लिए एक अस्पष्ट गुस्सा भी है, लेकिन व्यवस्था की आमूल बदल का बोध बेहद क्षीण है हालाँकि यह भी सच है कि आज से कुछ बरस पहले शायद ही ये बातें कविता का कोई सार्थक और महत्त्वशाली हिस्सा बनाई जातीं। इतने सीधे तौर पर इन बातों को कहना अब तक शायद लेखकीय अनुशासन के विरुद्ध माना जाता रहा है। इस खोखले अनुशासन को आज की पीढ़ी के लेखक ने जिस निर्ममता से तोड़ा है उसके लिए उसे इतिहास में याद किया जाएगा इसमें शक नहीं। दरअसल साहित्य को सीधे समाज से जोड़ने वाले मुहावरे की अनायास ईजाद तो अब हुई है। प्रयोगकाल में चेष्टा के साथ जिस मुहावरे की तलाश की गई थी वह जब हाथ आया तो पता लगा था कि सिर्फ़ वही पुराना मुहावरा है जो हिन्दुस्तान में पिछली एक सदी की हर सतही बदल देती रही है। राजकमल चौधरी ने एक जगह लिखा था, "हमें जनता में रहना चाहिए, कम-से-कम सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, बुद्धिगत, नीतिगत, विद्यागत आन्दोलनों में जनता बनकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता के साथ रहना चाहिए। देश की जनता अन्न का आन्दोलन शुरू कर चुकी है। जब भी उसे मौका मिलता है वह अन्न के सरकारी गोदामों पर हमला कर देती है और उन्हें लूट लेती है। जहाँ भी उसे अवसर मिलता है वह सत्ता के प्रशासनिक जाल को तोड़कर फेंक देती है। लेकिन इन आन्दोलनों में हमारी नई पीढ़ी के ये नैतिक उद्देश्य से प्रेरित लेखक कहाँ हैं ?"

बात करीब-करीब इसी किस्म की पहले भी दो बार हिन्दी में कही जा चुकी थी, लेकिन उसे समूचे आत्मविश्वास के साथ एक समूची पीढ़ी ने पहली बार इतने व्यापक रूप से अपनाया कि साहित्य के शाश्वत मूल्यों पर आए खतरे की चर्चा करने का इस बार शायद ही किसी को मौका मिला हो। शायद मौका इसलिए भी न मिलने पाया हो कि इस पीढ़ी के दूसरे स्तर पर किए जाने वाले आतंकवादी लेखन ने अचानक लोगों को हतप्रभ कर दिया।

●

विकल्प के विवेक-तन्त्र को लाने में युवा पीढ़ी की अपनी असमर्थता कोई बड़ा दोष मानी जाए, इसके कारण मैं नहीं देखता। विकल्प का विवेकतन्त्र लाए बग़ैर 'न्यूनतम कार्यक्रमों' के लिए घटित या संगठित विकल्प की व्यवस्थाएँ अगर ग़लत नहीं हैं तो फिर इस पीढ़ी के अपने इस सीमित स्वभाव के कृतित्व को भी गलत ठहराया नहीं जा सकेगा। बल्कि भ्रंश की चेतना में विकल्प की व्यवस्था के समानान्तर चल सकने की सामर्थ्य इन कवियों-लेखकों ने पाई, यह असाधारण बात है। राजनीति-पिछलग्गू न होकर सामाजिक सन्दर्भ में औसत आदमी को घटाने-तोड़ने-बाँधने वाली मर्यादाओं-मूल्यों से लड़ाई इस पीढ़ी ने की, इस बात को स्वीकृति देनी होगी।

आतंकवाद के कारणों के बारे में थोड़ी-सी बात ऊपर कह चुका हूँ। उसके स्वरूप के थोड़े-से विवेचन से यह बात और साफ़ हो सकती है। यहाँ भी कहना होगा कि श्लीलता, शिष्टाचार और शील को जितना भयानक धक्का इन्होंने पहुँचाया है उतना हिन्दी के इतिहास में इनसे पहले कभी, किसी ने भी नहीं पहुँचाया। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि आतंकवाद न तो 'व्यवस्था का हिस्सा' होता है और न ही 'व्यवस्था की भूमिका' होता है।

१. "झड़ी हुई तीलियाँ लिए मैं चौराहे पर मादरजात खड़ा हूँ।"

२. "टाँग उठाकर समर्पण में ब्रह्मज्ञान मूत गए हैं।"

आजकल बेरोक-टोक लिखी जा रही कृतियों के न जाने कितने उदाहरण दिए जा सकते हैं जो एक ओर यौन-मर्यादा के निर्मम भ्रंश का आतंकवादी प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर परम्परागत सांस्कृतिक बोध को भी तोड़ते हैं। यह विस्फोट आतंकवाद का ही हिस्सा है, लेकिन इन प्रतीतियों को हम खुद सुधारवादी नज़र से देखने के हकदार नहीं हैं। आखिर टेलीफोन का तार काट देने से कौन-सी सामाजिक बदल या क्रान्ति आ जाती है ? जो उद्देश्य वहाँ होता है ठीक वही उद्देश्य इन कृतियों के पीछे है। और यही कारण है कि व्यवस्था के सन्दर्भ में असामाजिक और अस्वीकार्य दोनों ही समान रूप से माने जाते हैं।

पिछले दिनों व्यवस्था से लड़ाई की काफी चर्चा हुई है। मैं यह विश्वास से कह सकता हूँ कि व्यवस्था से लड़ाई का लेखकीय स्तर पर कहीं कोई बड़ा सबूत मिलता है तो वह इन्हीं कृतियों में। बाकी इस मामले में जो कुछ भी किया गया है वह केवल लड़ाई का नाट्य-भर ही है। इसीलिए ग़ौर करने की बात है कि जिन लोगों ने व्यवस्था से लड़ाई का नाटक किया है उन्होंने व्यवस्था से लड़ाई का मतलब अक्सर केवल एक सरकार-विशेष से लड़ना ही लगाया है। व्यवस्था से लड़ाई वह होती है जिसमें समग्र समाज-सांस्कृतिक तन्त्र की समूची बदल का प्रयत्न होता है। और जहाँ यह सीधे सम्भव न हो वहाँ 'न्यूनतम कार्यक्रमों की परम्परा' में किए प्रयत्न ही लड़ाई का रूप लेते हैं या ले सकते हैं।

हाँ यह ज़रूर कहना होगा कि यह लड़ाई, हमारी आज की युवा पीढ़ी द्वारा लड़ी जाने वाली 'न्यूनतम कार्यक्रम की लड़ाई', बौनी लड़ाई है। इसीलिए तो यह व्यक्तित्वहीनों की लड़ाई है। दोनों ही ओर बौनी है—न्यूनतम कार्यक्रमों में भी और विद्रोही पीढ़ी में भी। यह व्यक्तित्वहीनों की लड़ाई है, इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि किसी समग्र विवेकतन्त्र के आधार पर क्रान्ति लाने वाला या क्रान्ति का दर्शन देने वाला व्यक्ति इसकी सीधी हिस्सेदारी नहीं कर रहा है। अक्सर दर्जनों कवि एकत्र होकर, एक-जैसे शब्दों में एक-जैसी प्रतीतियों के साथ जब कोई एक बात कहते हैं तभी वह सुनी जा पाती है। और अक्सर ऐसा भी हुआ है कि बात एक ही,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कोई बहुत मामूली-सी कही गई लेकिन उसके लिए शक्ति-व्यय बहुत-से लोगों ने एक साथ किया है। ठीक वैसे ही जैसे दस हज़ार लोगों की भीड़ मिलकर किसी पुलिसवाले की टोपी छीन ले या चौराहे की बत्ती तोड़ दे।

आखिर क्यों ऐसा है कि ऐसी कई कृतियाँ अक्सर एक साथ मिलाकर रख देने पर या तो एक ही कवि की लिखी मालूम देती हैं या फिर कई कवियों द्वारा लिखी एक ही लम्बी कविता मालूम होती हैं? कारण एक ही है कि यह गुस्सा समूह का गुस्सा है और यह चीख समूह की चीख है। चुनौती भी समूह की ही चुनौती है। बंगला में 'भूखी पीढ़ी' संकलन निकलता है। 'विद्रोही पीढ़ी' हिन्दी में निकला था। 'अस्वीकृत कविता' और 'युयुत्सावादी लेखन' भी इसी किस्म से सामूहिक वक्तव्यजीविता का ही सुबूत हैं। 'असौ पीढ़ी', 'दिगम्बर पीढ़ी,' 'बीटनिक पीढ़ी,' 'नाऊ जेनेरेशन'—ये सभी व्यंजनाएँ इस बात को स्पष्ट कर सकती हैं कि युवा पीढ़ी का कृतित्व अधिक-से-अधिक सामूहिक ज़िम्मेदारी बनता गया है। यह स्थिति न्यूनतम कार्यक्रमों के लिए गठित व्यवस्था से किसी भी तरह भिन्न नहीं है।

लेकिन सवाल यह है कि न्यूनतम कार्यक्रम किसी बड़ी बदल को तो ला ही नहीं सकते। यही नहीं बल्कि किसी एक मझोले किस्म के सवाल पर मझोले किस्म का गुस्सा ज़ाहिर करने के अलावा कोई बड़ा गुस्सा भी ज़ाहिर नहीं कर सकते। बड़े गुस्से के पीछे भीड़ का बल तो होता है लेकिन भीड़ स्वयं बड़ा गुस्सा जाहिर करने के लायक नहीं हुआ करती। इसके लिए भीड़ को खुद भी एक विकल्प की अनुशासित व्यवस्था बनना होता है। आज के साहित्य के सन्दर्भ में यहाँ हालत थोड़ी-सी बदल चुकी है। कोई भी व्यवस्था हो, वह आदमी से, कम-से-कम स्रष्टा से बड़ी नहीं होती, यह धारणा काफी बल पा चुकी है। यहाँ मैं स्रष्टा दो-चार तेज़ कविता-कहानी लिखने वाले को नहीं मान रहा। स्रष्टा उसे मान रहा हूँ जो समूचे युग-सन्दर्भ में बदले के लिए एक बड़ा विकल्प संकलित कर सके। या अगर समग्र रूप में ऐसा न कर सके तो इतना ज़रूर कर सके कि ऐसे विवेकखण्डों में से किसी एक का निर्माण कर सके जो आपस में मिलकर एक नई व्यवस्था बन सकें।

यहाँ मैं अपने को या अपने जैसे उन लेखकों को शामिल नहीं करता जो एक व्यवस्था के बाद किसी अन्य व्यवस्था को लाने में विश्वास नहीं करते। ऐसे लोगों की स्थिति समाज में उनका भविष्य ही निर्धारित कर पाएगा, अगर उनके प्रयत्नों के बावजूद समाज बना रहा तो।

हाँ, एक बात और स्वीकार करनी होगी। परम्परा समान होने के बावजूद इस नई पीढ़ी के गुस्से और यूरोप में जेने अथवा सार्त्र आदि के गुस्से की ऊँचाई में काफी अन्तर है। अन्तर की विवेचना यहाँ उतनी आवश्यक नहीं है क्योंकि इसके लिए बड़ा विषयान्तर संभव है। स्वभाव में अन्तर न होने के कारण मैं कद के इस भेद की विवेचना के बजाय इन बातों पर ध्यान देना ज़्यादा अच्छा समझूँगा कि इस किस्म के लेखन ने दो बड़े काम कर दिए। एक तो यह साबित कर दिया कि सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भों का साहित्य से सीधा रिश्ता होता है और दूसरा सबूत इस बात का भी दिया कि ऐसे रिश्ते से जनमा साहित्य अपने-आपमें कलात्मक महत्त्व की उपलब्धि बनता है।

•

पिछले दिनों इस नई पीढ़ी ने साहित्य-चिन्ता से थोड़ा अलग हटकर जो सोचना-लिखना-करना शुरू किया उस पर भी थोड़ा-सा विचार आवश्यक है। पिछले दिनों युवा कवि कमलेश ने हिन्दी में एक समाचार साप्ताहिक 'समवाय' का प्रकाशन किया। संयोग नहीं है कि इसमें उनके सहयोगी अधिकांशतः नए कवि और लेखक ही रहे हैं। कमलेश्वर ने इसी किस्म के एक और साप्ताहिक 'इंगित' का सम्पादन किया। कंचनकुमार और इन्दिरा मुद्राराक्षस ने इसी किस्म के एक और अंग्रेज़ी समाचार साप्ताहिक 'ज़ीरो' का प्रकाशन किया। ये सभी प्रयत्न साहित्यिक जिजीविषा से अलग हटकर हुए हैं, यह ध्यान देने की बात है। नई पीढ़ी के रचनागत गुस्से की भूमिका के लिए यह एक आवश्यक तत्त्व है। इधर सुपरिचित कवि रघुवीर सहाय और कैलाश वाजपेयी के हाल में प्रकाशित संकलनों को देखकर आज से दस-पाँच बरस पहले की स्थिति में ठहरे आदमी को गहरा आश्चर्य हो सकता है कि एकबारगी ही कवि के कथ्य में आमूल बदल होकर कविता सीधे समाज और समय से आ टकराई है। रघुवीर सहाय की एक कविता 'मेरा प्रतिनिधि समवाय' में छपी थी। यह इसलिए नहीं छपी थी कि समवाय को एक कविता छापनी थी बल्कि इसलिए छपी थी कि यह कविता स्वयं एक सामाजिक घटना थी, बोध के स्तर पर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर जो गुस्सा नई पीढ़ी का सामने आया है उसमें एक बात और काफी मार्के की है। देश और अपनी धरती के बारे में कवि का रुख पहले से काफी बदल गया है। 'भारत माता ग्रामवासिनी' के कवि की तुलना में दूधनाथसिंह की कविता 'हुख् मेरी धरती' यथावत् स्थितिप्रिय साधारण चोट को नहीं पहुँचाती। 'आमार वियतनाम' में तो धरती से जुड़ी राजनीति को स्पष्ट चुनौती देने का प्रयत्न है जहाँ कवि ने 'हाजीपीर' के बारे में लिखा है—"कुछ लोग अपने-आप निर्णय करते हैं कि कब हाजीपीर किस देश में शामिल हो जाए।"

व्यवस्था की आमूल बदल की एक क्षीण और बिखरी हुई चेष्टा का प्रमाण ज़रूर इसमें मिलेगा।

हाँ व्यवस्था की बदल के लिए विकल्प के किसी दूसरे विवेकतन्त्र की साझेदारी में लिखी जाने वाली कृतियों की तुलना में इनका स्वभाव अलग है। ये प्रतिबद्ध केवल इसी अर्थ में हैं कि व्यवस्था की बदल के लिए इनमें एक वैयक्तिक जिज्ञासा है जो इन जैसे लोगों की एक 'भीड़ से सम्मत जिज्ञासा' बनी हुई है।

यूरोप में उभरे पिछले बीस-तीस बरस के लेखन का स्वभाव भी संयोग से ऐसा ही है। जेने, बेकेट, आयोनेस्को, सार्त्र, अदामाव आदि की कृतियों ने जहाँ आतंकवाद का मुहावरा अपनाया है वहाँ उन्होंने वर्तमान परिवेश की परिभाषाओं के माध्यम से व्यवस्था की बदल का वैयक्तिक प्रयत्न भी किया है। हिन्दी की नई पीढ़ी इसीलिए अनायास ही इनसे जुड़ती है। जिन्होंने आज के समाज के गुस्से की हिस्सेदारी सीधे तौर पर नहीं की वे स्पष्ट रूप से दो अलग दिशाओं में गए हैं। एक ने प्रतिबद्धता और व्यवस्था से लड़ाई का नारा लगभग वैसे ही समारोह के साथ लगाया है जैसे समारोह के साथ व्यवस्था स्वयं परिवार नियोजन सप्ताह या वन-महोत्सव मनाती है। दूसरे ने सिर्फ शब्दार्थ के स्तर पर हुई बदल को ही समूची उपलब्धि मान लिया है। प्रेम शब्द सहवास में बदल गया तो इनके लिए बदल पूरी हो गई। आज की अभिव्यंजना में जो सतही एनार्की आई है उसके लिए ये दोनों ही समान रूप से ज़िम्मेदार हैं।

दरअसल पिछले कुछ दिनों से एनार्की हिन्दी में है। लेकिन इस एनार्की के निश्चय ही दो स्तर हैं। जैसे हड़तालें या आन्दोलन होते हैं तो उससे पैदा हुई गड़बड़ के दो स्तर हुआ करते हैं। एक स्तर तो वह होता है जिसमें किसी खोमचेवाले की दुकान लुट जाती है या पुलिसमैन की घड़ी छिन जाती है और दूसरा स्तर वह होता है जिसमें पुलिस चौकी पर धावा हो जाता है या रेलवे स्टेशन पर आग लगा दी जाती है। छिछोरी एनार्की खोमचेवाले की लूट है। प्रेम शब्द के सहवास में बदलने से जो एनार्की पैदा होती है वह स्वयं ऐसी ही लूट है। एक दूसरी एनार्की पैदा होती है विवेक-तन्त्र के विकल्प के बारे में अनिश्चय होने के कारण।

अन्त में युवा लेखन के स्वभाव की परिचायक एक बात से इसे समाप्त करना चाहूँगा। तरुण उर्दू समीक्षक महमूद हाशमी का एक जुम्ला है: इस हिन्दुस्तान में इन्कलाब आएगा नहीं बल्कि पड़ेगा जैसे क़हत पड़ता है।

ज़ाहिर है कि यह थोड़ा-सा मसीहाई भी है और थोड़ा-सा आतंकवादी भी और इसी के साथ आमूल बदल के स्थान को स्वीकारने वाला भी।

●

युवा लेखन : रचना-दृष्टि पर एक बहस

सुरेन्द्र चौधरी

रचना और आलोचना के बीच संवाद के दरवाज़े बंद कर दिए जाएँ, इससे घातक स्थिति दूसरी नहीं हो सकती। युवा लेखन पर बहस के दौरान अक्सर ऐसा ख़तरा पैदा हो जाता है। दुराग्रह एकतरफ़ा है, ऐसा नहीं कहूँगा। कठिनाई यह है कि एक ओर जहाँ समकालीन रचनात्मक मानस की जटिलताएँ स्वीकार कर ली जाती हैं, वहीं दूसरी ओर, साथ-साथ, इस जटिलता को नक़ली सप्रश्नता के साथ चुनौती भी दी जाती है। नवलेखन पर चलाई जानेवाली बहसों का यह अन्तर्विरोध ही स्थिति को अपरिभाषित बनाता है। साथ ही यह भी सही है कि नवलेखन का कोई एक विचार-मंच नहीं है। नवलेखन की आंतरिकता को पहचानने के बजाय हम उसके आन्दोलन वाले रूप पर ही ज़ोर देते रहे हैं।

पिछले डेढ़ दशकों में देश की वस्तुस्थिति में और मानस में आधारभूत परिवर्तन हुआ है। इस मानसिक भूगोल का मानचित्र खड़ा करना यहाँ ज़रूरी नहीं है। स्वार्थों, शक्तियों और आन्तरिक समझौतों की राजनीति के बीच मध्य वर्ग का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक हिस्सा तेज़ी से इस प्रवाह से कटता चला गया। आज़ादी के बाद जन-आन्दोलन एक सिरे से गायब हो गए। किसी विशेष दिशा के अभाव में यह मानसिक पराभव ज़ोर पकड़ता गया। अलगाव और अस्तित्व-संकट की समस्याएँ इसी ज़मीन पर पैदा हुईं। वैसे तत्काल इसे हम समझ नहीं सके। अधिकांश रूप में लोग प्रतीक्षारत थे। उन्होंने अपनी राजनीतिक चेतना का समर्पण कर दिया था। प्रतीक्षा और अलगाव का अन्तर्विरोध धीरे-धीरे बढ़ता गया। प्रतीक्षा धीरे-धीरे पीड़ास्पद हुई और फिर हमारा मोहभंग हुआ।

नई पीढ़ी जब अपने अलगाव की घोषणा कर रही थी और अस्तित्व के संकट की चर्चा कर रही थी, तब हमारे अधिकांश बुज़ुर्ग लोगों ने इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मुहावरा कहकर खारिज कर दिया। पूरी पीढ़ी के जीवन-बोध को नकली और उधार लिया गया घोषित कर हम तत्काल संतुष्ट चाहे हो गए हों, उस मानसिक ज़मीन को हम सचमुच ही पहचानने से इनकार करते रहे, जिसके भीतर हमारी रचनात्मक चेष्टाएँ व्यर्थ हो रही थीं। इस मानसिक ज़मीन की बनावट ऊपर से नकारात्मक थी। मगर इसकी हलचलों के भीतर क्या था, इसे हम नज़रअंदाज़ करते रहे। परिणाम यह हुआ कि रचना और आलोचना के दरवाज़े क़रीब-क़रीब बंद हो गए। मैं अपनी पीढ़ी से बातचीत के दरवाज़े खोलना चाहता हूँ।

मानसिक पराभव की तस्वीर, यदि ऐसा मान लें, तब तक पूरी नहीं होती, जब तक हम इस पराभव से घिरे हुए लोगों के संकट को ठीक-ठीक पहचान नहीं लेते। क्या हमारी पीढ़ी का संकट उतना ही निजी था, जितना वह ऊपरी दृष्टि से मालूम पड़ता है? क्या इस संकट की परिधि में एक पूरी पीढ़ी का जीवन-बोध नहीं आ जाता? क्या इसी संकट के भीतर हमारे अनुभव नहीं परिभाषित होते? इन सवालों पर गहराई में जाकर विचार करने की अपेक्षा है। हमें आश्चर्य इस बात से होता है कि अपने को सिद्धान्त-सम्पन्न माननेवाले लोग भी हमारे संदर्भ में वही नारा देते हैं जो नारा व्यावसायिक स्वार्थ वाले लोगों का है। हम दोनों ओर से हमलों के शिकार हो रहे हैं। यह दुतरफ़ा हमला हमें काफ़ी रहस्यमय मालूम पड़ता है।

अलगाव और अस्तित्व-संकट की बात हमारी पीढ़ी हवा से नहीं कर रही। यह समस्या हमारी 'मानवीय वास्तविकता' की है। इस अस्तित्ववादी पारिभाषिक शब्द की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। इतिहास हमें एक स्थिति के बीच प्रतिष्ठित करता है और हम अपने प्रयत्नों से इस स्थिति को लाँघने की चेष्टा करते हैं। वैसे अस्तित्व की दूसरी आकस्मिकताएँ भी हैं। अपने को एक विशेष स्थिति के भीतर रखकर हमारा प्रयत्न उसे लाँघने का होता है, **यही हमारी रचनात्मक लड़ाई है, यही हमारे लेखन की सार्थकता है।** स्थिति को केवल नकारते हुए लड़ा नहीं जा सकता, यह सही है। मगर नकार की एक अपनी सचाई होती है। **इसी नकार के भीतर हम अपनी यंत्रणा को स्वीकार करते हैं। इसी दुहरे दबाव के भीतर आज की रचना-दृष्टि सार्थक होती है।** जो लोग इस दुहरे दबाव को महसूस नहीं करते वे या तो हमारे मुहावरे चुराते हैं, या फिर पूरी पीढ़ी के साथ एक व्यावसायिक खेल खेल रहे हैं। हमारी पीढ़ी की रचनात्मक लड़ाई का यह एक आंतरिक आयाम है।

युवा लेखन पर चलाई जानेवाली बहस का टोन स्थिर करने के पहले उसकी विषय-परिभाषा कर लेना मुझे उचित नहीं मालूम पड़ता। नवलेखन एक 'बंद पद्धति' नहीं है। ऐसा करना पूरी बहस को अधूरा, निष्कर्षहीन और भ्रामक बनाना होगा। आज की पीढ़ी की रचना-दृष्टि को सही-सही पहचानने के बजाय उस पर सीधे निर्णय दिए जाते हैं। हम न तो ऐयाश प्रेत हैं और न भूतों के प्रेत! हमें यह नाम बिचली पीढ़ी दे रही है। हम अदेह राजनीति के धर्मवीर नहीं हैं। **चूँकि देह हमें दुनिया में गोचर करती है, इन्द्रिय-ग्राह्य अनुभवों से सम्पन्न करती है और दुनिया के मूर्त रिश्तों के बीच प्रतिष्ठित करती है, इसलिए हमारी राजनीति देह को नकारती नहीं। हाँ, हम पिछली पीढ़ी की तरह देह को वर्जित प्रदेश नहीं मान रहे और न देह को राजनीति का हमारे लिए केवल यौन आयाम ग्राह्य है।** देह मेरे और मेरे जैसे समस्त दूसरों के बीच सेतु का कार्य करती है। प्रश्न केवल देह की अमूर्त परिभाषा का नहीं, देह और देह के बीच मूर्त रिश्तों का है। हमारे लिए देह की अनेक यातनाएँ हैं, वह हमें मूर्त-अमूर्त सभी देशों में आज गति दे रही है, इसलिए देह को हम अस्पृश्य नहीं मानेंगे। देह का दुरुपयोग करने में जैनेन्द्र और अज्ञेय से कमलेश्वर और भारती भिन्न नहीं हैं। और आश्चर्य यह कि यह सारा दुरुपयोग नैतिक आग्रह की घोषणा के साथ हुआ है!!!

बिचली पीढ़ी के आर्यसमाजी आलोचक देह की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति को तो देखते हैं, मगर उसके विस्तार को नहीं देख पाते। यह विस्तार हमें जीवन की वास्तविकताओं से जोड़ता है। देह में ही पेट भी है, इसे हम भूले नहीं हैं। आवेश के शुद्ध भावनात्मक रिश्ते आज की दुनिया में बन पाते हैं, इसमें अगर हमें विश्वास नहीं है तो ज़िम्मेदारी हमारी नहीं है। एक व्यवस्था ने इस दुनिया का अरसे तक भावनात्मक दोहन कर उसे निरूदित कर दिया है। देह की राजनीति का हौआ खड़ा करने वाले लोग अपने साहित्य में कौनसे भावनात्मक नए रिश्ते गढ़ सके यह हमें नहीं मालूम! **उनके लेखन से हमें कोई उत्तर नहीं मिलता।**

आज भी जब कुछ लोग देह को बाहरी संस्कारों की सीमा में परिभाषित करना चाहते हैं तो उनसे हमारी रचना-दृष्टि अलग हो जाती है। देह के अमूर्त सम्मोहन से निकलकर यदि समकालीन लेखक उसे उसकी सही स्थिति के बीच प्रतिष्ठित कर रहा है, तो इसमें क्षुब्ध होने का कोई बौद्धिक कारण मुझे नहीं दीखता। चेतना अथवा संस्कारजन्य नैतिकता के सारे नियम देह पर ज्यों-के-त्यों लागू नहीं किए जा सकते; नैतिकता व्यवहार से बराबर पराजित होती है। क्या हमारी बिचली पीढ़ी के लेखक व्यवहार की दुनिया में आँखें खोल सकेंगे? देह की अपनी समस्याएँ हैं, अपने स्वतंत्र नियम हैं। देह की इन ठोस मूर्त समस्याओं को नज़रअंदाज़ कर उस पर टिप्पणी करना मुझे उचित नहीं मालूम पड़ता।

अकसर ऐसा हुआ है कि देह की दुहरी और परस्पर-विरोधी विवशताओं तथा अनिवार्यताओं पर बिचली पीढ़ी की रचना-दृष्टि टिक नहीं पाई है। **वे आत्मा की भाषा में देह की समस्या हल करते रहे हैं।** परिणाम यह हुआ है कि उनका साहित्य देह के एक पक्ष की अनिवार्यता को देह की संपूर्ण अनिवार्यता मानकर उस पर टिप्पणी करता रहा है। समकालीन रचना-दृष्टि के भीतर देह की इस दुहरी विवशता को पूरी तत्परता के साथ स्वीकार किया गया है। वास्तविकता के तात्कालिक ढाँचे के भीतर देह की समस्या क्या रूप ग्रहण करती है इसकी ओर से आज की रचना-दृष्टि बहुत तत्पर है। सार्त्र ने ठीक ही लिखा है—"देह को हम भोगते हैं, हम उसे जानते नहीं।" उसकी ज्ञेयता प्रत्यक्ष नहीं है और न स्वयंसिद्ध ही। उसे हम अन्य शरीरधारियों से पुनस्संगठित करते हैं।

न तो समाज एक कल्पित सत्ता है और न सामाजिक रिश्ते कल्पित स्थितियों में बनते हैं। ऐसी हालत में सामाजिकता का नारा देने वालों से यदि हमारी माँग है कि वे अपने साहित्य में उस सामाजिकता के तथ्यबद्ध रूप का निदर्शन करें, तो यह गलत नहीं है। अक्सर युवा लेखन की आलोचना इस दृष्टि से की जाती है कि उसमें सामाजिकता का अभाव है। हमें मालूम है कि हर ऐतिहासिक उत्थान में व्यक्ति और समाज की अन्तःक्रिया की न एक ज़मीन होती है और न एक-सी गति। आज़ादी के बाद जन-आन्दोलन लगभग समाप्त हो गए, वर्ग-संघर्ष शिथिल हो गया। ऐसी स्थिति में सामान्य जनता के जीवन-प्रवाह से मध्यवर्ग का कट जाना एक ऐतिहासिक अनिवार्यता हो गई। जनसामान्य के जीवन से न बिचली पीढ़ी का साहित्यिक रिश्ता बना रह सका और न उस अर्थ में हमारी पीढ़ी का ही। मगर इधर परिस्थिति की जड़ता टूटी है और व्यापक राष्ट्रीय स्तर पर जन-आन्दोलन की संभावनाएँ स्पष्ट होने लगी हैं। इसी अनुपात में नवलेखन का स्वर भी बदला है, इसमें सन्देह नहीं। हाँ, अभी तक हम जनजीवन के बीच अपने रचनात्मक प्रयत्नों को स्थापित कर सके हैं, ऐसा कहना गलत होता। आज की स्थिति के भीतर यह संपूर्ण संलग्नता वैचारिक ही हो सकती है। ऐसा नहीं है कि युवा लेखन के भीतर इस जड़ता को तोड़ने का प्रयत्न नहीं चल रहा है। हाँ, इन प्रयत्नों को हमारी पीढ़ी साहित्यिक ओवरटोन नहीं दे रही। आज का युवा मार्क्सवादी लेखक इस ओर से बहुत सचेष्ट है कि वह यथार्थवाद और सामाजिकता के नाम पर रहबर की पीढ़ी की गलतियाँ न दुहराए।

सामाजिक जड़ता के बीच वर्गों की स्थितियाँ साफ नहीं होतीं, उनके भीतरी तनावों की भूमि स्पष्ट नहीं होती और न उनकी टकराहटों का स्वरूप ही ठीक-ठीक पहचान में आ पाता है। इसी सामाजिक जड़ता के भीतर युवा लेखन उसकी आन्तरिक टकराहटों को पकड़ने की चेष्टा कर रहा है। इसी जड़ता और अलगाव के भीतर आक्रोश और नकार का स्वर उभरता है। पीड़ा की स्वीकृति की ज़मीन भी शायद यही है। **एक आततायी जड़ता के भीतर हमारा नकार वस्तुतः एक बृहत्तर स्वीकृति की चेष्टा है।** हम साहस के साथ ख़तरों के बीच स्थितियों को नकारते चल रहे हैं। फ़ासिज़्म, व्यावसायिकता और पूँजीवाद के ख़तरों के प्रति हमारी पीढ़ी पूरी तरह सचेत है। नकार हमारी आंतरिक स्वतंत्रता का प्रमाण है। हम जीवित हैं, इसलिए नकारने को स्वतंत्र हैं। हमारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीढ़ी इस व्यापक जड़ता के बीच भी कहीं-न-कहीं आन्दोलित हो रही है। पिछले पाँच वर्षों में युवा लेखन के भीतर नकली आत्महत्याएँ बंद हो गई हैं।

अपने को ही बार-बार तोड़ते, नकारते और लाँघते चलने के क्रम में जिस मानवीय वास्तविकता को हम अर्जित करते हैं, उसे किसी कृत्रिम भावनात्मक सत्य से हम बदलना नहीं चाहते। बिचली पीढ़ी के एक कवि ने ठीक लिखा है—

चीख कर हम जानते नहीं,
हम क्या बनाते हैं
जब हम दफनाते हैं
एक हताश लड़के की लाश बार-बार
एक बेबसी, थोड़ी-सी मिटती है।

—'आत्महत्या के विरुद्ध'

घटित का यही मर्म है। आज की सामाजिक वास्तविकता की परत चीरकर यही मर्म तो हमें स्पर्श करता है। हम कुछ न बनाते हुए भी चीखने को विवश हैं। धूमिल ने ठीक लिखा है—"मगर यह वक़्त घबराए हुए लोगों की शर्म आँकने का नहीं है।" हम तत्काल अपने सवालों से जूझ रहे हैं। ये सवाल हमसे बड़े नहीं हैं। आदमी से बड़ा कोई सवाल नहीं होता। हमें स्वतंत्रता के नाम पर किसी बड़े सवाल की जिज्ञासा नहीं है। स्वतन्त्रता भी हमारे लिए अमूर्त सम्मोहन नहीं है, गोकि वह पूरी संभावना है। नवलेखन के भीतर स्वतंत्रता को मूर्त करने की एक अनवरत प्रक्रिया चल रही है। इसी स्तर पर हमारी छोटी चेष्टाएँ भी अर्थवान् हैं।

वास्तविक स्वतंत्रता से कुछ लोग भयभीत होते हैं। हमारे बीच भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो हमारी स्वतंत्रता से भयभीत हैं; क्योंकि स्वतंत्रता एक उत्तरदायित्व है। उत्तरदायी पीढ़ी आततायी हो सकती है, इसका खतरा हमेशा उन्हें है जिन्होंने पिछले बीस वर्षों में केवल 'स्वार्थ की राजनीति' अपनाई है और केवल उत्तरदायित्वहीन आचरण सीखा है। ऐसे लोग स्वभावतः हमारी स्वतंत्रता को ग़लत नाम देंगे। उनसे किसी भी नाम की आशा की जा सकती है। जिससे लड़ाई होती है, उससे शिकायत नहीं की जाती। हमारी शिकायत उनसे नहीं है। हमारी शिकायत तो अपने बीच के लोगों से है जो प्रसंगात हमारे करीब आकर फिर दूर चले जाया करते हैं। ऐसे प्रसंगों की चर्चा यहाँ अप्रिय हो जाएगी।

कुछ लोगों की शिकायत है कि हमारी पीढ़ी उत्तेजना की निरंतरता में जीना चाहती है। बात कुछ हद तक सही है। हम उत्तेजना की निरंतरता में इसलिए जीवित रहना चाहते हैं कि रुककर प्रश्नों की यातना से पीड़ित होना नहीं चाहते, क्योंकि तत्काल हमारे पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। यह एक सही मनःस्थिति है, मगर यह जायज़ भी है ऐसा मैं नहीं कहता। दूसरों के पास भी हमारे प्रश्नों का उत्तर नहीं है, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं। यंत्रणा हमें भीतर से निरुदित कर रही है, ऐसी स्थिति में हमारी उत्तेजना जीने की इच्छा को ही मूर्त करती है। प्रतीक्षा कितनी ही यातनापूर्ण क्यों न हो, वह हमें कमज़ोर और अनैतिक बनाती है। पिछली पीढ़ी इसी प्रतीक्षा के बीच कमज़ोर होती हुई अनैतिक हो गई—उसे बड़े पैमाने पर समझौते करने पड़े। इसीलिए हम प्रतीक्षा नहीं कर रहे हैं। हम अपने वर्तमान को अपनी सामर्थ्य-भर जीते हुए लाँघने की चेष्टा कर रहे हैं।

बाहर से घटनाएँ रचनात्मक मानस को आज आन्दोलित करने लग गई हैं। हम इन घटनाओं की गहराई में जाकर उनसे प्रभावित होने लग गए हैं। मगर इन हलचलों को जज़्ब करते हुए हमें इस बात का भी पूरा एहसास है कि आवेश व्यर्थ है, कि वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक आयत्त करना भावनात्मक प्रतिक्रिया से ज्यादा अर्थ रखता है। हमारे मानसिक आक्रोश की यही भावभूमि है। नकार की गति और लय के भीतर एक पूरी विद्रोही पीढ़ी जन्म ले रही है, इसका अनुमान कर लेना बड़ी बात नहीं है। वस्तुतः नकार की गति और लय ही विद्रोह को घनता देती है। देश की जड़ता के टूटने की स्थिति हमारे सामने है।

इस जड़ता को तोड़ने का काम हमारी पीढ़ी के नकार से शुरू होता है। जो लोग कल्पित मूल्यों की राजनीति का सम्मोहन गढ़ रहे थे, उनकी स्थिति साफ़ हो गई है। यही कारण है कि **युवा लेखन किसी गहरे आत्ममंथन का दार्शनिक आभास नहीं देता।** उसमें स्थिति को बार-बार तोड़ने की यंत्रणा है। यह यंत्रणा एक गहरे आत्मसंकट में उत्पन्न हुई है, हमारे अस्तित्व का प्रश्न बन गई है। अस्तित्व के प्रश्न को ज्यादा जटिल न बनाया जाए तो उसे मानवीय सत्ता की मानवीय सत्ता के रूप में पहचान कहकर भी संतोष किया जा सकता है। चूँकि मानवीय वास्तविकता वस्तुओं की सत्ता से पृथक् है, इसलिए युवा लेखन अपनी रचना-दृष्टि के भीतर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी वास्तविकता को पूरे विस्तार में उपलब्ध करने के लिए प्रयत्नवान है। **सामाजिक रूप से हमारे आत्मनिर्वासन ने इस प्रयत्न को और भी तीखा बना दिया है।**

जो लोग इतिहास को रसायन समझते हैं और संश्लिष्ट इतिहास की बात करते हैं उनसे हमें कुछ नहीं कहना है। आत्मनिर्वासन को इसीलिए **हम एक विशेष ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, उसकी वास्तविकता के भीतर हम अपनी सत्ता और स्वतंत्रता के प्रश्नों का निर्णय करते हैं।** यह आत्मनिर्वासन जिस सामाजिक ढाँचे के भीतर चल रहा है, उसके टूटने के लक्षण स्पष्ट हो रहे हैं। संभव है, भविष्य में सचेत व्यक्ति के लिए निर्णय, स्वतंत्रता और कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न करे, मगर नव लेखन उस परिस्थिति के साक्षात्कार से कतराकर अपना मार्ग तय करेगा, ऐसा मुझे नहीं मालूम पड़ता। अपनी पीढ़ी के आत्मसंघर्ष में मुझे विश्वास है।

●

वक्तव्यों और वक्तव्यों की लड़ाई

विजय मोहनसिंह

युवा लेखन-सम्बन्धी सारी बहस इन दिनों दो अतिवादी स्थितियों में उलझ गई है : एक ओर 'आक्रमण' और 'आरोप' वाली स्थितियाँ हैं और दूसरी ओर 'जस्टीफ़िकेशन' और 'रेशनलाइज़ेशन' वाली प्रवृत्तियाँ हैं। तथ्यपरक और वस्तुस्थिति से सम्बन्ध रखने वाली बातों का—इन दोनों अतिवादी छोरों में कोई स्थान नहीं रह गया है। सबसे मजेदार बात तो यह है कि यह 'रचनाकार' और 'रचनाकार' के बीच की बहस है—'आलोचक' इसमें प्रायः तटस्थ है या उपेक्षित है और यह 'अतिवादिता' आलोचक की स्थिति के अस्वीकार के कारण भी है।

'रचनाकारों' की यह लड़ाई 'रचना' के माध्यम से न होकर 'वक्तव्यों' के माध्यम से हो रही है—यह 'वक्तव्यों' और 'वक्तव्यों' की लड़ाई है। 'रचना' का इससे कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। बल्कि यह लड़ाई जिस समस्या को सामने ला रही है वह 'रचना' और 'वक्तव्य' के विरोधाभास की समस्या है। कभी आलोचक रचनाकार के लिए ज़मीन तैयार करता था, अब रचनाकार वक्तव्यों द्वारा अपनी रचना के लिए रास्ता खुद साफ़ करने में लगा है। 'रचना' और 'वक्तव्य' दोनों विरोधी दिशाओं में बढ़ रहे हैं पर उनमें समानता या समानान्तरता दिखाने के लिए परस्पर-विरोधी वक्तव्य दिए जाते हैं—विरोधाभास और बढ़ता है। वरना कल तक 'नई पीढ़ी' के 'समानान्तर' होने की कोशिश करने वालों को 'सुधारवादी वक्तव्य' देने की क्या ज़रूरत थी! कारण शायद यह है कि 'रचना' चाहे जिस वजह से की जाती हो, 'वक्तव्य' कुछ 'तात्कालिक ज़रूरतों' के दबाव से ही दिए जाते हैं।

'युवा लेखन' को 'विकृत' या 'मारबिड' कहना नया नहीं है—हिन्दी में या दुनिया के किसी भी साहित्य में। (इन दिनों युवा लेखन सम्बन्धी सारी बहसों का केन्द्र यह 'मारबिडिटी' ही हो रही है।) फ़र्क यह है कि इस बार आक्रमण आलोचक की ओर से ज्यादा नहीं हो रहे हैं जैसा कि हुआ करते थे। 'छायावाद' को महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल आदि ने जो कुछ कहा हो, रत्नाकर, गुप्तजी या हरिऔध ने कुछ ज्यादा कहने की ज़रूरत नहीं समझी। इसी तरह 'प्रयोगवाद' की धुनाई छायावादी और प्रगतिवादी आलोचकों ने चाहे जितनी की हो, पन्त, महादेवी, बच्चन या नरेन्द्र शर्मा ने शायद ही कुछ कहा हो। लेकिन इस बार एक पीढ़ी के रचनाकारों का परवर्ती पीढ़ी की रचनाओं के लिए एकाएक खड्गहस्त हो जाना निश्चित रूप से कुछ विशेष मानी रखता है। साहित्य के इतिहास में यह काफी बेतुकी प्रवृत्ति है। पर फिलहाल बड़ी स्वाभाविक भी है—स्वाभाविक लेकिन साहित्यिक बिलकुल नहीं। कमलेश्वर, भारती या राकेश के लेखों ने और युवा लेखकों में एक जमात ने बिना सोचे-समझे उनकी हाँ-में-हाँ मिलाने में तथा कुछ छोटी कैक्टस और नागफनी ब्राण्ड पत्रिकाओं में छपी तीखी खरोंच-भरी प्रतिक्रियाओं ने भी यह पूरी तरह सिद्ध कर दिया है कि इन सारी बहसों का उत्स साहित्य से अलग कहीं और है। यह 'कहीं और' किसी समाजशास्त्रीय अध्ययन में नहीं, उन्हीं 'तात्कालिक ज़रूरतों' में ही है। आज के साहित्यिक दौर की (जिसमें सभी पीढ़ियाँ शामिल हैं) एक बड़ी विडम्बना यह है कि बहसों-विचारों तथा आरोपों-प्रत्यारोपों का सम्बन्ध बुनियादी प्रश्नों और विचारधाराओं से बिलकुल नहीं रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। मूल में केवल 'तात्कालिक ज़रूरतें' ही रह गई हैं। मैंने अन्यत्र इसका ज़िक्र भी किया था कि इसका सम्बन्ध उस प्रक्रिया से भी है, जिसके अन्तर्गत आज के साहित्य का अधिकांश तेज़ी से 'पत्रकारिता' में परिवर्तित होता जा रहा है।

ये 'तात्कालिक ज़रूरतें' क्या हैं, इसे बताने की ज़रूरत नहीं। ज़्यादातर लोग उनसे परिचित, उनके शिकार या उनके माहिर हैं।

'युवा लेखन' पर अश्लीलता, कुंठा, विकृति आदि के 'स्टॉक-आरोप' एक मंच से लगाए जाते हैं—उन्हें 'वाणी-वितान' से सिद्ध भी किया जाता है और दूसरे मंच से तात्कालिक ज़रूरत समझकर 'तथापि' 'इसके बावजूद' आदि लगाकर उन्हीं रचनाओं को महत्त्वपूर्ण भी सिद्ध कर दिया जाता है। लगता है हम कोई जादू का करिश्मा देख रहे हों—नज़रबंदी मार्का! जिसमें बताया जा रहा हो कि अभी यह रूमाल था और देखते-देखते कबूतर बन गया! इन 'तात्कालिक ज़रूरतों' के और भी अनेक चेहरे हैं, पर उनका ज़िक्र यहाँ अनावश्यक है। वस्तुतः यह पूरी स्थिति गम्भीर और चिन्त्य होने से अधिक हास्यास्पद और दयनीय है। ज़रा कल्पना कीजिए कि आपने बड़े भोले और सहज ढंग से अपनी रचना में किसी शब्द का व्यवहार किया, लेकिन तब आपका सिर चकरा गया जब आपको पता चला कि आपके उस बेचारे-से दीखनेवाले शब्द का सम्बन्ध चीन, यूरोप और अमरीका में बड़े पैमाने पर चलने वाले किसी षड्यंत्र या तस्कर-व्यापार से है और इस रूप में आप भी उसमें साझीदार घोषित कर दिये गए हैं। 'रहस्य' 'रोमांच' की कथाओं में अभिरुचि हो (भागवत-पुराण के बाद!) तो उनका आलोचना में इससे अच्छा उपयोग और क्या हो सकता है!

'युवा लेखन' को लेकर आज जो बड़ी-बड़ी आशंकाएँ व्यक्त की जा रही हैं और उसकी भयानक परिणतियों की ओर जो संकेत किये जा रहे हैं उन्हें देखकर उस शोषक-डॉक्टर की याद आती है जो किसी भोले मरीज़ के मामूली ज़ुकाम को टी० बी० के प्रारम्भिक लक्षण बताकर उसकी भयानक व्याख्या करता है और लम्बी-चौड़ी फीस वसूल करता है।

'देहवादी' या 'भोगवादी' रचनाओं को लेकर जितना शोरगुल मचाया जा रहा है, वह न केवल निरर्थक है बल्कि घरेलू मामलों से ध्यान हटाकर सीमा के झगड़ों में उलझाने वाली प्रवृत्ति का परिचायक भी है। सचमुच उसके पीछे 'देह की राजनीति' नहीं, 'अस्तित्व रक्षा की राजनीति' काम कर रही है। एकाएक अपने को 'वंध्या' महसूस करने वाले लोगों की जमात इसलिए कल तक अपने पूर्ववर्ती पीढ़ी के लोगों में 'धुरीहीनता' ढूँढ़ रही थी और अब उसे अपनी पर-वर्ती पीढ़ी के तमाम लोग 'देह की राजनीति' में जुटे हुए नज़र आने लगे हैं। मुझे इधर की छोटी-बड़ी सभी पत्रिकाओं को देखने के बाद भी यह नहीं लगता कि युवा पीढ़ी के अधिकांश रचनाकार 'सेक्स आस्सेस्ड' हैं। इसके अलावा यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिन रचनाओं को कठघरे वाले उदाहरणों के रूप में पेश किया जाता है वे 'युवा लेखन' की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। उनका प्रतिशत ज़रूर ज़्यादा है पर छापे की सुविधा के इस युग में प्रतिशत ज़्यादा होना कोई मानी नहीं रखता। साथ ही इन अधिसंख्य रचनाओं के बारे में भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी सारी राजनीति 'देह की राजनीति' तक सीमित है। उनमें आज की राजनीति के अधिकांश मसलों और उनसे जुड़ी समस्याओं पर तीव्र तथा तिलमिलाने वाली प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं। इन दिनों निकलने वाली एक दर्जन छोटी पत्रिकाओं को सामने रखकर देखा जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। उनका अनगढ़पन और अधकचरापन दूसरे स्तर पर है।

जिन्हें आज 'देह की राजनीति' वाली रचनाएँ कहा जा रहा है या जिन्हें 'ऐय्याश प्रेतों' के नाम से सम्बोधित किया जा रहा है—वे ग़ौर से देखने पर राजनीति और जीवन के व्यापक संदर्भों से जुड़ी दिखाई पड़ेंगी। मसलन मैं नहीं मान पाता कि भल्ला या प्रबोध तथा अन्य अनेक लेखकों की कहानियाँ केवल 'देहवादी' कहानियाँ हैं और उनका कोई 'व्यापक संदर्भ' नहीं है। सचाई यह भी है कि जो लोग आज की कहानियों और रचनाओं को पैबंद लगाकर किसी 'सीधी समस्या' से जुड़ा हुआ देखना चाहते हैं वे प्रकारान्तर से कहानियों के आदिम 'हितोपदेश' वाले फार्मूले के हिमायती दिखाई पड़ते हैं और वे इस तरह अपने 'पिछड़ेपन' को बिना खुद जाने हुए ज़्यादा स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हैं। इससे उनके बारे में कोई 'भ्रम' नहीं रहता और यह अच्छा ही है।

इन दिनों लिखी जा रही दर्जनों रचनाएँ ऐसी मिलेंगी जिन्हें किसी प्रपंच का सहारा लिए बिना देहवादी रचनाएँ नहीं नहीं सिद्ध किया जा सकता—'रीछ','लाशें','घर','जलते मकान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कुछ लोग', 'रिश्ता', 'ऐसे ही रहूँ न', 'आखेट', 'अक्षर', 'रंडियाँ' आदि अनेक कहानियाँ और धूमिल, मलय, राजकमल यहाँ तक कि जगदीश चतुर्वेदी की भी कविताएँ किसी भोगवाद या तथाकथित 'षड्यंत्र' से प्रेरित होकर नहीं लिखी गई हैं और न वे आयातित होकर पालम-हवाई अड्डे पर उतरी हैं, वे यहीं और आज के हिन्दुस्तान में ही लिखी जा सकती हैं। ढोंगियों, पाखंडियों, अवसरवादियों, बेरोज़गारों, असंतुष्ट और उच्छृंखल लोगों की भीड़ वाले आज के इस हिन्दुस्तान में ही ऐसी रचनाओं का जन्म हो सकता था। रामविलास शर्मा ने 'रामनामी' ओढ़े और बगल में कामशास्त्र की पोथी दबाए जिन लोगों की बात बहुत पहले की थी उनकी 'रामनामी' अगर युवा लेखक खींचकर अलग कर दे रहे हैं तो उस रामनामी को मुगलों के तम्बू की तरह खींचकर ओढ़े हुए दूसरे बहुत-से लोग चौंकते क्यों हैं : अगर वे 'प्रेत' हैं तो वे 'प्रेत' भी तो आपके ही हैं।

मैं समझता हूँ आज के संदर्भ में 'देहवाद' से कहीं अधिक खतरनाक और दुर्भाग्यपूर्ण यह 'सुधारवाद' ही है। अच्छे-खासे 'युवा लोग' एकाएक जब 'सुधारवाद' से पीड़ित दिखाई पड़ते हैं तो एक ओर उनके असमय रिक्त हो जाने का संकेत मिलता है और दूसरी ओर यह सुधारवादी आन्दोलन स्वयं किसी षड्यंत्र का परिचायक लगने लगता है। काफी पहले एक ऐसा ही सुधारवादी आन्दोलन 'घासलेटी साहित्य' को लेकर हुआ था और वह कितना सार्थक या प्रभावपूर्ण प्रमाणित हुआ था यह बताने की ज़रूरत नहीं। सुधारवाद के सबसे बड़े पुरोहित महात्मा गांधी को भी तब वह उस संदर्भ में अनावश्यक ही लगा था।

अतः युवा लेखन को लेकर सुधारवाद का आन्दोलन उठाने वाली प्रवृत्ति एक पूरी बहस को और एक युग की प्रवृत्तियों के सही मूल्यांकन को गलत दिशा देने की दोषी नज़र आती है। मैं नहीं समझता कि किसी समय के लेखन के बारे में इतने 'बैडफेथ' और अखबारी ढंग से कुछ सोचा जा सकता है। यहाँ सवाल किसी को 'डिफेंड' करने और 'डिनाउंस' करने का नहीं है बल्कि चीज़ों के बारे में सही और तथ्यपूर्ण ढंग से सोचने का है। वैसे कोई पीढ़ी दूध-धोई नहीं होती। इस संदर्भ में अशोक वाजपेयी द्वारा 'आज के साहित्य में आक्रामकता' निबंध (आलोचना-३८) में युवा-पीढ़ी पर लगाये गए ये आरोप ज्यादा जैनविन लगते हैं कि "जो साहित्य मूल्य-निरपेक्ष होना चाहता है वह अर्थ-निरपेक्ष भी होना चाहेगा···अनुभूति की 'प्रामाणिकता' के चक्कर में 'सार्थकता' की बात धुँधली पड़ गई।" या "आक्रामकता उठाईगीर संस्कृति की भी अभिव्यक्ति है और खुले जोखम-भरे 'मानवीय साक्षात्कार' की भी। दोनों में अन्तर करना आज साहित्य को समझने के लिए पहली आवश्यकता है।" ये वस्तुतः सही और सार्थक प्रश्न हैं जिन्हें युवा लेखन के सम्बन्ध में सोचने के लिए रखा जा सकता है। आलोचना-३९ में 'युवा लेखन' को लेकर जिस 'दु-मुँही समझौता परस्ती' की बात राजेन्द्र यादव ने की है वह भी एक बड़े संदर्भ में गम्भीर विश्लेषण की माँग करती है, लेकिन इस 'समझौतावाद' का ताज केवल युवा-पीढ़ी के सिर पर रखना व्यर्थ है क्योंकि यह आज के पूरे हिन्दुस्तान की सबसे मुखर प्रवृत्ति है। पर राजेन्द्र यादव की 'मुद्दों' बड़े संदर्भों और निर्भीक-बेलाग होने वाली बात भी अपेक्षाकृत कन्वींस करती है क्योंकि उसमें 'पीली पत्रकारिता' की गंध नहीं है।

'युवा लेखन' को लेकर जब भी अखबारनवीसी के धरातल पर आरोप लगाए जाते हैं तब स्वयं आरोप लगाने वाले को भी अपनी दुविधापूर्ण स्थिति का पता चल जाता है। इसी कारण अपने अंतिम निबंध तक आते-आते कमलेश्वर को भी एक ही आदमी के पाखाना साफ करने वाले हाथ को 'गंदा' और खाना खाने वाले हाथ को 'पवित्र' घोषित करना पड़ा। बहुत पहले मिस मेयो नामक आंग्ल महिला ने अपनी 'मदर-इण्डिया' में भारत का जैसा सर्वेक्षण किया था, वैसा ही स्वर इन आरोपों का भी रहता है। केवल 'नाबदान' झाँकने वाली इन आलोचनाओं से किसी युवा की प्रवृत्ति का मूल्यांकन नहीं होता। एक ही रचनाकार की रचनाओं को अलगाकर दो खानों में डालकर देखने से न्याय किसी एक पक्ष के साथ नहीं होता और 'अन्याय' एक पूरी पीढ़ी के साथ होता है। अलगाव केवल 'उपजीवी लेखकों' की जमात का किया जाना चाहिए जो हर पीढ़ी के साथ एक बड़ी संख्या में जुड़कर 'जैनविन' और 'नॉन-जैनविन' रचनाओं के अन्तर को समझने में 'भ्रम' पैदा करते हैं। इसके अतिरिक्त रचनाओं के भीतर काट-छाँटकर चुनने की वृत्तियाँ तो पूर्वाग्रह प्रेरित होती हैं या रोमानी पसंद की परिचायक! 'भूखी पीढ़ी' की रचनाओं को केवल इसलिए नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता कि उसमें 'आमार अभिमांसित शुभा' जैसी रचनाएँ हैं और उस पीढ़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की श्रेष्ठता केवल इस आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकती कि उसके कवियों ने 'आमार वियतनाम' लिखा है। और न केवल उसमें यहाँ-वहाँ मिलने वाले 'संस्कारहीन' शब्दों से बिदककर पूरी पीढ़ी की भर्त्सना की जानी चाहिए। बल्कि सही समीक्षक इन परस्पर-विरोधी-सी दीखने वाली रचनाओं के मूल में किसी अलक्षित तथ्य को ढूंढ़ने में समर्थ होगा जो इन रचनाओं की समग्र रूप से व्याख्या कर सकेगा। तब उसे 'नितांत वैयक्तिक रुचि' के आधार पर ज़ख्म की पच्चीस पंक्तियाँ 'श्रेष्ठ' और बाकी पचहत्तर घटिया नहीं लगेंगी। न एक कहानीकार अपनी एक कहानी में 'प्रामाणिक संवेदना' का कहानीकार लगेगा और दूसरी में कुंठाग्रस्त देहवादी दिखाई पड़ेगा। 'प्रामाणिक संवेदना' जहाँ भी होगी पूरे 'व्यक्तित्व' की होगी—दाएँ हाथ की अलग और बाएँ हाथ की अलग नहीं होगी। दो रचनाएँ अच्छी-बुरी हो सकती हैं पर दोनों के मूल में 'संवेदना' एक ही होगी। संवेदनाएँ इतनी जल्दी 'शिफ्ट' नहीं करतीं, उनके बनने में वक्त लगता है और कोई लेखक चाहे भी तो अपनी अगल-बगल की रचनाओं में पृथक्-पृथक् संवेदनाओं का 'रचनाकार' नहीं हो सकता। मूल्यांकन की दृष्टि को बिना विकृत किये ऐसा सिद्ध भी नहीं किया जा सकता। अगर तथाकथित यौन-विकृत लेखक उसी ताकत, तनाव और आंतरिकता के साथ 'आमार वियतनाम' और 'मकान' जैसी घोर राजनीतिक रचनाएँ भी लिख सकता है तो सोचने की बात होती है कि दोनों को जोड़ने वाली इस आंतरिकता और ताकत का उत्स कहाँ है! इसे केवल मुँह बिचकाकर और फतवे देकर डिसमिस नहीं किया जा सकता। युवालेखन के सम्बन्ध में सभी सोचने और लिखने वालों के लिए यह एक चुनौती है जिसे उन्हें स्वीकार करना चाहिए।

'प्रयोगवाद' की सबसे सही दिशा वह थी जिसमें कहा गया था कि चीज़ों को उनके 'असली नाम' से पुकारने में भी कविता की सार्थकता है। लेकिन यह भी एक बड़ी विडम्बना ही है कि जिन लोगों ने यह माना या जिन लोगों को इसे मानने से इन्कार नहीं था, वे भी यह भूल जाते हैं कि चीज़ों के साथ-साथ अनुभवों और अनुभूतियों को भी उनके सही नाम से पुकारने में कला की सार्थकता है। अनुभवों और अनुभूतियों को रेशमी कपड़ा उढाने, दिया बुझाने या कैमरा आसमान की ओर उठा देने के बजाय जब रचनाकार उनका नाम लेकर पुकारने और बताने लगता है तो 'क्रीज़दार' लेखक के कान तक लाल हो जाते हैं। वे शयनागार को ताली के छेद से दिखाने में तो विश्वास करते हैं पर अगर वही उन्हें दरवाज़ा खोलकर दिखा दिया जाए तो ज़बान तालू से चिपकने लगती है। लेकिन इससे भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति तब आती है जब ये तथ्य जान-बूझकर नज़रअंदाज किये जाते हैं। इसके पीछे 'अस्तित्व-रक्षा की राजनीति' चाहे न भी हो 'टर्म्स डिक्टेट' करने की नीति तो है ही। तब रचनाकारों के ये झगड़े दो पीढ़ियों, दो दृष्टियों या दो संवेदनाओं के झगड़े भी नहीं रह जाते—सवाल केवल अपने 'टर्म्स' पर ले आने का रह जाता है। इसी अर्थ में ये सारी बहसें 'साहित्येतर' होती हैं लेकिन उनका क्षेत्र या लक्ष्य साहित्य ही होता है। जो लोग ऐसे में किसी खास किस्म के 'संवाद' को आवश्यक मानते हैं वे शायद 'विवाद' के इस पक्ष को देखना नहीं चाहते, इसीलिए उनके तथाकथित 'संवाद' में भी एकतरफा गूंज होती है। युवा लेखकों के एक वर्ग का ऐसे किसी 'संवाद' से विरक्त होना स्वाभाविक ही लगता है। रचना से अधिक 'रचना' के संवाद में भाग लेना रचना के धरातल पर किसी मौलिक दुर्बलता या बेईमानी का ही सबूत है। कुछ लोग रचना से इतर जाकर रचना की कई चीज़ों को ढँकने और कई चीज़ों को गलत शक्ल में पेश करना चाहते हैं। लेकिन इसी दौर में एक स्थिति ऐसी भी आती है जब रचनाकार, आलोचक और व्यक्ति का अन्तर समाप्त हो जाता है या यह अन्तर कम-से-कम कृत्रिम तो लगने लगता है और सम्पूर्ण 'व्यक्तित्व' ही इस फैलाए गए 'झूठ' के प्रति विद्रोह कर बैठता है। ऐसे में अपनी सब-कुछ 'जानती-बूझती चुप्पी' अपराध-बोध पैदा करती है। इस संदर्भ में ब्रेख्त की ये सुपरिचित पंक्तियाँ याद आती हैं जो यद्यपि किसी और तथ्य को सम्बोधित कर लिखी गई थीं, परन्तु इस संदर्भ में भी कम सार्थक नहीं हैं, "यह कैसा समय आ गया है कि अब प्रकृति के सम्बन्ध में बातें करना भी अपराध लगता है क्योंकि इसमें अनेक कुकृत्यों के प्रति खामोशी छिपी रहती है।" अतः रचनाकार के लिए रचना से इतर प्रसंगों में 'बोलना' ही एकमात्र विकल्प बच जाता है।

आज के लेखन में ये दोनों तरफ की स्थितियाँ स्पष्ट हैं, पर यह भय भी बना रहता है कि कहीं यह 'विकल्प' ही तो अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो गया है और रचना 'गौण' हो गई है। यह आवश्यक है कि यह 'संवाद' रचना और 'वक्तव्य' के बीच भी होना चाहिए, केवल 'वक्तव्यों' और 'वक्तव्यों' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच नहीं। और यह आवश्यकता केवल युवा पीढ़ी के लेखन को नहीं है, समानान्तर पीढ़ियों के उस समस्त लेखन को भी है जो 'विकल्प' को ही 'सिद्ध' मान बैठा है।

प्रश्न भी 'वक्तव्यों' के माध्यम से किये जाते हैं और उत्तर भी वक्तव्यों के माध्यम से ही दिये जाते हैं—'रचना' का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। परिणामस्वरूप परस्पर-विरोधी वक्तव्य दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए मुझे 'धर्मयुग' में प्रकाशित कमलेश्वर के निबन्धों में इतने विरोधाभास दिखाई पड़े कि आश्चर्य हुआ। कमलेश्वर में कम-से-कम बात को सफाई से कह लेने की कला हमेशा से रही है। पर 'धर्मयुग' के निबंधों का उलझाव चकित करने वाला लगा। सचाई को जान-बूझकर छिपाने की कोशिश के कारण ही यह उलझाव पैदा हुआ होगा यह स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे: एक स्थल पर वे लिखते हैं (नवलेखन के सम्बन्ध में) "···असल में यह झूठा शब्द-जाल है जो बिना समझे-बूझे किताबों से उठाया जा रहा है।" आगे उन्हें इसी झूठे शब्दजाल की 'विकृत-संवेदना' से भी शिकायत है। मैं समझता हूँ कि जो झूठा और किताबी है उसके 'विकृत संवेदना' से जुड़ने की बात ही पैदा नहीं होती। 'संवेदना' चाहे 'विकृत' हो तब भी 'संवेदना' है और जो झूठा तथा किताबी होगा वह कभी 'संवेदना' का अंग बन ही नहीं पाता।

इसी तरह उन्हें शिकायत है प्रबोध कुमार की एक कहानी 'आखेट' से कि उसका नायक एक नाबालिग लड़की को फुसलाकर उसका 'उपयोग' करना चाहता है। लेकिन दूसरी ओर कमलेश्वर को आजकल के 'पात्रों' की नपुंसकता, रोमानी भावुकता और आत्मरति से भी शिकायत है। यानी 'उपयोग' करना भी गलत है और 'उपयोग' न करना तो 'नपुंसकता' ही है। फिर सही क्या है?

"अभिशप्त मनुष्य की बात बार-बार की जा रही है और भयाक्रांत, डरे हुए, आतंकग्रस्त मनुष्य की कौन-सी दारुण वर्जनाएँ हैं जिनमें ये कथापुरुष जी रहे हैं? परम्परा संस्कार, संस्कृति और वर्जनाओं का वह कौन-सा पहलू है जिसका अभिशाप-आतंक इन कथा-व्यक्तियों को डरा रहा है या अपंग बना रहा है?" 'धर्मयुग' में कमलेश्वर ये प्रश्न करते हैं। पर क्या हम आश्चर्य-चकित नहीं रह जाते जब पाते हैं कि इनके उत्तर भी स्वयं कमलेश्वर के ही पास हैं। उनके उत्तर वे खुद दे चुके हैं और इस 'अभिशाप' की सचाई को बखूबी जानते हैं: 'नई कहानी की भूमिका' में इन प्रश्नों के उत्तर कमलेश्वर से ही सुनिए, "हम **अभिशप्त** हैं अति परिचित होने के लिए। इसलिए हमारे देश की मानसिकता इस अतिपरिचय से ऊबी हुई है और अतिशय ऊब का परिणाम है अपरिचय की ऐच्छिक मनोदशा···क्या यह हमारे उसी परिवेश की देन नहीं है जिसमें अब किसी का विश्वास नहीं रह जाएगा···जिसमें सब आश्वासन, सब घोषणाएँ झूठी साबित हो चुकी हैं! सृजनात्मक साहित्य में युगीन मुद्राओं की छवि का आभास और मनोदशा का गहन आन्तरिक मूड इसी तरह उपस्थित होता है।" तो इसका तात्पर्य यह है कि परम्परा, संस्कार और संस्कृति का ही यह एक पहलू है जिसे नवलेखन के 'कथापुरुष जी रहे हैं।' उत्तर कमलेश्वर के पास ही है। अतः वाग्जाल का उलझाव उन्हीं की बातों से होता है 'कथापुरुषों' से नहीं।

"औसत भारतीय का परिचय '६२ और '६५ से चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमण के समय मिल चुका है जब उसने अपनी विकलांग **स्वतन्त्रता** की रक्षा के लिए सब-कुछ दाँव पर लगा दिया था—क्योंकि आज़ादी के इन बीस वर्षों में वह कम-से-कम जान चुका है कि 'स्वतन्त्रता' ही वह तत्त्व है जो जीवन को जीवन बनाता है···।" —धर्मयुग

'धर्मयुग' में कमलेश्वर को यह 'स्वतन्त्रता' एकाएक इतनी महत्त्वपूर्ण लगने लगती है, लेकिन कुछ ही दिन पहले प्रकाशित 'नई कहानी की भूमिका' (यह भी चीनी-पाकिस्तानी लड़ाइयों के बाद ही प्रकाशित हुई थी) में इस स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में उनके विचार कुछ और ही थे:

"जन-मानस का इतना अपमान शायद ही किसी अन्य देश में हुआ हो···यदि अब भी आज़ादी के बीस वर्षों के बाद भी उसकी स्थिति यही है कि वह कुछ **साधन-सम्पन्न** वर्गों के लिए ही काम करे तो वह उधर से उदासीन है। देश को यह झूठी सूचना दी गई कि '४७ में देश को क्रान्ति मिली। १५ अगस्त को सिर्फ सत्ता का हस्तांतरण हुआ था।"

विचारों के इस विरोधाभास को देखकर चौंकना स्वाभाविक है कि केवल 'स्थानान्तरण' से विचारों में यह 'क्रान्ति' कैसे हुई! स्पष्ट है कि 'विचार' नहीं बदले हैं, बदली केवल 'स्ट्रेटजी' है!

साहित्य का इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि सारे विचार केवल 'तात्कालिक ज़रूरतों' तथा 'स्ट्रेटजी' पर आकर केन्द्रित हो जाएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युवा लेखन : प्रतिपक्ष का साहित्य

केदारनाथ सिंह

पिछले कुछ समय से यह अनुभव किया जा रहा है कि हिन्दी नवलेखन के स्वर में या कम-से-कम उसके स्वर को निर्धारित करने वाली वस्तुओं के आकार में एक खास तरह का परिवर्तन आया है। इस अनुभव के आधार तो कई हो सकते हैं, पर पिछला आम चुनाव कदाचित् उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है, जिसने नई पीढ़ी के सम्मुख विकल्प का एक धुँधला-सा आभास प्रस्तुत किया था। विगत युगों के लेखक इस मानी में कुछ सौभाग्यशाली थे कि उनके सामने एक स्थायी विकल्प सदैव प्रस्तुत रहता था—कभी ईश्वर, कभी धर्म, कभी मानवीय आदर्श के रूप में। पर आज के लेखक की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यही है कि वह अपनी रचनात्मक यात्रा उस बिन्दु से शुरू ही करता है, जहाँ सारे विकल्प समाप्त हो गए-से लगते हैं। इसलिए हर बार उसे अनुभव के स्तर पर एक नए विकल्प की खोज करनी पड़ती है—हालाँकि वह अच्छी तरह जानता है कि जो वास्तविकता उसके सम्मुख है, उसका विकल्प कोई हो हा नहीं सकता। पिछले आम चुनाव के नतीजों से भी नए रचनाकार की स्थिति में कोई मूलभूत अन्तर नहीं आया है। पर इतना तो हुआ ही है कि उसके अनुभव में यथास्थिति के टूटने का एक तीखा बोध भी जुड़ गया है। रचनात्मक दृष्टि से उसकी यही उपलब्धि है। उसके लेखन में इस बोध का पूर्वाभास प्रत्यक्ष रूप में चाहे न मिले; पर वर्तमान के प्रति एक गहरे असन्तोष और विराट् नकार के रूप में जो गर्द और गुस्से से भरी बातें कही जाती रही हैं, वे निश्चित रूप से इस बोध का पूर्वाभास थीं। सचाई हमेशा विधेयात्मक ढंग से ही नहीं व्यक्त होती। प्रतिक्रियात्मक आवेग के कारण वह अक्सर एक नकारात्मक तेवर की भंगिमा भी धारण कर लेती है। पिछले पाँच-सात वर्षों में कविता और कथा-कहानी के क्षेत्र में जो कुछ लिखा गया है, उसमें यथास्थिति को तोड़ने या उससे छुटकारा पाने की आकांक्षा अनेक रूपों में व्यक्त हुई है और कभी-कभी तो सनक की हद तक एक बम-विस्फोट या ट्रक-दुर्घटना की भयानक आकांक्षा के रूप में भी व्यक्त हुई है।

नवलेखन के विद्रोही रुख की प्रायः चर्चा की गई है और उस विद्रोह को काफी दूर तक आज के बदलते हुए वस्तुगत संदर्भ से भी जोड़ने की कोशिश की गई है। मुझे लगता है कि इस विद्रोह के कई चेहरे हैं और उन सब चेहरों को मिलाकर कोई एक सामूहिक चेहरा बनाने की कोशिश की जाएगी तो इसमें वस्तु-स्थिति से दूर जा पड़ने का खतरा भी हो सकता है। 'आक्रोश' और 'अस्वीकृति' जैसे शब्द एक ही प्रवृत्ति के सूचक नहीं हैं और सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ये परस्पर-विरोधी भी जान पड़ सकते हैं। इसलिए यह मानकर चलना होगा कि इस विद्रोह के मूल में अनेक अन्तर्विरोध हैं। साहित्यिक विद्रोह का स्वरूप सामाजिक विद्रोह से इस मानी में भिन्न होता है कि वहाँ विद्रोह का वस्तुगत आधार प्रायः अमूर्त या अनुपस्थित होता है। इसलिए वहाँ विद्रोह का नारा अपेक्षाकृत अधिक निरापद और कभी-कभी सुविधाजनक भी होता है। युवा पीढ़ी के विद्रोह की व्याख्या करते समय भी इन बातों को ध्यान में रखना होगा। वास्तविकता यह है कि यह विद्रोह दो परस्पर-विरोधी स्तरों पर एक साथ कार्य कर रहा है : १. उस सम्पूर्ण ढाँचे के विरुद्ध जिस पर आज की स्थापित सत्ता और उच्चवर्गीय संस्कृति के खोखले मूल्य टँगे हुए हैं और २. उस कुचक्रपूर्ण दबाव के विरुद्ध जो उसे उस मृत ढाँचे के भीतर अपनी विलक्षण प्रतिभा को स्थापित करने से रोकता है। परिणामतः उसकी काव्यात्मक प्रतिक्रियाओं को पढ़कर लगता है जैसे एक वामपंथी कवि एक दक्षिणपंथी पाठक को सम्बोधित कर रहा हो। यह मूलभूत अन्तर्विरोध नवलेखन का सबसे महत्त्वपूर्ण चरित्र-लक्षण है।

एक तरह से सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण समकालीन लेखन प्रतिपक्ष का साहित्य है। वह इतिहास के ऐसे बिन्दु पर लिखा जा रहा है जब कि वह इसके अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता। आज का हर जागरूक लेखक यह अच्छी तरह जानता है कि पक्ष में होने का अर्थ है उस अमानवीय ढाँचे को स्वीकार करना, जिससे वह जूझ रहा है। अतः जीवित रहने तथा अपने रचनात्मक अस्तित्व की विलक्षणता को बनाये रखने के लिए प्रतिपक्ष में होना उसकी नियति है। समकालीन भारतीय राजनीति के समानान्तर रखकर देखें तो आज के युवालेखन में भी लगभग वही लक्षण दिखाई पड़ेंगे जो प्रतिपक्षी दलों में हैं। यहाँ भी वही आन्तरिक विरोधों का तनाव, समस्याओं का सरलीकरण, कामचलाऊ सहमति का न्यूनतम दायरा तथा विचारों के स्तर पर दलबदल की स्थिति दिखाई पड़ेगी। जो आलोचक युवा पीढ़ी के विचारों और उसके आचरण में कभी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी अलगाव देखकर हैरान होते हैं, उन्हें इस स्थिति को सम्पूर्ण भारतीय प्रतिपक्ष के संदर्भ में ही देखना चाहिए। साहित्य इससे पहले शायद राजनीतिक संदर्भ के इतना अधिक निकट कभी नहीं आया था। अपनी वैचारिक प्रतिक्रियाओं में युवा-पीढ़ी का लेखक पूर्ववर्ती पीढ़ी के लेखक से अधिक 'प्रग्मेटिक' या यथार्थवादी है। क्योंकि वह राजनीति को केवल पृष्ठभूमि नहीं मानता, बल्कि उसे आज की सबसे गत्यात्मक, प्रत्यक्ष और क्रूरतम वास्तविकता मानता है। उससे तटस्थ होने का मतलब है युग की कठोरतम सचाइयों से असम्बद्ध होना। नया कवि इस तथ्य को गहराई से महसूस करता है और इसीलिए वह उस 'चालाक आदमी' को भी पहचानता है जो दावा करता है कि उसके पास हर सवाल का पूर्वनिश्चित उत्तर मौजूद है :

> **मगर उस चालाक आदमी ने मेरी किसी बात का उत्तर**
> **नहीं दिया और हँसता रहा, हँसता रहा, हँसता रहा**
> **फिर जल्दी से हाथ छुड़ाकर**
> **'जनता के हित' में स्थानान्तरित**
> **हो गया।**
>
> —धूमिल

और यह कि :

> **बाकी शहरों में राजनीतिक वेश्याओं ने**
> **पीला मटमैला अन्धकार फैला रखा है**
> **अपनी देह को उजागर करने के लिए**
>
> —राजकमल चौधरी

वस्तुतः नए लेखक का सारा आक्रोश इस अंधेरे में देह को उजागर करने वाली संस्कृति तथा उसको संरक्षण देने वाले शासन-तन्त्र के विरुद्ध है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह एक ऐसी पीढ़ी का आक्रोश है जो अपने तथा अपने समय के अन्तर्विरोधों को एक साथ झेल रही है। इसलिए अलग-अलग स्थितियों में इस आक्रोश के भी अलग-अलग रूप हो जाते हैं। कभी वह आक्रामक दीखता है, कभी पीड़ित, कभी विदूषक और कभी सिर्फ़ एक खलनायक। सम्भवतः वह इस खलनायक वाली भूमिका में अपने-आपको सबसे अभिन्न और स्वाभाविक रूप में पाता है। अब उसकी यह भूमिका धीरे-धीरे रूढ़ हो गई है और इसके कारण पूरी युवा पीढ़ी के लेखन में एक खास तरह की एकरसता भी पैदा होने लगी है। यदि यही स्थिति रही तो बहुत शीघ्र एक ऐसे आन्तरिक विद्रोह की भी आवश्यकता पड़ सकती है जो इस एकरसता को तोड़कर अधिक व्यापक और वैविध्यपूर्ण भूमिकाओं की तलाश करे। इसके लिए आक्रामक होना ही काफ़ी नहीं है। बल्कि यह भी आवश्यक है कि रचनात्मक स्तर पर अपनी प्रतिरोधात्मक शक्ति का भी भरपूर उपयोग किया जाए। इसके अभाव में सारा आक्रोश एक प्रकार की प्रतिरोध-शून्य आक्रामकता का रूप ले लेता है, जिसका लाभ अन्ततः उस पक्ष को ही मिलता है, जिसके विरुद्ध आक्रमण किया जाता है। यही कारण है कि एक सीमा के बाद सुविधा-सम्पन्न तथा सत्ताधारी वर्ग भी युवकों की इस प्रतिरोध-शून्य आक्रामकता में एक खास तरह का रस लेने लगता है—लगभग वैसा ही निरापद तथा 'अमानवीय' रस जैसा मध्ययुगीन सामन्तों को 'बुलफ़ाइट' में मिलता था। यूरोप और अमेरिका की नई पीढ़ी के साथ यही हुआ है और अब उसका सारा साहित्य मुक्त व्यापार के उन्हीं अमानवीय स्रोतों से बाज़ार में पहुँचकर तथाकथित उच्चवर्गीय संस्कृति का अभिन्न अंग बनता जा रहा है। भारत की युवा पीढ़ी के सामने की लगभग वही स्थिति है और यदि वह बढ़ते हुए दबाव के सम्मुख अपनी प्रतिरोधात्मक शक्ति को भूलकर केवल आक्रामक या अस्वीकृति-उद्घोषक की ही भूमिका अदा करती रही तो स्थापित सत्ता का विशाल आकार उसे भी आत्मसात कर लेगा। लम्बी भीड़ में केवल दो-एक कवि या लेखक ही ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जिनकी रचनाओं से उनकी प्रतिरोधात्मक शक्ति का भी परिचय मिलता है।

यह विचित्र विरोधाभास है कि नवलेखन जहाँ एक ओर अपने समकालीन परिवेश से प्रत्यक्षतः जुड़ा हुआ है, वहाँ उसकी बौद्धिक प्रतिक्रियाओं और सोचने-समझने के ढंग में एक खास तरह की निस्संगता भी दिखाई पड़ती है। यह निस्संगता प्रयोगवादी कवियों की कलात्मक निस्संगता से सर्वथा भिन्न है। इसका सम्बन्ध रचना-प्रक्रिया से नहीं, बल्कि रचना को अर्थ या निरर्थकता प्रदान करने वाली संपूर्ण व्यवस्था से है। एक विकासशील देश के साहित्य में यह निस्संगता आश्चर्यजनक लग सकती है। पर कोशिश की जाए तो इसके कारणों का पता लगाना कठिन नहीं होगा। वस्तुतः विकास के नाम पर जिन वस्तुओं से उसका साक्षात्कार होता है, वे एक लम्बे, षड्यन्त्रणपूर्ण और चक्करदार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रास्ते से होकर उस तक पहुँचती हैं, और अक्सर उनकी जटिलता एक त्रासद और रहस्यपूर्ण भयानकता का रूप धारण कर लेती है। फलतः वह उस परिवेश से विच्छिन्न होता चला जाता है, जिसका कि स्वयं वह एक असंदिग्ध और अनिवार्य अंग है। धीरे-धीरे वह एक ऐसी निर्लिप्त मनोदशा में पहुँच जाता है, जहाँ न तो किसी तरह की संसक्ति अनुभव करता है, न ही कोई ज़िम्मेदारी। इस स्थिति की चरम परिणति यह होती है कि सरकार और मतदाता, व्यवस्था और मज़दूर-संगठन, दोनों ही उसके निकट व्यर्थ हो जाते हैं। साहित्य में जब भी इस प्रकार की निस्संगता आती है तो उसकी परिणति कुछ अमानवीय परिस्थितियों, जैसे ईश्वर, प्रकृति या तंत्र-मंत्र के प्रति एक अबौद्धिक आकर्षण के रूप में होती है। युवा पीढ़ी के लेखन में यह अबौद्धिक रुझान कई रूपों में दिखाई पड़ती है। कुछ कवियों की कविताओं में तांत्रिक प्रतीकों का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का एक उदाहरण है।

इन सारी बातों का प्रभाव नवलेखन की भाषा और उसके शिल्प पर भी पड़ा है। नया लेखक अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी की तरह भाषा का 'निर्माण' नहीं करता। वह सिर्फ उसका इस्तेमाल करता है, ठीक उसी तरह जैसे वह अपने मोजे या तौलिये का इस्तेमाल करता है। यह बात कविता की भाषा में खास तौर पर दिखाई पड़ती है। इसके साथ ही कहीं-कहीं 'रेटारिक या वक्तृत्व का तत्त्व भी दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि आज का कवि न तो स्वयं को सम्बोधित करता है, न ही अपने पार्श्ववर्ती को। वह हमेशा वृहत्तर समुदाय के उस तृतीय पुरुष को सम्बोधित करता है, जो प्रायः अनुपस्थित होता है। इस अर्थ में आज की अधिकांश कविताएँ अपनी समूह-विरोधी प्रकृति के बावजूद एक खास तरह की 'पब्लिक पोएम्स' कही जा सकती हैं। जहाँ तक कविता की आन्तरिक आवश्यकताओं का प्रश्न है, पूरी-की-पूरी नई पीढ़ी उनसे अधिकाधिक तटस्थ होती जा रही है और न केवल तटस्थ होती जा रही है, बल्कि इस तटस्थता को एक रूमानी आग्रह की हद तक वांछनीय भी मानती है। नतीजा यह होता है कि बहुत-सी कविताएँ या तो कुछ चलते हुए समकालीन मुहावरों का सरलीकरण बनकर रह जाती हैं, अथवा एक साहित्यिक कृति की अपेक्षा ऐतिहासिक दस्तावेज़ लगने लगती हैं। एक निर्माणरत राष्ट्र की आन्तरिक तथा बाह्य जटिलताओं को देखते हुए यह स्थिति एक हद तक अपरिहार्य-सी है। पर किसी भी युग के साहित्य की शक्ति उसके ऐतिहासिक दस्तावेज़ होने में नहीं, बल्कि जोखम-भरी वास्तविकता के खुले साक्षात्कार तथा उसके आधारभूत तत्त्वों की निर्मम परख में होती है। इसमें सन्देह नहीं कि नए रचनाकार में खुले साक्षात्कार का साहस तो है, पर अपने युग के आधारभूत तत्त्वों की निर्मम परख तक पहुँचने के लिए उसे अपनी नाटकीय मुद्राओं तथा सरलीकरण की प्रवृत्ति से उबरना होगा। केवल उसी हालत में वह ब्रेख्त के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकेगा :

> **बुरे लोग तुम्हारे पंजों को देखकर भयभीत हो जाते हैं**
> **अच्छे लोग तुम्हारी चमक को देखकर चकित और स्तब्ध**
>
> **मैं चाहूँगा कि मेरी कविता के बारे में भी**
> **यही कहा जाए।**

●

युवा पीढ़ी : प्रतिबद्धता पर पुनर्विचार

जगदीश चतुर्वेदी

आज का साहित्यकार किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है। प्रतिबद्धता एक ऐसी नागफाँस है जो व्यक्ति को मात्र कुंठित करती है, उसे एक दायरे में कैद कर देती है—वह दायरा चाहे राजनीति का हो या सामाजिक मर्यादाओं का या साहित्यिक चिन्तन का ! मैं प्रतिबद्धता शब्द में एक विशेष अपराध-वृत्ति पाता हूँ और इसीलिए मुझे लगता है कि इस घातक विष के कुपरिणामों से आज के साहित्यकार को बचना चाहिए। साहित्यकार कोई विदूषक नहीं है कि उसे किसी मानी हुई या तय की हुई परिपाटी पर सृजन करने के लिए बाध्य किया जाए। आज ये सब चोचले पुराने पड़ गए हैं और इनसे गंध आती है। आज के साहित्यकार ने सड़ी-गली परम्पराओं के उस केंचुल को उतार फेंका है, जिसने गत कई दशकों से हिन्दी-साहित्य को ग्रसित कर रखा था। आज का विद्रोही साहित्यकार प्रतिबद्धता के प्रति कोई आकर्षण नहीं रखता। वह अगर किसी से प्रतिबद्ध है तो अपने आन्तरिक संघर्ष से, अपनी गुत्थियों से, अपने व्यवस्थित और बेनकाब व्यक्तित्व से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यों प्रतिबद्धता का सीधा सम्बन्ध साहित्यकार से कभी भी नहीं रहा। जो क्रान्तिदर्शी रहे, जो युग-द्रष्टा कहे गए, वे किन्हीं भी बन्धनों में बँधकर नहीं जिए। किर्केगार्ड का सारा विद्रोह धार्मिक कठमुल्लेपन और पिता नाम की पारिवारिक कुंठा के प्रति था। नीत्शे ने ईश्वर की मृत्यु की घोषणा की थी। आज भी कॉलिन विल्सन और ज्याँ जेने उन तमाम रूढ़ियों को तोड़ने के लिए ही कृतसंकल्प हैं, जिन्होंने साहित्य को किसी मान्य जड़ता से आबद्ध कर रखा है। हिन्दी में उग्र और निराला इसी तरह के व्यक्तित्व हुए हैं। आधुनिक साहित्यकारों में किन्हीं विशेष मानव-मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध मुक्तिबोध की रचनाएँ भी सृजनात्मक स्तर पर प्रतिबद्धता से दूर होने की दिशा में ही उन्मुख हैं।

चिन्तक मुक्तिबोध ने अपनी तथा अपने समकालीन कवियों की रचना-प्रक्रिया पर एक निर्मम, तटस्थ पर्यवेक्षक की तरह कई व्यक्तिगत निबन्धों में विचार किया है। वे कला के तीसरे क्षण की जहाँ बात करते हैं, वहाँ वे अपने तमाम समकालीनों से परे हटकर फैंटेसी को शब्द-बद्ध करने की प्रक्रिया में मशगूल दिखाई देने लगते हैं और वहाँ उनका काव्य-संसार किसी राजनीतिक विचारधारा का नहीं, अपितु एक संवेदनशील, समकालीन कवि की रचनाओं का एक सर्वथा नवीन, भयावह और वैयक्तिक विरोधाभासों से भरा काव्य-जगत् दिखाई देने लगता है। मुक्तिबोध ने अप्रतिबद्धता के इस संकट को कई जगह झेला है :

अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर
हमारा गुप्त मन
निज में सिकुड़ता जा रहा
जैसे कि हब्शी एक गहरा स्याह
गोरों की निगाहों से अलग ओझल
सिमिट कर सिफर होना चाहता हो जल्द !!

—चकमक की चिनगारियाँ,
'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृष्ठ १४८

यहाँ ये गोरे अंग्रेज़ी प्रभुसत्ता के वंशज नहीं, ये वह समकालीन हैं, जिनके प्रति मुक्तिबोध एक अतिरिक्त घृणा से भर गए हैं। एक निर्वासन की तीव्र आकांक्षा यहाँ व्यक्त है।

'अँधेरे में' शीर्षक सशक्त कविता में भी मुक्तिबोध जिस अनिर्वचनीय रहस्यमय व्यक्ति की खोज करते हुए स्वयं से साक्षात्कार करते हैं, वहाँ भी इस टूटन का अहसास स्वाभाविक ही लगता है :

दुःखों के दागों को तमगों-सा पहना
अपने ही ख्यालों में दिन-रात रहना
असंग बुद्धि व अकेले में सहना
जिन्दगी निष्क्रिय बन गई तलधर
अब तक क्या किया,
जीवन क्या जिया !

—'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृष्ठ ३८३

हमारी पीढ़ी का तो सारा ध्यान सृजन की ओर है। सृजनात्मक धरातल पर हम किसी भी वस्तु को गर्हित नहीं मानते। किन्तु किन्हीं मान्य मुखौटों को स्वीकार करना हमें उतना ही बेमानी लगता है, जितना किसी राजनेता की मृत्यु पर काव्य-सृजन करना या पंचवर्षीय योजनाओं पर नक्काशीदार गीत गढ़ना।

आज का साहित्य इसीलिए जनता से दूर होता जा रहा है। जनता की रुचि व्यावसायिक रुचि से भी निम्न स्तर की होती है। हम किन्हीं पाठक-समूहों से अपने को प्रतिबद्ध करने की सोचते हैं तो लगता है कि तमाम चेहरे हमारी रचनाओं के बाद या तो अतिरिक्त आवेश से भर गए हैं या किसी मूढ़ता की स्थिति में हठात् जड़ हो गए हैं। हम ऐसी जड़ता में कब तक कंपन पैदा करते रहेंगे। हम कब तक उस रुचि को परिष्कार देते रहेंगे जो फिल्मी गीतों या सामान्य मनोरंजन को साहित्य का पर्याय मानती है। किन्तु इन लोगों से परे जो बौद्धिक वर्ग आता है, वह भी हमें किसी विशेष धारणा या रुचि के प्रति प्रतिबद्ध नहीं करता। लगता है कि प्रत्येक आधुनिक साहित्यकार कहीं अधिक एकाकी, निर्वासित या आत्मलीन होता जा रहा है। एक अजनबीपन की स्थिति में हम सब जी रहे हैं। यों अनमिल तरीके से नई पीढ़ी एक-दूसरे के साथ है, किन्तु अपनी रचना-प्रक्रिया में आज का प्रत्येक सजग कृतिकार निस्संग है। अपने काव्य-जगत् या सृजनात्मक स्तर पर आसपास के परिवेश, उसके द्वारा सौंपी विसंगतियाँ और सम्मोहन तथा उनके प्रति एक तटस्थ अन्वेषण उसका नितान्त अपना जगत् है और वहाँ का उस 'अन्डरवर्ल्ड' का वह तानाशाह है। यह 'अन्डरवर्ल्ड' उसकी स्वप्न-संज्ञाओं का संसार है।

प्रतिबद्धता की खोखल तो हमने उसी दिन उतार फेंकी थी, जिस दिन हमने राजनीतिक विचारधाराओं के प्रभाव के कारण प्रगतिवाद का विचित्र दृश्य देखा था। प्रगतिवाद और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके बाद 'तारसप्तक' के कवियों के पुनर्विचारित वक्तव्य यह सिद्ध करते हैं कि प्रतिबद्धता एक बचकानी वृत्ति है। कल तक हम जिन वस्तुओं या व्यक्तियों को श्रेष्ठ या सम्मान-योग्य समझते थे, वे वस्तुएँ आगामी कल हमारे लिए मात्र खंडित विकार रह जाती हैं, जिन पर बौद्धिक चिन्तन करना तो दूर, सामान्य रूप से विचार करना भी उचित नहीं लगता। वैसा करने पर लगता है किसी अभोज्य सामग्री के हठात् लीलने का उपक्रम कर रहे हैं।

यों साहित्य में अच्छा-बुरा, योग्य-अयोग्य कुछ नहीं होता। मूल प्रश्न होता है दृष्टि का। वह सौन्दर्य-विषयक दृष्टि कला के अन्तर्निहित तत्त्वों को उजागर भी करती है और कलाकार का संवेदनशील व्यक्तित्व अपने तमाम मानसिक तथा आन्तरिक वात्याचक्रों से अनुप्रणित होकर उन्हें नई दृष्टि भी प्रदान करता है।

पर आज साहित्य में दो अतिवादी मनोवृत्तियाँ काम कर रही हैं। एक वृत्ति परम्परा से चिपकी है, उसी के अनुसार रससिद्धि, जीवनयापन और सांस्कृतिक गरिमा का ढोंग रचती है। दूसरी ओर **मात्र विद्रोह की फैशनपरस्त पीढ़ी है,** जो हवा को सूँघती रहती है और रुख को देखकर अपनी आन्तरिक तथा सृजन-शक्ति को बिना पहचाने प्रचलित या चर्चित साहित्य या साहित्यकारों का अंधानुकरण करती है। ये दोनों अतिवादी स्थितियाँ खतरनाक हैं। ऐसे ही लोग वास्तविक प्रतिबद्धता, जो लेखक को अपने सृजन के प्रति उन्मुख करती है—उसे उत्साहित करती है, का हनन करते हैं और एक भ्रमपूर्ण स्थिति का कारण बनते हैं।

ऐसे लोग दूसरे शब्दों में अवसरवादी भी कहे जा सकते हैं। यों आजकल इनको समझदार मानने का फैशन चल पड़ा है। ऐसे लोग कविता भी लिखते हैं और अपने ढंग से उसका भाष्य भी प्रस्तुत करते हैं। इतना ही नहीं, ये एक साथ, एक ही समय में नई कविता, नव-गीत, मुक्तक तथा अकविता का सृजन करते हैं। ऐसे व्यक्तियों से नवलेखन को खतरा है। वे एक ओर शम्भूनाथ सिंह और रामदरश मिश्र तथा कैलाश वाजपेयी के गीतों पर भी टिप्पणियाँ तथा लेख लिखते हैं और दूसरी ओर सौमित्रमोहन और श्याम परमार तथा राजकमल चौधरी की तर्ज़ पर भी कविता करने का दुस्साहस करते हैं। ये स्वनामधन्य लोग हैं। ये 'तारसप्तक' के प्रकाशन से अब तक लगातार लिखते आ रहे हैं और अपनी सार्वकालिक रुचि के कारण अब नवलेखन के साथ आ मिलते हैं।

दूसरे वे कवि हैं, जो अपनी आन्तरिक क्षमता से नितान्त अपरिचित हैं। वे सम्पादकों की दया के निरीह पात्र हैं। वे समय का रुख देखकर शब्द गढ़ते हैं। अकविता के कवियों के सेक्स-प्रतीक या भयावह स्थितियों के वर्णन इन कवियों के कमज़ोर हाथों में जाकर घोर जुगुप्सा पैदा करने वाले श्लथ काव्य-अंश रह जाते हैं—

वह नालियों में पड़े सिकुड़े हुए एफ० एल०
तलाशता है।
उनके मिल जाने पर
वह दोनों हाथों से बार-बार रगड़ता है
अपना लाल-लाल मर्द।

—बारासिंगा

इसी प्रकार एक और 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' करने वाले कवि हैं। उनकी बलिष्ठ संभोग मुद्रा 'युवती' शीर्षक कविता में द्रष्टव्य है।

इन कवियों की श्रृंखला बहुत लम्बी है। नामांकन करना उचित प्रतीत नहीं होता।

यों स्वतन्त्रता के उपरान्त की साहित्यिक पीढ़ी या युवा पीढ़ी के समक्ष तमाम स्थितियाँ इस प्रकार प्रतिफलित हुई हैं कि विश्वास नाम का तन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया है। उसे लग रहा है कि इस यांत्रिक ऊहापोह में वह एक अनियंत्रित इकाई बनकर रह गया है। तमाम पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्ध उसे मात्र कडुआहट दे रहे हैं। उसे समय की अनिवार्य सत्ता ने अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। वह इस छटपटाहट को व्यक्त करने के लिए प्रतिश्रुत है। यह छटपटाहट उसे लगाव दे रही है। और यही अलगाव उसकी कृतियों में भी परिलक्षित हो रहा है।

सातवें दशक की चेतना निश्चय ही अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से अलग-थलग और विश्वजनीन है। जिस संत्रास को यह पीढ़ी झेल रही है, वह इसके पूर्व कभी भी नहीं दिखाई दिया। अप्रतिबद्धता से निःसृत काव्य तथा कथाप्रयोग इसके साक्षी हैं। मृत्यु और आत्म-हनन की वृत्ति बढ़ती जा रही है। धर्म नाम का यंत्र विच्छिन्न हो गया है। आज तो :

एक मेज़ में सुराख करके वह नीचे समुद्र की खोज
कर रहा है।
उसने अपनी जुराबें हाथों में पहन ली हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल वह अपने पतावे दूसरों की जेबों में
रखता रहा था ।
उसने देखा था कि घुटनों में मुखौटे बाँधने से लोग
डरते नहीं ।

—सौमित्र मोहन, 'अकविता' ५

उसके सामने तमाम वस्तुएँ निष्प्राण हो गई हैं। उसे अपने अस्तित्व पर भी शंका हो रही है। उसे किसी प्रतिबद्धता में विश्वास नहीं रहा है। विसंगति का एक नया आयाम स्थापित करने में वह सहायक हो रहा है। उसे लगता है कि तमाम परम्पराएँ जर्जरित होकर टूट गई हैं। समय का अनिवार्य चक्र निष्प्राण हो गया है :

…शहर के आकाश पर छड़ें तनी हैं। तनाव में
विक्षिप्त होता जा रहा है हर कतरा। दीवारों पर
दर्द के साँप रेंगते हैं। एक जंगल
शहर की बाजुओं में धँसता है—बनैले नाखूनों की
कचोट में फट जाते हैं पर्दे। पूजा के शंखों में
दरारें पड़ जाती हैं और रविशंकर के सितार को वाराह
अपनी थूथन से तोड़ता है।

—श्याम परमार, 'विजय', पृष्ठ १००

एक आशंका, एक भयावह स्थिति उसको तमाम सम्बन्धों के बीच अवरोध के रूप में दिखाई देती है। विश्वास करना एक मूर्खतापूर्ण प्रक्रिया नज़र आती है। इस विश्वसनीय कुंठा के प्रति वह व्यंग कर उठता है :

मेरा डर मुझे चर रहा है
मेरा अस्तित्व पड़ौस की नफरत की बगल से गुज़र
रहा है
अपने विमाग के आत्मघाती एकान्त में
खुद को निहत्था साबित करने के लिए
मैंने गांधी के तीनों बन्दरों की हत्या की है।

—धूमिल, शान्ति पाठ, 'अकविता'-७

और देश, समाज तथा परिवार के प्रति उसमें एक निर्जीव संवेदना जन्म ले रही है। वह तमाम लोगों के प्रति एक प्रतिशोध की अग्नि में भभक रहा है। एक कवयित्री की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

पूरी पीढ़ी बंजर हो और बंजर रहे मेरे देश की धरती
मुझे नहीं आकांक्षा किसी के जीवन या मृत्यु की
काली और सपाट आँखों में देखते हुए मैं
हत्याएँ करूँगी और अपनी आत्महत्या।
प्रतिशोध की अंधी गलियों में दौड़ते हुए
और भागते हुए : जलते रूमाल और कोई भी नाम

—मोना गुलाटी, 'अकविता'-५

नितान्त नये हस्ताक्षरों में भी यह निर्जीव संवेदना उस विसंगति से अनुप्राणित है, जिसे वे भोग रहे हैं :

शाम और यह मृत शहर।
अब मुझे कोई एहसास नहीं होता
अपने यहाँ या कहीं, होने-न-होने का एहसास
भी नहीं।

—नीलाभ, 'संस्मरणारम्भ', पृष्ठ ३५

किन्तु यह अप्रतिबद्धता सृजन को नये रूप देने में सहायक भी है और ज़िम्मेवार भी। राजकमल चौधरी या सौमित्र मोहन, चन्द्रकान्त देवताले या मोना गुलाटी, कुमारेन्द्र, पारसनाथ सिंह या दूधनाथ सिंह—तमाम नये हस्ताक्षर इस अपरम्परा स्रोत के निर्वाहक हैं।

वास्तव में, आज का साहित्य कवि की अपनी स्वप्न-संज्ञाओं का संसार है, उसे किसी भी रूप में प्रतिवद्ध नहीं माना जा सकता। आज का कवि स्वतन्त्र-चेता है और अधिक स्वतन्त्र होने के लिए कटिबद्ध है। इसी स्वतन्त्र वृत्ति की परिपुष्टि से वह प्रतिबद्ध भी है और प्रतिश्रुत भी।

●

भारतीय युवजन : सामाजिक विश्लेषण

डॉ० पूरनचन्द्र जोशी

पिछले दिनों एक नई समस्या, देश के विभिन्न राज्यों में विद्यार्थी युवक असन्तोष की समस्या, सामने आई है। इस असन्तोष का फूट पड़ना आकस्मिक नहीं है; स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में होने वाले दूरव्यापी परिवर्तन उसकी जड़ में हैं।

भारत की राजनीतिक स्वाधीनता ने भारतीय समाज के कूप-मंडूकता से निकलने और अन्तर्राष्ट्रीय समाज से संपृक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने की प्रक्रिया को और भी तेज़ कर दिया। इस खुलाव से भारत और विकसित समाजों के बीच सम्प्रेषण बढ़ गया है जिसका एक अच्छा पक्ष भी है। वास्तव में, स्वयं प्रगति और विकास की अवधारणाएँ और उन्हें प्राप्त करने के साधन—वैज्ञानिक जानकारी और आधुनिक औद्योगिकी—अविकसित समाजों को विकसित समाजों से प्राप्त होते हैं। विकसित देशों की तुलना में ही अविकसित देशों में इस बात की चेतना जागती है कि वे सामाजिक और आर्थिक विकास की आधुनिक सीढ़ी में सबसे नीचे हैं।

इस प्रक्रिया में पिछड़े हुए देशों में ऐसी सामाजिक शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जो जल्दी से आधुनिकीकरण करने और कम विकसित तथा विकसित देशों के बीच खाई को पाटने के लिए तत्पर होती हैं। किन्तु विकासशील 'सम्पन्न समाजों' से सम्पर्क के कुछ ऐसे भी प्रभाव पड़ते हैं जो शीघ्र विकास में बाधक सिद्ध होते हैं। कम विकसित समाज 'सम्पन्नता' की अवस्था से सम्बद्ध उपभोग-सम्बन्धी प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं, सांस्कृतिक मूल्यों और सामाजिक-राजनीतिक संस्थानों का एक ऊपरी ढाँचा (Superstructure) इसे निभाने के लिए आवश्यक ठोस आर्थिक बुनियाद रखे बिना ही अपना लेते हैं।[1] विशेषकर 'अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन प्रभाव' पारम्परिक मूल्य पद्धतियों और आकांक्षाओं की जड़ खोदने में कहीं अधिक कारगर होता है, उनके पूरा होने के लिए आवश्यक भौतिक साधनों की बुद्धि की गति को तेज़ करने में उतना नहीं। अल्पविकसित समाजों के अभिजनों के मन में सम्पन्नता के फलों के लिए जितना आकर्षण होता है उतना उस सादगी, अनुशासन और कठोर परिश्रम के लिए नहीं होता जो विकसित देशों में 'सम्पन्नता' की अवस्था तक पहुँचने के लिए पहले आवश्यक और अनिवार्य रहा था। यही कारण है कि पिछले ज़माने में विकासशील समाज को 'बन्द करके' ही विकास सम्भव हुआ, और चाहे वह जापान हो चाहे सोवियत रूस, विकास के लिए आवश्यक 'पेट पर पट्टी बाँधने का काम' 'अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनात्मक प्रभाव' के इस पक्ष के विरुद्ध शक्तिशाली रक्षात्मक उपाय करने पर ही सम्भव हो सका।

विकास के लिए अपने समाजों को सक्रिय करने में अभिजन की अन्यमनस्कता और ढुलमुलपन, जो भारतसहित बहुत-से विकासशील देशों में पाया जाता है, केवल इसी कारण नहीं है कि इस अभिजन का नैतिक तत्त्व क्षीण हो गया है, इस नैतिक दुर्बलता का स्रोत उन प्रलोभनों में है जो तूफ़ान के वेग से विकसित देशों से विकासशील देशों में संचरित होते हैं। इस भाँति ज्यों-ज्यों अभिजन इन प्रलोभनों के आगे घुटने टेककर उनके जल्दी से पूरा होने के आसान तरीके खोजते हैं, त्यों-त्यों उनके और ग़रीबी से पीड़ित जनसाधारण के बीच व्यवधान और तनाव बढ़ता जाता है।

यह सब कहने का उद्देश्य यह नहीं है कि इन सब समस्याओं का हल विकासशील समाजों को विकसित देशों के सम्पर्क से अलग रखकर ही निकलेगा। वास्तव में पूरी तरह अलग रहने से तो परिवर्तन और विकास की प्रेरणाओं में कमी आने की आशंका है। किन्तु इस बात की आवश्यकता अवश्य है कि ऐसी शक्तिशाली आन्तरिक स्थितियाँ निर्मित की जाएँ जो विदेशी सम्पर्क के विकास-प्रेरक प्रभावों को अधिक तीव्र कर सकें और विकास-बाधक प्रभावों को कारगर ढंग से निष्फल कर सकें। इसकी पहली आंतरिक शर्त है एक ऐसे नेतृत्व वर्ग का मौजूद होना जिसका अपने देश के अधिकांश जनसाधारण से गहरा लगाव हो और जिसके मन में आधुनिक विकास के लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्धता और निष्ठा हो। बाकी समाज के साथ कठिनाइयों और मुसीबतों में साझीदार बनने को प्रस्तुत, प्रतिबद्ध तथा प्रबुद्ध नेतृत्व ही विश्वास के साथ अपने समाज को अल्प-विकसित अवस्था से आधुनिक विकास की अवस्था में महान् रूपान्तरण के लिए सक्रिय कर सकता है।

भारत का राष्ट्रीय संघर्ष निस्सन्देह एक नैतिक उथल-पुथल से भी जुड़ा हुआ था; उसने अवश्य ही ऐसा नेतृत्व उत्पन्न किया जिसके जनसाधारण से पक्के सम्बन्ध थे और

१. सांस्कृतिक क्षेत्र में विकासशील देशों के अभिजन यूरोपीय सांस्कृतिक क्रांति के प्रारम्भिक प्रबुद्ध नेताओं की विज्ञान, बुद्धिवादिता और प्रगति के लिए अदम्य कामना को इतना आत्मसात नहीं करते। इसके विपरीत अक्सर संशयवाद, 'सम्पन्नता' के युग के नकारवाद की ओर उन्मुख सिद्धान्त और दर्शन (जैसे अस्तित्ववाद existentialism) ही विकासशील देशों के बुद्धिजीवी वर्ग में प्रचलित हो जाते हैं। ज़ाहिर है कि इन सिद्धान्तों और दर्शनों का प्रचार इस अभिजन को अल्पविकसित देशों में छाये हुए अंधविश्वास, अबुद्धिवाद और मध्ययुगीनता के विरुद्ध सांस्कृतिक आधुनिकीकरण के संग्राम में सक्रिय भाग लेने के लिए असमर्थ बना देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो नैतिक साहस और त्याग का आदर्श प्रस्तुत कर सका। गांधी के रूप में भारत ने एक ऐसा नेता उत्पन्न किया जो भारतीय जागृति का प्रतीक बन गया; उनके स्वदेशी, सादगी और सेवा के आचरण और आह्वान दोनों ने पूरे देश में प्राण फूंक दिए थे। किन्तु स्वाधीनता-संग्राम में जो नैतिक शक्ति जनता में जाग्रत हुई वह स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद धीरे-धीरे बिखर गई; वह नैतिक उत्साह भारतीय विकास के उद्देश्य के लिए काम में लाया अथवा बनाए रखा न जा सका।

गांधीवादी विचारधारा ने राष्ट्रीय संघर्ष की सीमित आवश्यकताओं को तो पूरा किया, पर स्वाधीनता मिलते ही वह एक ओर जा पड़ी। गांधीवादी विचारधारा की अपर्याप्तता उसमें निहित पिछड़ेपन और ग़रीबी के आदर्शीकरण में ही थी। सादगी की गांधीवादी अवधारणा राष्ट्रीय विकास के ऐतिहासिक दृष्टि से समुचित परिप्रेक्ष्य से जुड़ी हुई न थी। वह विकास-समर्थक होने की बजाय विकास-निषेधक थी। मगर गांधीवादी दर्शन के विकास-निषेधक तत्त्व को निकालने के बाद स्वदेशी और सादगी की अवधारणाओं की यदि सामाजिक आर्थिक विकास की आवश्यकताओं की दृष्टि से बुद्धिसंगत और कार्यमूलक व्याख्या हो पाती तो उनमें बड़ी संभावनाएँ थीं।

किन्तु स्वाधीनता के तुरन्त पहले राष्ट्रीय अभिजन विकास-सम्बन्धी चुनौती के लिए पूरी तरह तैयार न था। फलस्वरूप स्वाधीनता मिलते ही विकास के लक्ष्यों के संबंध में राष्ट्रीय सहमति के अभाव, राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर विकासाकांक्षी सामाजिक शक्तियों की दुर्बलता और 'सम्पन्न समाजों' के बाह्य प्रभावों के लिए भारतीय समाज के खुल जाने में शीघ्रता—इन सबके बड़े दूरव्यापी परिणाम हुए। अंतर्जात प्रेरणाओं और बहिर्जात प्रभाव से प्राप्त विकास का वेग अन्य प्रक्रियाओं से दूषित हो गया, जैसे अभिजन के नैतिक उत्साह में शिथिलता, सादगी की कथनी और अत्यधिक उपभोग की करनी में बढ़ती हुई खाई और राष्ट्रीय संघर्ष के दौरान प्राप्त सीमित राष्ट्रीय सहमति का क्रमशः विघटन।

स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में राष्ट्रीय उद्देश्य की सेवा ही राजनीतिक अभिजन में सम्मिलित किये जाने की मुख्य कसौटी थी; इसके विपरीत स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद सेवा की भावना से रहित सत्ता और आसानी तथा प्रायः बेईमानी से प्राप्त सम्पत्ति को मान्यता मिलने लगी। मूल्य व्यवस्था और पद-प्रतीकों में परिवर्तन पिछले दो दशकों में राजनीतिक अभिजन के सामाजिक चरित्र और रचना में परिवर्तन का सूचक था।

इन नई प्रक्रियाओं का देश के सहज प्रभावित होने वाले युवक-वर्ग पर जो प्रभाव पड़ा उसे समझना कठिन नहीं है; भारतीय युवजन की मूल्यहीनता और उनमें सामाजिक उद्देश्य और राष्ट्रीय प्रतिबद्धता के अभाव की पृष्ठभूमि इन प्रक्रियाओं से ही बनी है।

विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ और युवजन के लिए बहुत-से क्षेत्रों में नए अवसरों में वृद्धि—निस्सन्देह स्वाधीनता के बाद के युग की ये महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। पहले हाल के वर्षों में स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय जाने वाले छात्रों की संख्या में वृद्धि पर ध्यान दीजिए। स्वाधीनता के बाद से नई बात यह है कि छात्र-समुदाय का बड़ा अंश, विशेषकर छोटे और मँझोले क़स्बों में तथा शहरों में, देहाती क्षेत्रों से और अल्प-सुविधाप्राप्त सामाजिक-आर्थिक वर्गों से आता है। उन्हें 'पहली पीढ़ी के छात्र' कहा जा सकता है क्योंकि उनके माता-पिता को कोई शिक्षा नहीं मिली थी। छात्र-समुदाय की रचना और स्वरूप में इस परिवर्तन की सार्थकता इन नई सामाजिक शक्तियों को किसी रचनात्मक दिशा में प्रवृत्त करने में अक्षमता के कारण नष्ट हो जाती है।

बड़ी संख्या में क़स्बों और शहरों में आने वाले देहातों के युवजनों को पहली बार पारम्परिक संस्थाओं (जैसे संयुक्त परिवार, जाति और गाँव इत्यादि) के जकड़ने वाले नियन्त्रणों से मुक्ति मिलती है। किन्तु इस उपलब्ध मुक्ति और उससे प्राप्त शक्ति के सन्तोषजनक उपयोग के रास्ते शहरी क्षेत्रों में नहीं मिलते। इससे समायोजन की नई समस्याएँ पैदा हो जाती हैं और साथ ही इन क्षेत्रों में हानिकारक उत्तेजना और भटकाव के साधन बहुत मौजूद रहते हैं। रहने और खाने-पीने की अपर्याप्त व्यवस्था, शिक्षा-संस्थाओं में बेहद भीड़-भाड़, अपेक्षाकृत अधिक प्रतियोगितामूलक, व्यक्तिवादी और आत्मीयताहीन परिवेश में उत्पन्न मानसिक तनाव और असुरक्षा के साथ भविष्य में रोज़गार मिलने की अनिश्चितता—इन सब कारणों से कुंठाएँ और तनाव उत्पन्न होते हैं जिसके फलस्वरूप समाजीकरण में बाधा पड़ती है।

संकोची और विनम्र युवक भी जब देखता है कि दूसरे ज़रूरी तौर पर अधिक योग्यता वाले नहीं, बल्कि अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वपूर्ण सामाजिक सम्पर्क वाले लोग ज़िन्दगी में आसानी से चल निकलते हैं तो वह क्रुद्ध युवक बन जाता है। वर्गगत और सामाजिक पृष्ठभूमियों में अंतर के कारण उत्पन्न विषमताओं और उनकी तीव्र चेतना से ऐसा तनाव जमा होने लगता है जिसकी सम्भावनाएँ बड़ी विस्फोटक हैं। उस क्रुद्ध युवक को जब नौकरी तलाश करने वालों और शिक्षित बेकारों की सेना में शामिल होना पड़ता है तो वह और भी क्रुद्ध हो जाता है और मौजूद परिस्थितियों के अनुरूप अपनी आकांक्षाओं को ढालने से इंकार करने लगता है।

इन बातों से असन्तोष और उथल-पुथल पैदा होती है। विद्यार्थियों के रहने और पढ़ने की परिस्थितियों में सुधार, नौकरी मिलने की सुरक्षा और शिक्षित युवकों के कल्याण की माँगें विभिन्न क्षेत्रों से उठती हैं। प्रशासकों को बाध्य होकर युवजन के असन्तोष और क्षोभ की विस्फोटक सम्भावनाओं को कम करने के लिए इन शिकायतों पर ध्यान देना पड़ता है। इन बातों में सुधार होने से निस्सन्देह किसी हद तक तनाव कम हो सकता है पर क्या उससे संकट दूर होना संभव है?

विकासशील देश का हित इसमें नहीं कि वह अपने युवजन को भौतिक सम्पन्नता का प्रलोभन देकर बिगाड़े। उसके लिए इसके सिवाय कोई चारा नहीं कि 'अपेक्षा और पूर्ति' की खाई की समस्या को सारे समाज के ऊपर सर्वव्यापी सादगी लागू करके सुलझाए। पाश्चात्य समाजों के विकासमान पूंजीपति वर्ग ने भी अपने निष्ठावादी उत्साह और अपनी संतति से परिश्रम और उपलब्धि के कठोर आग्रह द्वारा ही भावी सम्पन्नता की नींव रखी थी। वास्तव में यदि आज के भारतीय युवजन ने सभी देशों और युगों के युवक समाज में मिलने वाले संवेदनशीलता, शक्ति और आदर्शवाद के गुणों को गँवाया नहीं है, तो उसके लिए अधिक आवश्यकता भौतिक प्रलोभनों की नहीं, बल्कि कठोर तैयारी की है कि वह बाद में वयस्क नागरिक होने पर राष्ट्र-निर्माण के काम में सहभागी बन सके।

स्वाधीनता का आदर्श किसी समय एक प्रेरणादायी आदर्श था और स्वाधीनता-संग्राम ने भारतीय युवजन के सर्वश्रेष्ठ गुणों को उभारकर सामने रखा। भारतीय नेता वर्ग स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद युग में राष्ट्रीय विकास की चुनौती को ऐसे प्रबल आदर्श का रूप देने में अक्षम रहा है, योजनाबद्ध विकास के कार्यक्रम ने युवक समाज की कल्पनाशीलता को उद्वेलित नहीं किया है और न उसने कोई विशेष आध्यात्मिक हलचल अथवा शक्ति ही उत्पन्न की है। इस कमज़ोरी के बुनियादी कारण सामाजिक-राजनीतिक हैं; उनकी जड़ें विकास की चुनौती के प्रति नेताओं के उभयभावी रुझान में हैं।

विकास-कार्य को एक व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में संगठित करने में असफलता शासक-वर्ग में विकास के तर्क से बचने की प्रवृत्ति से अर्थात् सम्पूर्ण समाज को दीर्घ काल तक अत्यधिक सादगी, अनुशासन और कठोर परिश्रम को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने के लिए तैयार करने की ज़िम्मेदारी से बचने की प्रवृत्ति से पैदा होती है। इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि स्वाधीनता का आदर्श ही ऐसा था कि उसके लिए समर्थन अपने-आप मिलता था; इसके विपरीत विकास-कार्य के लिए समर्थन **संगठित** करना पड़ता है। उसके लिए कितना समर्थन मिलता है यह इस बात पर निर्भर है कि उसको **कैसे** संगठित किया गया है और उसके लाभों और परेशानियों का समाज के विभिन्न अंशों में **किस प्रकार** बँटवारा हुआ है।

जो शासक अभिजन सम्पत्तिशाली और धनी वर्गों को इस बात की छूट देता है कि वे अपनी दौलत को चाहें तो सामाजिक प्राथमिकताओं के बाहर ऊँचे मुनाफ़े के लिए काम में लाएँ चाहे दिखावटी उपभोग का ऊँचा स्तर बनाये रखने के लिए उसे अन्य वर्गों पर सादगी लागू करने में अधिकाधिक कठिनता होती है। सम्पत्तिशाली वर्गों को अनुशासित करने और राष्ट्रीय बचत तथा संचय को पुष्ट करने के लिए धनी वर्गों की अतिरिक्त दौलत निकलवाने में असफलता का अनिवार्य परिणाम यही होता है कि श्रमजीवी जनता में जल्दी से न्यायपूर्वक पुनर्वितरण के लिए, राष्ट्रीय उत्पादन में बृहत्तर भाग के लिए अधीरता बढ़ती जाती है।

ऐसा वातावरण त्याग और आत्मसंयम अथवा राष्ट्रीय उत्पादन में जोश के साथ वृद्धि के नैतिक आह्वान के लिए बहुत उपयुक्त नहीं हो सकता। मानवीय और भौतिक दोनों प्रकार के आन्तरिक साधनों को जुटाने के बेमन से किये गए प्रयासों के कारण विदेशी सहायता पर निर्भरता आवश्यक हो जाती है, और इस प्रकार दुश्चक्र और भी गहरा होता जाता है।

इस भाँति आज के युवक समुदाय को पिछली पीढ़ी से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो विरासत मिली है वह मिश्रित है : एक ओर राजनीतिक स्वाधीनता और विकास-प्रक्रिया का प्रारम्भ तथा दूसरी ओर विकास के अधूरे कार्य।

राष्ट्रीय आन्दोलन का पिछला इतिहास इस बात का पक्का साक्षी है कि राष्ट्रीय धारा को पुरानपंथी दलदल में फँसने से बचाने में देश के प्रबुद्ध युवक समुदाय के सहयोग का बड़ा भारी हाथ था। सन् तीस के बाद से होने वाले व्यापक युवक जागरण ने ही तरुण नेहरू के इस संघर्ष के लिए ज़मीन तैयार की कि स्वराज्य की अस्पष्ट और आकारहीन अवधारणा को सामाजिक-आर्थिक आधार दिया जाए। युवक जागरण का बल पाकर ही वे राष्ट्रीय नेतृत्व के भीतर पुरानपंथी शक्तियों को चुनौती देने का साहस कर सके।

भारतीय युवजन आज फिर भारत की प्रगति और विकास को बड़ा भारी सहारा दे सकते हैं। इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय कर्त्तव्य में युवजन के सहयोग को संगठित करने से पहले युवक समुदाय में विचारशील और सक्रिय तत्त्वों को अपने-आपको गम्भीर आत्मशिक्षण के लिए संगठित करना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच कविताएँ

जलसाघर

श्रीकान्त वर्मा

—यही सोचते हुए गुज़र रहा हूँ मैं कि गुज़र गयी
बग़ल से
गोली दनाक से।
राहज़नी है या क्रांति ? जो भी हो, मुझको
गुज़रना ही रहा है
शेष !
देश
नक्शे में
देखता रहा हूँ हर साल नक्शा बदलता है
कच्छ हो या चीन
तब तक
दूसरी गोली दनाक से !
हद हो गयी, मुझको कहना ही पड़ेगा, हद कहीं नहीं
चले आओ अन्दर
मुझको उघाड़कर
चूतड़ पर बेंत मार
चेहरे पर लिख दो, यह गधा है ! तब भी जो जहाँ
है, वहीं बँधा है
अपनी बेहयाई को
सँवारता हुआ चौदह पैसे की कंघी से।
चले जाओ
चकले पर, टाट पर, जहन्नुम में, लाट पर,
खुदबुदाते हुए प्रेम, बिलबिलाती हुई इच्छा, हिनहिनाते
हुए क्रोध को मरोड़ दो ! क्या होगा ? छूंछा
होता हूँ हर बार ताकि और भी मवाद हो।
हैदाद हो, खुजली हो, खाज हो, हरेक के लिए
मुफीद,
आजमाइये, मथुरा का सूरदास मलहम।
क्या कहा ? साँडे का तेल ? नहीं, नहीं,
कामातुर स्त्रियाँ, लौट जायँ, वामाएँ,
मैंने गुज़ार दी, ऐसे ही, लौट जाएँ
सब अपने-अपने ठिकानों पर—
पाप संसार में,
मंत्री अस्तबल में,
पाखंडी गर्भ में,
अफ़सर जिमखानों पर,
वर्षा नहीं होगी, ख़बरों के अपच से, सब के सब मरेंगे
एक राजधानी को छोड़
उठती है मरोड़, अभी से टीका लगवाइये घी का
भाव दूना हो गया है सूना
लगता है लस्सा ही
नहीं रहा
क्या कहा ? नहीं, नहीं, मथुरा का सूरदास मलहम
मुफ़ीद है
दाद हो, खुजली हो, खाज हो,
—जिस किसी का राज हो
मुझको मंजूर नहीं किसी की शर्त, किसी की दलील
कि उसने मारा मेरे दुश्मन को,
कोई मेरा वकील नहीं,
मर्दुमशुमारी के पहले ही मुझे कूच कर जाना है हरेक
कूचे से,
सबकी मतदान पेटियों में
कम है एक-एक वोट,
मुझको मंजूर नहीं किसी की शर्त।
मुझको गुज़रना है भरी हुई भीड़ से, मक्खियों के
झुंड से
एक-एक कर अपने सभी दोस्तों के नजदीक से
ठीक से
चलो, कहकर, मुझको धकियाता है, ऊलजुलूल,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आँखें तरेरकर
घेर कर
कहाँ लिए जाते हो मुझ को मेरे विरुद्ध ?
छोड़ दो, छोड़ो, छोड़ो, वरना। वरना के आगे
कुछ नहीं, बस स्टॉप है जिसका
मुँह
किसी की तरफ़ नहीं,
मुझे भी बदल दो बस स्टॉप में
छोड़
दिया गया है
मुझे अनन्त काल तक
भटकने
के लिए
इस प्रलाप में

ऑनरेरी सर्जन। कनसल्टेंट, मिलने का समय,
पाँच से सात,
मेरा उद्धार करो—
मेरा स्वाद बदल रहा है, रहते-रहते
मैं भी
यहाँ का
हो चला
हो चली
शाम
बदलो, बदलो अपने मिलने का समय, यह समय वह समय
नहीं

दुःख, लेन-देन, रह गया माल, दुर्घटना, वेश्या, घेराव,
कम्युनिस्ट पार्टी की जनता, जनसंघ का लोक,
किये का शोक, अनाकये का
शोक
छा गया है
खुदाबख्श हिजड़े की बेवजह मौत पर, फ़ौजदारी
कायम हो,
कायम हो, तुम अब तक, वैसे
सच यह है,
मैं तुमको पहचान नहीं पाया था अब के,
जाने कब-कब के,
साथ-साथ
छतों से, पलंग से, सीढ़ी से
नीली, पीली, बजी हुई
निगल रही हैं
अन्तिम दृश्य को

भविष्य को अँगुली पर रखता है ज्योतिषी
बनिया तिजोरी में,
पकड़ा गया था जिस चोरी में
तीन साल पहले अज्ञान सिंह, उसका अब भेद
खुला

खुला-खुला लगता है, वैसे, पर सचमुच
डरा-डरा,
हरा-भरा दिखता है, सौवाँ, मैंने क्या
ठेका ले रखा है, बाकी निन्यानवे का
फेर,
देर वैसे भी हो चुकी, चौसर की तरह
बिछे
नक्शे पर बैठ गया कौव्वों का प्रसंग, पृथ्वी का
हिसाब
हो रहा है—

मुझको इसी बात पर काँव-काँव करने की छूट दो,
क्षमा करो,
छोड़ दो,
रिहाई को बचा ही क्या अब, एक
और ठंडस्नान,
एक
और मोहभंग
सब कुछ प्रतिकूल था, तब भी संभव किया, मैंने
कविता को
और
कुछ अपने आपको,
धन्यवाद !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोड़ता है यथास्थिति, मनसब नहीं, बल्कि
ग़लत बीज,
टूटता है सब-कुछ बस, धनुष नहीं
टूटता,
तौला गया था जो सोने से

क्या होगा रोने से, यह कहकर, जमुहाई
लेती हुई
सोने को जाती है विधवा
जिसे
ठोंकता है दिन भर
चुंगी का दरोगा, भैंसों का दलाल

देखता है काल या कि देखता भी नहीं है ?
मुझको
सन्देह है,
इसको सुज़ाक है, उसको मधुमेह है

बार-बार पैदा होती है आशंका, बार-बार मरता है
वंश

क्या मैं इसी तरह, बिलकुल बेलाग, यहाँ से
गुज़र जाऊँ ?

हे ईश्वर ! मुझको क्षमा करना, निर्णय
कल लूंगा जब
निर्णय हो चुका होगा !

भाषा—२

प्रयाग शुक्ल

तीसरी मंज़िल से, कुछ किताबों के पास
खड़ा वह, बाहर देखता है,
दौड़ती है कार, नहीं कारें—
शहर का वह शोर छिप गया है ?
उसे बेआवाज़ सुनने से बचने के लिए
वह थाम लेता है आँखों से कुछ अक्षर !
अक्षर, पढ़े नहीं गये ठीक से तो
तो वह लगा देता है सारा ज़ोर ।
वे पढ़ तो रहे हैं । फिर
दुहरा होकर वह फ़र्श पर, चक्कर···
क्या बजता है, नहीं बसा है हृदय में, वह घुमड़ता है !

पुस्तकालय की सीढ़ियाँ उतरने के बाद
पकड़नी होगी बस
बस शाम की ।
बाहर आने से पहले वह कहेगा कौन-सा शब्द
अपने से, घर जाने से पहले भूल तो नहीं जाएगा—
रास्ते में मिलेगा विनोद या सरन,

शायद सरन
तब चल रही होगी हवा
वह बताएगा क्या कि बचपन में हम तापा
करते थे एक तसले में
जलाकर आग ।
और पहचान लेते थे अँधेरे में ।
पढ़ लेते थे खोलकर किताब ।

नहीं रुकना नहीं चाहिए
लेकिन वह क्या गड़ा है दफ़्तरी हजूम से
निकलकर उसके हृदय में ।
न वह मिला, न वह ।
इस भवन का नाम, पहचान है
रास्ते की बस,
गुजरता है जहाँ से उसका शरीर हर बार
उसका शरीर !

हटायी जा सकती है यह पथराई दीवार ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बार भी।
उसे लाओ, उसे ही बुला लो, पेड़ों की कतार
के पीछे छिपी गन्ध को,
नृत्य, नृत्य की वह मुद्रा
रुको, चलने दो उस नाटक को···
उसे ही याद करो
अब हर तीसरे क्षण बाद कौन आएगा
तुम कहाँ तक जाकर थकोगे,
गिरोगे तो नहीं।
दुहरे होकर।
मैं जानता हूँ लेकिन कुछ कर नहीं सकता।
सीढ़ियाँ, घुमाव, वे कटावदार मुस्कानें, हिलती
हुई कुर्सियाँ
गड़ी हैं
चक्करदार।

हर बार वह पेड़ आ जाता है इन्हीं के घेरे में।
और हर बार मोड़ तक पहुँचकर
तुम सोचते हो,
वह हरा तोता देखा था अभी या कल शाम—
और हर बार सड़क के दोनों ओर के मकान,
और शाम, अलग-अलग टँगे रह जाते हैं।

वह पहुँचा देता है वहाँ, वह पहुँचा देता है वहाँ।
हर बार पेट और खेत के दाने की दूरी
सोची नहीं जाती।
नहीं, रोककर, रुककर, मैं गिन तो लेता हूँ
एक-एक चीज़ छाया समेत,
लेकिन उनके चलने से पहले ही
चल देना पड़ता है,
उसके लिए—

जनमत के मौन अंधकार में

दूधनाथ सिंह

उन्होंने तुम्हें ले जाकर खड़ा कर दिया हड्डियों के एक विशाल ढूह के पास
और कहा कि देखो, वे यहाँ हैं। तुम फिर नहीं कह सके कि नहीं, वे
यहाँ नहीं हैं। क्या तुम पहचान सकते हो इन कंकालों में अपना
कंकाल! नहीं, इसकी जरूरत नहीं, सामने की इकहरी सचाई के बाद।
सिर्फ़ देखो, उनके अन्दर से हरी-हरी घास उग रही है
उन्हीं के ख़ून से सिंची हुई। तुम्हारे अन्दर तक।
अब तुम 'असम्भव' नहीं कह सकते
—जहाँ तुम खड़े हो।

अब तुम लौट नहीं सकते इसके बाहर—यह तुमने कहा
अपना माथा झुकाकर। उनके अन्दर से हरी-हरी घास उग रही है
भविष्य की। अब तुम (बुलेट-प्रूफ़) शीशे के मकानों में अपने को
बन्द नहीं कर सकते। (जो रातों-रात मुँह बाकर दिल्ली में पसर जाते हैं।)
सिर्फ़ एक मैदान बच रहा है तुम्हारे लिए। जनमत के मौन
अंधकार में। अब तुम्हें भुगतना ही पड़ेगा यह मैदान
'अन्दाज़े-बयाँ' अपनी कविता का।
अब तुम किसी को लांछित नहीं कर सकते
अपने तैयार किये नक़्शे के लिए—जिसमें
नींद और जश्न और सुविधा का
कोई शहर नहीं है
तुम्हारे लिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति। विचार। प्रेम। नैतिकता। अफ़वाहें। चिन्तन-
चरित्रहीन।
घृणा। कविताएँ। कर्ज़खोर कविताएँ। कविताएँ
पुंसत्वहीन—
तुम्हें शर्मसार नहीं होना है अब इस माहौल में।
जहाँ तुम खड़े हो—वे तुमसे कोई कृतज्ञता नहीं माँगते।
हरी-हरी घास उग रही है उनके अन्दर से—तुम्हारी
कविताओं में।
कुछ घोषणाएँ विक्षिप्त-सी चिथड़े लपेटे बीड़ी पी रही
हैं। हवा में
वही परायापन। वही परायापन। वही परायापन
सड़क पार
अपना पैबन्द सिल रहा है चुपचाप। निकट। पागलपन
के निकट। विश्वासहीनता के निकट भी बचा है
तुम्हारे पास
जनता का वही कंकाल, जिसे तुमने कभी
पराया नहीं कहा।

कई एक दोस्तों की मौत हो गयी है सही-सलामत।
बीवियों और बच्चों और 'भांग की पकौड़ी' के साथ
और पूरे मकान और चिकनी दीवारों और नये-नये
यारों के साथ
वे नये कैलेण्डर का इन्तजार कर रहे हैं—जिस दिन
नया कैलेण्डर आ जाता है—उसी दिन से। एक कवि
आनेवाली सारी पीढ़ियों को अभिजात गालियाँ बक-
बक कर
संसद के चारों ओर नाच रहा है चकरघिन्नी की
तरह। उसी दिन से।
चढ़ी हुई घुमरी के बीच उसे दिखाई दे रहा है
प्रजातंत्र
आशातीत रूप से सफल हो रहा है प्रजातंत्र···
रह-रह चिचियाता है कवि। और रह-रह चिचियाते हैं
'भांग की पकौड़ी' के साथ नये यार। अपने झुंटैले
बाल और उभरी पसलियाँ सहलाते हुए तुमने कहा—
अब तुम्हें फर्क तो करना ही पड़ेगा
अपने और उनके प्रजातंत्र में। निहत्थे।
अब तुम 'असंभव' नहीं कह सकते
जहाँ तुम खड़े हो।

दोस्त और कवि सब चले गये दरबों में सही-सलामत।
तब
एक पुल की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए तुमने देखा एक
चमत्कार
पहली बार। कि बच्चे इतने खूबसूरत थे तुम्हारे। कि
सहसा
पुल के सारे खम्भे उखड़ गये अन्दर तुम्हारे। और एक
आदमखोर
मगरमच्छों से भरा हुआ समन्दर लहराने लगा वहाँ—
इधर-उधर
चारों ओर। डर। एक डर। महज़ एक जायज़ डर
जिसकी वकालत बेकार है अब। तुम्हें भरोसा तो
करना ही पड़ेगा
अब तुम्हें देना ही पड़ेगा—एकान्त में रची इस
सारी सुन्दरता को
न जाने किस आत्मघाती दुनिया का सामना
करने के लिए
अब तुम्हें सौंपना ही पड़ेगा। यह चमत्कार। तुम्हें
सहना ही पड़ेगा। इस जायज़ डर की वक़ालत
बेकार है।
पुल की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए तुमने देखा कि आखिरकार
सोच से कुछ नहीं होता। तुम्हारी जवानी और
तुम्हारे सोच का
कि बार-बार जो तुम नहीं देखना चाहते
वह तुम्हें दिखेगा तो, लेकिन जो तुम
नहीं होना चाहते—वह
तुम्हें नहीं होना पड़ेगा
इस देश में।

कितना बड़ा पागलखाना ठीक रहेगा—जो जिम्मेदार हैं
इसके लिए—जहाँ तुम खड़े हो अन्ततः। यह सवाल
रखने के पहले लौटना होगा। उन्हें छूकर पता
करना होगा।
किसी भी सही निर्णय को ग़लत कर देने के लिए
एक बार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हें सही तरीके से मरना होगा उस पागलख़ाने
में स्वयं
जो पहले से ही बना हुआ खण्डहर हो रहा है।
उन टूटी दीवारों में रख देनी होंगी अपनी आँखें
एक बन्दूक की भरी हुई नली की तरह। अतः सोच लो
कि अब तुम नीला आसमान देखोगे या कविता के लिए
कविता को ठिकाने लगाओगे।

कवि भविष्यवक्ता नहीं होता—यह तुमने कहा।
अब तुम 'असम्भव' नहीं कह सकते—जहाँ तुम
खड़े हो—
हड्डियों के विशाल ढूह के अन्दर से कहा
जनता ने—
जनमत के मौन
अन्धकार में।

केवल एहसास और दिमाग़

प्रभात

कितना सरल है प्रश्नों का उत्तर देने के बजाय
उनके लिए सवाल पूछना। उनके तरीके बदल गए हैं
अब वे नहीं कहते तुम दास हो
क्योंकि अब सब बराबर 'हो गए' हैं
जिनके हाथों में सत्ता है उन्होंने अपने तरीके अब
बदल दिए हैं।

उनके पास एक ऐसी भाषा है जो केवल दासता करते
रहने पर विवश करती है
अगर तुम 'अपनी भाषा' में पूछो अर्थ
तो तुम तभी उसे समझ पाओगे जब 'शांति' के
नाम पर
'न्याय व्यवस्था' तुम्हें सीखचों के अन्दर बन्द कर
चुकेगी।

शायद दासों के पास केवल दासत्व छोड़कर
और कुछ नहीं होता।

उनके दस्ते विचारों के लबादे तय्यार करते हैं
तुम्हें उन्हें पहन लेना चाहिए क्योंकि वे तुम्हें ढंक
सकते हैं (?)

मत कहो कि उसका कपड़ा गन्दा है—
क्योंकि साधारण अब असाधारण महत्त्व पा चुका है;
सब बराबर हैं
और साधारण के लिए उनका सूक्त है :
'गन्दा कपड़ा पहनो।'

मेरी घृणा। कितनी विवशता है।
मैं प्रतिदिन और अवश होता जाता हूँ।
यह घृणा का जहर है

फिर सही क्या है
बल्कि उचित क्या है
या क्या करना चाहिए
सारी इन्द्रियों को नियन्त्रित किया जा सकता है :
केवल एहसास और दिमाग़ अब घातक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक युवा-कवि की आत्म-स्वीकृति

देवेन्द्र कुमार

क्षमा करें ! मैं कुछ नहीं हूँ
न गाय, न जनता
मेरे सीने में अब दूध का समुद्र नहीं उफनता !
आँखों की बत्तियाँ कब की बुझ चुकी हैं
—मैं अन्धा हूँ
कानों के पर्दे कब के फट चले हैं
—मैं बहरा हूँ
कद्र ज़ुबान की होती है
जो मेरे पास नहीं है ।
बदन में इक्के-दुक्के चकत्ते निकल आए हैं
डाक्टर से वैद्य तक कहते हैं, सफ़ेद कोढ़ है
कोढ़ कहीं एक-दो जगह होता है
हद है !
तभी से कहीं नहीं जाता,
बल्कि संयोग से जो भी इधर आता है
रोककर शरीर का वह हिस्सा दिखाता हूँ
जो अवैध करार दे दिया गया है ।
आप भूल कर रहे हैं !
मकान और चेहरे अक्सर मिल जाते हैं
होगा कोई ! आगे बढ़कर देखिए, शायद··।
अपनी समझ से—
मैंने कोरे कागज़ पर सिर्फ अँगूठा ही चस्पाँ किया है
पर उन्हें क्या समझाऊँ
जो कहते हैं—कविता की है ।
कहाँ वह एक पुनीत कर्त्तव्य
और कहाँ यह समय का घोर अपव्यय,
इनमें कोई तुक भी है ।
बेहद निजीपन की हत्या और शिनाख्त ही
यदि आज कविता है,
तो इससे बढ़कर मेरे निरक्षर होने का सबूत
दुनिया के सामने और क्या हो सकता है ।
कच्चे हैं, नये हैं
शब्द जमीन पर आकर बिच्छू बन गए हैं
बन गए होंगे ! मुझे नहीं मालूम !
न फूल, न पत्तियाँ
हवा में झूल रही हैं—तख्तियाँ
'अन्दर आ सकता हूँ ?'
मेरे घर के पीछे बरगद का घना पेड़ है
जिस पर रात के सन्नाटे में, रोज़ एक चिड़िया
आकर बैठती है
बोलती है तो भयावह लगता है
बच्चे और औरतें उधर नहीं जातीं
लोग कहते हैं कि, चुड़ैल बसती है । पकड़ लेगी तो,
छोड़ेगी नहीं ! जब से होश में आया
मैं उसीको जानता हूँ । आपका यह जनतंत्र क्या है ?
यहाँ ले-देकर एक ही आढ़तिया है
जो गाहे-बगाहे, माँगने पर 'कुछ' दे देता है
बरसों से (नवासे पर) मकान बनवा रहा है
दरवाज़े पर दरवाज़े, खिड़कियों पर खिड़कियाँ
खुलती चली जा रही हैं
दिली-ख्वाहिश थी कि एक बार जिन्दगी में पूरा होते
देख लेता । मगर पूछने पर कहता है—
अधूरा है । अभी कहाँ···
क्या स्वर्ग भी इसी तरह का अधूरा है
हो न हो ! तभी सबकी ज़ुबान पर है, या रहा है
और अब ज़ुबान पर भी कहाँ है !
अँधेरे में दूर तक झिलमिलाती है—एक रोशनी
जो रोशनी से भी अधिक राहज़नी है ।
झूठ से भी निकम्मे इस कमज़ोर सच से
मुझे सख्त नफ़रत है
बावजूद इसके अँधेरे में हर चीज़ को मैंने
एक नये सिरे से टटोला है
किसी ने मेरे लिए कोई सुरक्षित-शब्द-भण्डार
नहीं खोला है ।
न जनता, न नेता
आप पूछेंगे ! फिर मुझे इस देश से क्या वास्ता
सो तो है । मगर···

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोर्की और यथार्थवाद

भीष्म साहनी

प्रेमचन्द की मृत्यु से लगभग दो महीने पहले गोर्की की मृत्यु हुई थी। प्रेमचन्द स्वयं उन दिनों बीमार थे और उनके लिए चलना-फिरना कठिन हो गया था। गोर्की की मृत्यु पर 'आज' नामक पत्रिका के दफ़्तर में एक शोक-सभा का आयोजन किया गया था, और उसमें प्रेमचन्द को भाषण देना था। श्रीमती शिवरानी देवी ने अपनी पुस्तक में उस शोक-सभा के सन्दर्भ में प्रेमचन्द की मनःस्थिति का बड़ा अच्छा चित्र खींचा है। मैं उस स्थल को यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता :

"गोर्की की मौत पर 'आज' के ऑफ़िस में मीटिंग होने वाली थी। रात को जब आपको नींद नहीं आई तो आप उठकर भाषण लिखने लगे। मेरी आँख खुली तो देखा आप ज़मीन पर बैठे कुछ लिख रहे हैं।

"आप यह क्या कर रहे हैं ?"

"परसों 'आज' के ऑफ़िस में गोर्की की मृत्यु पर मीटिंग होने वाली है।"

"कैसी मीटिंग ? तबीयत अच्छी नहीं, भाषण लिखने बैठे, मालूम है दो बजे हैं ?"

"···बिना लिखे काम नहीं चलेगा। अपनी खुशी से काम करने में आराम या तकलीफ़ का बोध नहीं होता। जिसको आदमी कर्त्तव्य समझ लेता है उसको करने में मनुष्य को कुछ भी तकलीफ़ नहीं होती।"

"यह मीटिंग कैसी है ?"

"शोक-सभा है।"

"वह कौन हिन्दुस्तानी थे ?"

आप बोले : "यही तो हम लोगों की तंगदिली है। गोर्की इतना बड़ा लेखक था कि उसके विषय में जातीयता का सवाल ही नहीं उठता। लेखक हिन्दुस्तानी या यूरोपियन नहीं देखा जाता। वह जो लिखेगा, उससे सभी को लाभ होता है।"

"ठीक, उसने हिन्दुस्तान के लिए भी कुछ लिखा ?"

आप बोले : "तुम ग़लती करती हो रानी ! लेखक के पास होता ही क्या है जिसे वह अलग-अलग बाँट दे ? लेखक के पास तो उसकी तपस्या ही होती है, वही सबको वह दे सकता है। उससे सब लोग लाभ भी उठाते हैं। ···लेखक जो तपस्या करता है उससे जनता का कल्याण होता है। वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता।"

"गाँव वालों में तो शायद ही कोई गोर्की का नाम जानता हो।"

आप बोले : "···इसका कारण है शिक्षा का अभाव। ···जब घर-घर शिक्षा का प्रचार हो जाएगा, तो क्या गोर्की का प्रभाव घर-घर न हो जाएगा ? वे भी तुलसी-सूर की तरह चारों ओर पूजे जाएँगे।···"

इसी तरह बातें करते-करते चार बज गए। सामने घड़ी डेस्क पर रखी थी। देखकर बोले : "मुझे तो नींद नहीं आती, तुम व्यर्थ में क्यों जागती रह गईं···जाओ, सो रहो।"

···मैं उसी जगह चारपाई पर लेट रही। मैं डरती थी कि चले जाने पर ये फिर काम करने लगेंगे। और कोई खुशी की बात भी न थी। मैंने देखा कि लिखते समय उनकी आँखों में आँसू थे।

सुबह हुई। दूसरे दिन मीटिंग में जाने को तैयार हुए तो मैं बोली : "आप चल तो सकते नहीं, फ़िज़ूल में जा रहे हैं।"

आप बोले : "ताँगे पर जाना है। पैदल तो जा नहीं रहा हूँ।"

मैं बोली : "ज़ीने पर चढ़ना-उतरना है न ?"

आप बोले : "यह तो लगा ही रहता है। मेरी तबीयत नहीं मानती।"

मैंने उनके साथ बड़े लड़के को भेज दिया। नीचे तक खुद पहुँचाने आई। मैं यह डर रही थी कि कहीं वे ज़ीने से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिर न जाएँ।

जब वे वहाँ से लौटे तो मैं फिर दरवाज़े पर मिली। जब वे ऊपर चढ़ने लगे तो बहुत करने पर भी उनके पैर लड़-खड़ा गए। ···ऊपर आने पर चारपाई पर लेट गए। सुस्त पड़ गए। मैं उनके पास बैठी धीरे-धीरे पैर दबा रही थी। जब वे कुछ सुस्ता लिए तब बोले : "मैं वहाँ खड़ा न हो सका। भाषण पढ़ना तो दूर रहा। एक और महाशय से भाषण पढ़वाया।

मैं बोली : "मेरा कहा आप मानें तब न ? मुफ़्त में परे-शानी उठानी पड़ी।"

आप बोले : "कमज़ोरी आए या जो कुछ, कहीं इस तरह बैठा जाता है ?···गोर्की के मरने से मुझे बहुत दुःख हुआ है। मेरे दिल में यही आ रहा है कि गोर्की की जगह लेने वाला कोई नहीं रहा।"

गोर्की के मरने की चर्चा वे कई दिनों तक करते रहे। जब-जब गोर्की के विषय में बातें करते, तब-तब उनके हृदय में एक प्रकार का दर्द-सा उठता दिखाई पड़ता। गोर्की के प्रति उनके दिल में असीम श्रद्धा थी। वही उनका अन्तिम भाषण था। गोर्की का कोई समकक्ष लेखक उनकी निगाह में नहीं आता था। गोर्की की चर्चा वे अक्सर उन दिनों करते। कौन जानता था कि दो महीने भी नहीं बीतने पाएँगे कि वह खुद चले जाएँगे···।

(पृ० ३३६-३४३, 'प्रेमचन्द घर में')

'आज' नामक पत्रिका की उस गोष्ठी में पढ़े गए लेख में प्रेमचन्द ने गोर्की के बारे में क्या कहा, मैं नहीं जानता। वह लेख, सम्भव है किसी अनुसन्धाता ने खोज निकाला हो और कहीं प्रकाशित हुआ हो, मेरी नज़र से वह नहीं गुज़रा। परन्तु प्रेमचन्द के उद्गार, गोर्की के प्रति उनकी श्रद्धा उनके मूल्यां-कन की कुछ-न-कुछ झलक दे ही जाती है। यह अनायास ही नहीं था कि गाँव में बैठे हुए लगभग मृत्युशय्या पर पड़े हुए प्रेमचन्द ने गोर्की के प्रति इतना गहरा लगाव महसूस किया। कहीं कोई तार था जो दोनों के दिलों को जोड़ता था, कहीं कोई दृष्टिकोण था जो दोनों में समान रूप से पाया जाता था। उस ज़माने में जब हमारे यहाँ अंग्रेज़ों का बोलबाला था, और अंग्रेज़ी शासन रूस के बारे में हर मुमकिन तरीके से हमें गुमराह कर रहा था और भारत के क्षितिज पर भावी स्वतं-त्रता की कोई भी स्पष्ट रेखा प्रकट नहीं हुई थी, ऐसे समय में प्रेमचन्द का गोर्की के व्यक्तित्व, उनकी भूमिका तथा उनकी रचनाओं से परिचय एक ओर प्रेमचन्द की जागरूकता का परिचायक है तो दूसरी ओर उस समानता का भी जो दोनों में बहुत हद तक पाई जाती थी।

दोनों उत्पीड़ित जनता के लेखक थे, दोनों ने शोषित, अपहृत व्यक्ति के दिल की धड़कन सुनी थी और उसे साहित्य के मंच पर खड़ा किया है, दोनों में अपने युग की आवाज़ मुखरित हुई है, दोनों को जीवन से गहरा प्रेम था, दोनों में गहरी मानवीय संवेदना पाई जाती थी और दोनों अपने काल के क्रान्तिकारी लेखक थे। दोनों की मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य में गहरी आस्था थी।

मेरा उद्देश्य यहाँ प्रेमचन्द के साहित्य की गोर्की के साहित्य के साथ तुलना करना नहीं है। दोनों अपने-अपने ढंग से अपने देश की साहित्यिक परम्परा से, और अपने-अपने परिवेश से गहन सूत्रों के साथ जुड़े हुए थे। प्रेमचन्द ने साहि-त्यिक विरासत के रूप में आदर्शवादी दृष्टिकोण पाया था, वह जीवन की गतिविधि को नैतिक धरातल पर रखकर आँकते थे, उन्होंने उस आदर्शवाद और नैतिकता का समन्वय अपने देश और काल के यथार्थ के साथ किया था।

गोर्की १९वीं शताब्दी के रूसी साहित्य की सशक्त यथार्थ-वादी परम्परा से जुड़े हुए थे। अपनी प्रारम्भिक कहानियों में गोर्की ने उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में रूस के जीवन का व्यापक चित्र खींचा है। अपने लम्बे घुमक्कड़ जीवन के कारण गोर्की वर्षों तक रूस में लगभग एक छोर से दूसरे छोर तक घूमते फिरे थे—गोर्की को रूस के प्रादेशिक जीवन का सम्पूर्ण अध्ययन करने का अवसर मिला था। "मेरे मन में इतने अधिक प्रभाव अंकित थे कि मैं कलम उठाए बिना नहीं रह सका।" गोर्की ने एक जगह पर कहा है। बाद में भी उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए अपने आस-पास के जीवन से ही पात्र लिए। उनकी अनेक रचनाएँ क्रान्तिपूर्व के रूस की ऐसी सही तस्वीर आँकती हैं कि उन्हें ऐतिहासिक दस्तावेज़ कहा जा सकता है।

गोर्की वस्तुपरक यथार्थ को कला की नींव मानते थे। नए लेखकों को सम्बोधन करते हुए उन्होंने एक बार कहा था : "उदीयमान लेखकों को एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि विचार नाइट्रोजन की तरह से हवा से उत्पन्न नहीं होते। विचार धरती पर गढ़े तथा बनाए जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं।··· अन्ततः, तथ्य, मात्र तथ्य ही सर्वोपरि भावभूमि है।"

यथार्थ चित्रण में उन्होंने कहीं भी लाग-लपेट से काम नहीं लिया। उनकी रचनाओं के पात्र मुख्यत: ग़रीब तबकों के लोग थे—आवारा, घुमक्कड़ लोग, वेश्याएँ, बेरोज़गार मज़-दूर आदि। हैनरीक मान ने एक जगह लिखा है : "गोर्की ने समाज के ऐसे वर्गों का चित्रण किया है जिन्हें साहित्य में पहले कोई नहीं जानता था। उसने सर्वहारा को साहित्य का मित्र बनाया, और यदि आज लेखक पूंजीवादी संसार की रुचियों और दिलचस्पियों पर निर्भर नहीं हैं तो इसके लिए हमें गोर्की का शुक्रिया अदा करना चाहिए।"

उनकी रचनाओं में, 'मकर चूद्रा', 'बूढ़ी इज़रगील', 'इन्सान का जन्म', 'चेलकेश' आदि लगभग सभी कहानियों में रूस की साधारण जनता के जीवन के बड़े सजीव और प्रभावशाली चित्र मिलते हैं। अपने पात्रों को गोर्की ने किसी थोथे आदर्शवाद से मण्डित नहीं किया है। उनकी कमज़ोरियों पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं की है। उनकी क्रूरता, उनकी क्षुद्रता को छिपाया नहीं है। पर साथ-ही-साथ उन्हें नीच और घृणित भी नहीं माना है। गोर्की को उनके व्यक्तित्व में बर्बरता के साथ-साथ कहीं-कहीं मानवीयता की टिम-टिमाती लौ भी मिली, और गोर्की ने उसका गहरी संवेदना के साथ चित्रण किया है।

एक रूसी लेखक को उसके उपन्यास के बारे में लिखते हुए गोर्की ने कहा : "तुम्हारी रचना में वह भावुकतापूर्ण, मीठा-मीठा, 'कल्पित' सत्य नहीं है जो हमारे देश और हमारे देश के किसानों का वर्णन करने वाली रचनाओं में अक्सर मिलता है। तुमने इस बीभत्स, कटु कहानी में सच्चे कलाकार की कल्पना से जीवन के मर्म को छुआ है।···"

पर गोर्की का यथार्थवाद तटस्थ यथार्थवाद नहीं है। इस दृष्टि से वह १९वीं शताब्दी के रूसी यथार्थवादियों से भिन्न हैं। यथार्थ के चित्रण-मात्र को वह लेखक का उद्देश्य नहीं मानते थे।

इस सन्दर्भ में तोलस्तोय और दस्तायेव्स्की के सम्बन्ध में गोर्की के विचार जानना सहायक होगा। गोर्की दोनों लेखकों के प्रशंसक थे, पर साथ-ही-साथ आलोचक भी। उनका कहना था कि दस्तायेव्स्की की रचनाओं में यथार्थ है और पैना संवेद-नात्मक दृष्टिकोण भी, परन्तु वे जिस यथार्थ का सृजन करते हैं, वह होना नहीं चाहिए था। यथार्थ में जो बुरा है उसकी कटु आलोचना और गौरवशाली परम्पराओं का उजागरण एवं उन्नयन ही साहित्यकार का ध्येय होना चाहिए। समाज में जो रुग्ण तत्त्व हैं उनके प्रति सहिष्णुता बरतना अन्याय है। उनके प्रति संघर्ष जाग्रत करना उद्देश्य होना चाहिए। मगर गोर्की यह नहीं मानते थे कि ऐसे पात्रों का चित्रण ही न किया जाए।···अपने एक और लेख में गोर्की ने लिखा है : "जो बुरा है वह भी इन्सान की देन है, और इन्सान नश्वर है। अच्छाई भी इन्सान ही उत्पन्न करता है, पर वह आज तक उसके साथ मरी नहीं। जो अच्छाई है, उसे ऊँचा उठाओ, उसे जीवित रखने और पनपाने में सहायक बनो···"

इस तरह गोर्की एक ओर जहाँ चाहते थे कि जीवन का चित्रण यथार्थ हो, वहाँ दूसरी ओर वह यथार्थ चित्रण से किसी प्रेरणा की माँग भी करते थे।

गोर्की की आँखों के सामने संसार के दो रूप रहे : एक उस आदर्श संसार का चित्र जिसमें मनुष्य सुख से रह सकता है, एक सुन्दर, सामंजस्यपूर्ण संसार का चित्र; दूसरे वास्त-विक संसार का चित्र, अपनी सारी बीभत्सता, कुरूपता के साथ। इस तरह गोर्की के दिल में एक ओर सुख की उत्कट कामना है तो दूसरी ओर जीवन की वास्तविक बर्बरता का ज्ञान है, एक ओर सुखमय, सुसंस्कृत जीवन का आदर्श है, मनुष्य की असीम क्षमताओं में विश्वास है, दूसरी ओर आस-पास के यथार्थ के प्रति गहरा संवेदन। यह दोहरा दृष्टिकोण सदैव उनके सामने रहा।

इस तरह गरीब अपहृत लोगों को देखते हुए उनके हृदय में एक ओर गहरी सद्भावना और दूसरी ओर कटुता और प्रतिरोध की भावना उठी। यह कटुता और प्रतिरोध की भावना हमें उनकी समस्त रचनाओं में मिलती है। गोर्की ने महसूस किया कि जो मनुष्य सुन्दर व्यक्तित्व के धनी हो सकते थे, स्वस्थ, सुन्दर जीवन बिताते हुए अपनी क्षमताओं का विकास कर सकते थे, उन्हें उनके जीवन की स्थितियों ने अमानुषिक और बर्बर बना दिया है और वे पशुओं के स्तर पर अपना जीवन बिता रहे हैं। गोर्की ने कभी भाग्य का रोना नहीं रोया। हालाँकि अगर रोना चाहते तो उनके अपने जीवन में रोने को बहुत-कुछ था। न ही उन्होंने मनुष्य को किसी दैवी शक्ति के हाथ का खिलौना समझा। मनुष्य की भूमिका को ही उन्होंने सर्वोपरि माना। मानव-समाज की उपलब्धियाँ मनुष्यों के श्रम और संघर्ष की देन हैं। भविष्य में भी यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज का जीवन सुखी और सामंजस्यपूर्ण हो सकता है तो वह भी मनुष्य के संघर्ष और श्रम पर ही निर्भर है।

टालस्टाय को लिखे अपने एक पत्र में गोर्की ने कहा : "इन्सान (जीवित) भगवान् का मन्दिर है। मुझे इस बात का पक्का यकीन है कि मनुष्य से ऊँचा इस संसार में कोई जीव नहीं है। डेमोक्रीट्स के शब्दों में कहूँ तो इन्सान ही एक-मात्र ऐसा जीव है जिसका कोई अस्तित्व है, बाकी सब तो अपने-अपने विचारों की बात है। मैं सदैव मनुष्य का पुजारी रहा हूँ और रहूँगा, केवल मैं अपनी इस आस्था को पर्याप्त, प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता।"

(पत्र, २० फरवरी, १६००)

मनुष्य का चित्र आंकते हुए एक जगह गोर्की ने लिखा है :

"वह गर्व से सिर उठाये, गौरव और स्वतंत्रता की मूर्ति, आगे बढ़ता चला जा रहा है। उसकी चाल धीमी किन्तु स्थिर है, पुराने अंधविश्वासों की धूल उसके पांवों में लोट रही है। अकेला, वह भूलों और त्रुटियों के धुँधलके में से अपना रास्ता खोजता हुआ चला जा रहा है। उसकी पीठ के पीछे अतीत के बादल घुमड़ रहे हैं, और सामने विकट समस्याओं के जाल बिछे हैं।"

"आकाश के असीम विस्तार में टिमटिमाते तारों की भाँति उसकी समस्याएँ भी अनगिनत और असंख्य हैं। मगर उसकी यात्रा का कोई अन्त नहीं।"

"परन्तु यह बेचैन प्राणी, यह मानव, सदैव, बढ़ता चला जाएगा, आगे ही आगे, सदैव उन्नति और उत्थान के पथ पर···"

गोर्की की दृष्टि में मनुष्य की महानता उसकी सृजन-क्षमता में पायी जाती है। "मेरे लिए इन्सान हमेशा विजेता है···अपने-आपको और प्रकृति को समझने का उसका प्रयत्न प्रशंसनीय है, और यदि उसकी ज़िन्दगी कठिन है, वह निरन्तर उसके आयाम विस्तृत कर रहा है। इन्सान निर्माता है, कार्य-कर्ता है···"

गोर्की की इस काव्यमय अवधारणा के अनुसार कला का यही धर्म है कि वह इन्सान में इस संसार के प्रति उत्तर-दायित्व की भावना जगाये, और उसमें यह भावना भरे कि वह संसार को बदल सकता है। इन्सान में इसी बुनियादी निर्माण-क्षमता को जगाना कला-साहित्य का मूल उद्देश्य होना चाहिए। अपने युग के प्रति अपना भाव व्यक्त करते हुए गोर्की ने एक जगह कहा है : "हम ऐसे युग में जी रहे हैं जब पुराने जीवन-ढर्रे में आमूल-परिवर्तन हो रहे हैं, जब इन्सान में अपने मूल्य का एहसास जग रहा है, जब वह यह समझ रहा है कि वह ऐसी शक्ति है जो सचमुच ही संसार को बदल सकती है।"

इस तरह गोर्की साहित्य को मनुष्य की उन्नति में एक सहायक के रूप में देखते थे। उस साहित्य से उन्हें प्रेम था जो मनुष्य को साहस दे, जीवन में आस्था दे, आगे बढ़ने की प्रेरणा दे।

इस तरह उनका यथार्थवाद तटस्थ, अथवा मात्र चित्र-णात्मक नहीं है। इसी को वह क्रान्तिकारी रोमांटिसिज़्म कहा करते थे। उन्होंने बार-बार इस बात पर बल दिया कि वास्त-विकता और कल्पना के सजीव सम्मिश्रण से जो कृति साँचे में ढलेगी वह निश्चय ही जनता की आशा-आकांक्षाओं को मूर्त रूप देनेवाली दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रेरणा बन सकेगी।

संघर्षरत मानव गोर्की की रचनाओं का नायक बनता है। पर यह समझना बहुत बड़ी भूल होगी कि गोर्की किसी नपे-तुले फार्मूले के मुताबिक अपनी रचनाओं में किसी संघर्ष का या उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ते हुए किसी इन्सान का चित्र आंकते थे। गोर्की का सुख में विश्वास इस बात में ज़ाहिर नहीं होता कि उनकी रचनाओं में मनुष्य विजेता बन-कर निकलता है, या उनका परिणाम सुखमय होता है। गोर्की की अधिकांश कहानियों का अन्त सुखमय नहीं है। विजय की घण्टियाँ कहीं पर भी सुनाई नहीं देतीं। सुख का सीधा चित्रण बहुत ही कम गोर्की की रचनाओं में हुआ है। अक्सर वह जीवन का अवसादपूर्ण ताना-बाना ही दिखाते हैं, जीवन की वास्तविकता ही दिखाते हैं। हां, पर उनके यथार्थ चित्रण से यह भाव नहीं निकलता कि जीवन एक अभिशाप है और मनुष्य मात्र रेंगता कीड़ा है। इसके विपरीत गोर्की यह कहते सुनाई देते हैं : देखो, तुमने जीवन को कैसा कुरूप बना दिया है। मनुष्य की तुमने यह हालत बना डाली है—उस मनुष्य की जो एक सुन्दर, सर्जनात्मक जीवन जी सकता है, जिसकी क्षमताएँ असीम हैं !

इस अवसादपूर्ण स्थिति में से निकलने का गोर्की कोई नपा-तुला रास्ता भी नहीं सुझाते। केवल संघर्ष द्वारा ही वह रास्ता ढूंढा जा सकता है। यही उनका सन्देश है। जीवन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राहों पर घटाटोप अँधेरा है, उन पर चलने वाला मनुष्य पंगु बन चुका है, जीवन में विष भर दिया गया है, इस सबको बदलने के लिए सतत संघर्ष की आवश्यकता है, केवल संघर्ष द्वारा ही हम ऐसी स्थिति पैदा कर सकते हैं जिसमें मनुष्य की निहित क्षमताएँ निर्बाध रूप से नए संसार का निर्माण कर सकेंगी। गोर्की की वह छोटी-सी रचना, 'तूफ़ानी पितरेल पक्षी का गीत', जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण का प्रतीक बनकर सामने आती है : तूफ़ानी बादलों से घिरा हुआ पितरेल पक्षी, कभी इतना नीचे उतर आता है कि लहरें उसके पंखों को दुलराती हैं, तो कभी तीर की भाँति बादलों को चीरता और भयानक चीत्कार करता हुआ ऊँचे उठ जाता है, और बादल उसके साहसपूर्ण चीत्कार में आनन्दातिरेक की झलक देख रहे हैं।

उसकी चीत्कार में तूफ़ान से टकराने की एक हूक ध्वनित होती है। उसमें ध्वनित है उसका आवेग, प्रज्ज्वलित क्षोभ और विजय में उसका अडिग विश्वास।

तूफ़ान के बादल समुद्र की सतह पर घिरते आ रहे हैं—अधिकाधिक नीचे, अधिकाधिक काले, और गाती हुई लहरें लालसा की उमंग से मतवाली होकर बिजली की ओर लपक रही हैं। समुद्र गरजता है—बिजली कड़कती है—तूफ़ान! शीघ्र ही तूफ़ान टूट पड़ेगा। फिर भी तूफ़ानी पितरेल पक्षी गर्व के साथ बिजली की कौंध के बीच गरजते-चिंघाड़ते समुद्र के ऊपर मँडरा रहा है और उसके चीत्कार में चरम आह्लाद की प्रतिध्वनि है—"विजय की भविष्यवाणी की भाँति—आये तूफ़ान, अपनी पूरी सनक के साथ आये।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैक्सिम गोर्की और हिन्दी साहित्य

भारतभूषण अग्रवाल

आधुनिक हिन्दी साहित्य जिन विदेशी लेखकों को अत्यन्त श्रद्धा और आत्मीयता से स्मरण करता रहा है और जिनके कृतित्व और व्यक्तित्व से समय-समय पर प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करता रहा है, उनमें रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की अन्यतम हैं। हमारे लेखकों ने उन्हें अपने बीच जो स्थान दिया है वह रोमाँ रोलाँ और तोल्सतोय से किसी भी प्रकार कम नहीं है, वरन् कुछ दृष्टियों से गोर्की का आदर अधिक स्थायी और गहरा रहा है। इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में गोर्की विश्व-साहित्य के आकाश पर एक धूमकेतु की भाँति प्रकट हुए और अन्याय के प्रति अपने अनवरत संघर्ष के कारण, समानता पर आधारित नये मानववाद की स्थापना के अपने संकल्प के कारण एवं साहित्य तथा कला में सच्ची अनुभूति पर आधारित अपने यथार्थवाद के कारण वे पहले पश्चिम के देशों में और फिर कालान्तर में एशिया एवं पूर्व के देशों में केवल यश के ही भागी नहीं हुए वरन् अपने उदाहरण से सर्वत्र न्याय, मुक्ति और समता की विजय का सन्देश देते रहे। सन् १६०५ में जिस वर्ष उनका विख्यात उपन्यास 'माँ' प्रकाशित हुआ उसी वर्ष महात्मा गांधी ने अपने पत्र 'इण्डियन ओपीनियन' में गोर्की के सम्बन्ध में एक विदग्ध टिप्पणी प्रकाशित करके भारतवासियों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया था। उस टिप्पणी में गांधीजी ने गोर्की के जीवन-संघर्ष का, दलितों एवं शोषितों के उनके निर्भीक पक्ष-समर्थन का और रूसी क्रान्ति में उनके कर्मठ योगदान का मार्मिक उल्लेख किया था।

अतएव, यह स्वाभाविक ही था कि जब भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम महात्मा गांधी के नेतृत्व में जनता की मुक्ति का आन्दोलन बना और देश के बुद्धिजीवी और साहित्यकार उसमें आगे बढ़कर भाग लेने लगे, तो मैक्सिम गोर्की की कृतियाँ, उनके विचार और उनकी जीवन-चर्या भारतीय लेखकों के सामने एक अनुकरणीय उदाहरण की भाँति उपस्थित हुए। हिन्दी में इस नये सृजनात्मक उभार के प्रतिनिधि थे प्रेमचन्द, और यह आकस्मिक नहीं है कि आज कई दशाब्दों से हिन्दी-जगत् में गोर्की का नामोल्लेख करते ही प्रेमचन्द का ध्यान आ जाता है। अपने जनों की मुक्ति और उन्नति में पूरी निष्ठा से आजीवन रत रहने वाले प्रेमचन्द अन्य पाश्चात्य लेखकों के साथ-साथ गोर्की का भी बड़ा आदर करते थे इसका हमें पद-पद पर प्रमाण मिलता है। हिन्दी उपन्यास और कथा-साहित्य को मनोरंजन के स्तर से उठाकर प्रेरक और विदग्ध सृजन की कोटि में लाने में प्रेमचन्द का दाय अनन्य है, और इस महत् कार्य में प्रेमचन्द ने कुछ संकेत गोर्की से भी प्राप्त किये थे। 'कलम का सिपाही' में अमृतराय का साक्ष्य है : "मन के फीके रंग चटक हो गये और पहली बार उन्होंने समझा कि किसान वक्त पड़ने पर बग़ावत भी कर सकता है। अगर रूस में कर सकता है तो यहाँ भी कर सकता है। जरूरत सिर्फ़ इस बात की है कि उन्हें तैयार किया जाए, जगाया जाए—वैसे ही जैसे वहाँ वालों ने जगाया, टाल्सटाय ने, तुर्गनेव ने, चेखव ने, गोर्की ने।" यह सन् १६१६ का काल था जब प्रेमचन्द ने अपने मित्र को एक पत्र में लिखा था : "मैं अब करीब-करीब बोल्शेविस्ट उसूलों का कायल हो गया हूँ।" और अमृतराय का संकेत है कि 'सेवासदन' के सुधारवादी चित्रण से 'प्रेमाश्रम' के कृषि-जीवन की ओर प्रेमचन्द इसी प्रेरणा से उन्मुख हुए थे। और यद्यपि रचना के अंतिम रूप में प्रेमचन्द और गोर्की में पर्याप्त भेद था जो सर्वथा बना रहा, क्योंकि सृजन अत्यन्त जटिल और संश्लिष्ट प्रक्रिया होती है और उसमें बाह्य प्रभाव आनुषंगिक ही रहते हैं, तथापि गोर्की के विचारों से प्रेमचन्द निरन्तर प्रभावित होते रहे। एक दशाब्द उपरान्त जब भारत का राजनीतिक संघर्ष और भी उग्र एवं गंभीर हो गया था और प्रेमचन्द अपने देशवासियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों से और भी डटकर लोहा लेने लगे थे, तब अपनी एक टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट ही गोर्की का दृष्टान्त उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा : "मैक्सिम गोर्की के कथनानुसार मजदूरों ने ईश्वर को एक सफल, सहृदय मजदूर के रूप में देखा···इसके बाद जब ईश्वर और देवताओं की सृष्टि का गौरव मजदूर सेवकों के हाथ से निकलकर धनी स्वामियों के हाथ में आ गया तो ईश्वर और देवता भी मजदूरों की श्रेणी से निकलकर महाजनों और राजाओं की श्रेणी में जा पहुँचे जिनका काम अप्सराओं के साथ विहार करना, स्वयं के सुख लूटना और दुखियों पर दया करना था। भारत में तो मजदूर देवताओं का कहीं पता नहीं है। यहाँ के देवता तो शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते हैं।" यह टिप्पणी प्रेमचन्द की उत्तर चर्चा के काल की है जब वे अपने सुधारवाद की अपर्याप्तता का आभास पा चुके थे और अपनी कहानियों में यथार्थ का अधिकाधिक निर्मम एवं कठोर स्वरूप उद्घाटित करने लग गए थे। इसी मानसिकता का चरम प्रकाश 'गोदान' में मिलता है।

गोर्की की इन रचनाओं का अध्ययन प्रेमचन्द ने प्रकट ही अंग्रेज़ी के माध्यम से किया था। यद्यपि सन् १९१९-२० के आसपास तक मैक्सिम गोर्की का नाम भारतीय साहित्य-जगत् के वातावरण में निरन्तर लहराने लग गया था और लोकनिष्ठ लेखक के लिए वह संजीवनी का-सा काम करता था, तथापि उनकी रचनाओं के हिन्दी अनुवाद अभी इक्का-दुक्का ही हुए थे। सन् १९३५ के 'हंस' में 'रूसी साहित्य-और हिन्दी' शीर्षक टिप्पणी में स्वयं प्रेमचन्द ने लिखा था : "गोर्की की कम-से-कम दो पुस्तकों का अनुवाद निकल चुका है।" इन दो पुस्तकों में निश्चय ही एक तो गोर्की का विख्यात उपन्यास 'माँ' था जिसका अनुवाद छविनाथ पाण्डेय ने प्रस्तुत किया था। प्रसंगवश यहाँ यह निवेदन करना आवश्यक है कि कुछ विद्वानों ने अज्ञानवश पाण्डेयजी को दिवंगत विशेषण से विभूषित कर दिया है। दूसरा ग्रन्थ मेरे अनुमान से गोर्की की कहानियों का संग्रह था 'टानिया'। संग्रह का नाम गोर्की की अत्यन्त प्रसिद्ध कहानी 'ट्वेन्टी सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल' की नायिका तान्या के नाम पर रखा गया था। यह संग्रह मैंने सन् '३२-३३ के आस-पास अपने नगर के स्थानीय पुस्तकालय में पढ़ा था, यद्यपि ग्रंथ के अनुवादकर्ता का नाम अब मैं खोजकर भी न पा सका। इन रचनाओं के अति-

रिक्त हिन्दी में उस समय तक गोर्की का परिचय डॉ० स
नारायण की यात्रा-पुस्तकों से ही मिला था। 'आवारे
योरप-यात्रा' और 'रोमांचक रूस में' नामक ग्रंथों में स
नारायण ने गोर्की से अपने साक्षात्कार का विशद विव
उपस्थित किया था। इसी काल के आसपास प्रेमचन्द
घनिष्ठ मित्र और स्वतंत्रता-संग्राम के सक्रिय कार्यकर्ता च
भाल जौहरी ने 'माँ' का एक और अनुवाद प्रस्तुत किया
पाण्डेय के अनुवाद से कहीं बढ़कर है, क्योंकि एक तो
सम्पूर्ण ग्रंथ का अविकल अनुवाद है, दूसरे इसके अनुवाद
ने मूल के रस को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करने में अत्यधिक श्र
किया है। यह अनुवाद सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रेमचन्द औ
गोर्की दोनों के स्वर्गवास के तीन वर्ष बाद सन् १९३९
प्रकाशित हुआ था। इसके जन्म की कथा उपन्यास की मू
प्रवृत्ति से बड़ा मेल खाती है, अतः उसका कुछ उल्लेख अ
चित न होगा। स्वयं अनुवादक के शब्दों में : "मैंने यह कठि
काम अपने हाथों में लिया, उसका एक कारण था। बात
थी कि सन् १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन में जेल हो जा
पर पहले तो काफी दिन तक मुझे खूब सोने से ही फुरस
नहीं मिली, क्योंकि बाहर के दिन-रात के लगातार काम
मैं बड़ा थका हुआ जेल में घुसा था। परन्तु जब वह थकाव
चली गई और बम्बई जेल से चालान होकर हमारी नौजवा
टोली नासिक जेल पहुँच गई और वहाँ भी जेल वालों
हमारा शुरू का अपने अधिकार जमाने की खींचा-तानी औ
झगड़ा-टण्टा ख़त्म हो गया, तब हमारे दिन जेल में कट
मुश्किल हो गये।···जवानी का रगों में खून था, दिलों
खुलकर खेलने की उमंगें थीं, अभिलाषाएँ थीं, लालसाएँ थ
उत्सुकता और बेसब्री थी। देश के लिए कुछ करने को
चाहता था। परन्तु जेल में कुछ करने को नहीं था—बेब
का सामना था। अपने दिल के फफोले फोड़ने के लिए जे
वालों से ही लड़ बैठते थे। परन्तु जब जेल वाले ही लड़ाई
कन्नी काटने लगे तो व्यर्थ में हम भी उनसे कहाँ तक लड़ा
मोल लेते। अस्तु, निश्चय हुआ कि खूब अध्ययन कि
जाए।···परन्तु जेल के अधिकारी इतने कुपढ़ थे कि जि
ग्रन्थ पर राजनीतिक शब्द लिखा देखते थे, उसे हमारे पास
सरकारी हुक्म के अनुसार, अन्दर नहीं आने देते थे।···हम
राजनीतिक उपन्यास मँगाने शुरू किए, जिनमें अन्दर त
राजनीति का वह हलाहल था जो अधिकारी हमसे दूर रख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते थे, परन्तु ऊपर से नाम के लिए कहने को उपन्यास ही थे। इन्हीं उपन्यासों में मैक्सिम गोर्की का यह उपन्यास 'माँ' भी हमारे पास पहुँचा जो कि ऐसा क्रान्तिकारी उपन्यास है कि उसको पढ़कर जिसके सीने में दिल है, यदि दुनियादारी में पड़कर उसका दिल मुर्दा नहीं हो गया है, तो अवश्य ही क्रान्तिकारी विचारों का नहीं है तो भी, क्रान्तिकारी हो जाए। यह उपन्यास तो पहले भी पढ़ा था, परन्तु जिन हालतों और जिस वातावरण में यह इस समय हमारे पास पहुँचा, उसमें उसके पढ़ने में और भी मज़ा आया और इच्छा हुई कि इसको अपने देश के सर्वसाधारण लोगों तक पहुँचा दिया जाए। अस्तु, इसका हिन्दी में अनुवाद करना शुरू कर दिया गया। जेल के दफ़्तर से कोरे कागज़ों के दस्तों पर सरकारी मुहर लगकर आती थी, जिन पर जेल में बैठा-बैठा ब्रिटिश साम्राज्यशाही का एक कैदी ऐसे उपन्यास का अनुवाद लिखने लगा, जिसको एक बार जो पढ़ ले, वही साम्राज्यशाही का दुश्मन हो जाए, क्योंकि साम्राज्यशाही पूँजीशाही की पुत्री का ही नाम तो है। जेल के अधिकारियों के बार-बार पूछने पर कि यह क्या लिख रहे हो, उन्हें सादा और सूक्ष्म उत्तर मिलता था—एक उपन्यास का अनुवाद कर रहा हूँ। इसी प्रकार कई मास तक जेल में यह अनुवाद होता रहा और आखिरकार जेल-अधिकारियों की जांच-पड़ताल और मुहरें लगकर यह बाहर निकला। जेल से छूटने के कुछ दिन बाद मैं फिर गिरफ्तार हो गया और जो पुलिस के लोग मेरे घर की तलाशी लेने आए थे, उन्होंने उसको उठाकर एक कोने में फेंक दिया और मेरे दूसरी बार छूटने तक यह अनुवाद उस कोने में ही एक रद्दी के ढेर में दबा पड़ा रहा, जिसे मैंने छूटकर वहाँ से निकाला। यह बात सच हुई है कि 'जाको राखे साइयाँ मार न सकिहैं कोय।' इस अनुवाद का हिन्दी पाठकों के पास तक पहुँचना ही था, अतएव उसे रोक कौन सकता था!"

पर हिन्दी का प्रबुद्ध लेखक-वर्ग इस अनुवाद के लिए रुका नहीं बैठा था। वस्तुतः जब १९३९ में यह अनुवाद प्रकाशित हुआ तब तक प्रेमचन्द, बनारसीदास चतुर्वेदी, जैनेन्द्र और प्रगतिशील लेखक संघ के उल्लेखों के माध्यम से गोर्की का नाम घर-घर में फैल चुका था। इनमें भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न प्रेमचन्द के ही थे। उन्होंने अपनी परवर्ती कृतियों में जन-साधारण के जो जीवंत चित्र अंकित किए और कटु यथार्थ की जो झाँकियाँ प्रस्तुत कीं उनमें तो गोर्की का पुट मिलता ही है, प्रत्यक्ष रूप में भी प्रेमचन्द ने गोर्की को असाधारण श्रद्धांजलि अर्पित की थी। एक विद्वान् लेखक के अनुसार 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में भिखारी, कैदी, अपराधी और श्रमिक जनों के चित्रण में प्रेमचन्द गोर्की का-सा रंग अपनाते हैं। विशेष रूप से 'कर्मभूमि' की सलोनी में उन्हें 'माँ' की स्पष्ट छाया मिलती है। उनका यह मन्तव्य उद्धरणीय है :···" प्रेमचन्द ने इस उपन्यास की एक अन्य पात्री सलोनी के चित्रण में ग्रामीण जनता की विद्रोही भावना को बड़े सफल रूप से व्यक्त किया है। सलोनी के चरित्र पर विचार करते समय मैक्सिम गोर्की लिखित 'माँ' का स्मरण हो आता है। अपढ़, वृद्धा नारियाँ भी किस प्रकार विषम परिस्थिति, अन्याय और अत्याचार के कारण विप्लव के मार्ग पर अग्रसर होती हैं यह सलोनी और गोर्की की 'माँ' के चरित्रों से जाना जा सकता है। नौकरशाही के प्रति सलोनी के मन में इतना क्षोभ भरा हुआ था कि उनके अत्याचारों से पीड़ित होकर प्रतिशोध की भावना से वह हाकिम के मुँह पर थूक देती है और गोलियों के सामने सीना तानकर खड़ी हो जाती है। वह हण्टर की मार से भी नहीं डरती वरन् हण्टर की हर चोट उसकी प्रतिशोध और ग्लानि की भावना को तीव्रतर करती है।···गोर्की के उपन्यास 'माँ' में भी शोषक वर्ग के जुल्म और अत्याचार के विरोध में माँ चिल्ला-चिल्लाकर अपनी वेदना प्रकट करती है : "अरे नासमझो, यह खून एक दिन तुम्हारे सिर पर चढ़कर बोलेगा।" इसमें सन्देह नहीं कि इस चित्रण में जो लगता है वह प्रेमचन्द के सामान्य रंग से कुछ गहरा है और गोर्की के रंग के अधिक निकट है। 'गोदान' की धनिया के चित्रण में भी हमें ऐसा ही उग्र प्रतिवाद और प्रचण्ड विरोध देखने को मिलता है।

पर प्रेमचन्द और गोर्की की आत्मीयता का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण शिवरानी देवी प्रेमचन्द ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : घर में' में प्रस्तुत किया है। गोर्की के निधन का दुःखद समाचार उन दिनों की असामान्य परिस्थितियों के कारण जब कुछ दिनों बाद बनारस तक पहुँचा तो 'आज' के दफ़्तर में एक सार्वजनिक शोक-सभा का आयोजन किया गया। प्रेमचन्द उन दिनों अस्वस्थ थे, तदपि उन्होंने सभा में भाषण देना स्वीकार किया।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसाकि शिवरानी देवी ने लिखा है, वह प्रेमचन्द का अन्तिम भाषण था, और जहाँ तक मैं जान पाया हूँ गोर्की के सम्बन्ध में वह उनका एकमात्र सार्वजनिक वक्तव्य था। वह भाषण लिखित था, अतएव यह अनुमान अत्यन्त स्वाभाविक है कि वह 'आज' में प्रकाशित भी हुआ होगा। पर प्रेमचन्द के किसी भी जीवनीकार अथवा शोधकर्ता ने उसका उद्धरण नहीं दिया है। अमृतराय द्वारा सम्पादित 'विविध प्रसंग' में भी वह अन्तर्मुक्त नहीं है। यदि इस भाषण की प्रतिलिपि प्राप्त की जा सके तो हम गोर्की के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के निश्चित अभिमत का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

जो हो, प्रेमचन्द और गोर्की की आत्मीयता निर्विवाद है। दोनों का अपने-अपने जनों के सुख-दुख से इतना गहरा तादात्म्य था, और दोनों लेखक अपनी कृतियों के माध्यम से उनके संघर्ष को वल देने में इतने प्राण-पण से लगे हुए थे कि यह तादात्म्य सहज-स्वाभाविक था। वस्तुतः प्रेमचन्द और गोर्की समानधर्मा थे। किसी दलगत मूल्य अथवा मतवाद के संकीर्ण अर्थ में नहीं, अपितु मानव-हित और विश्व-मैत्री के उदार एवं विशद अर्थ में। यह समानधर्मिता हमें बड़े स्थूल रूप में भी दिखाई पड़ी थी। चन्द्रभाल जौहरी का एक वक्तव्य द्रष्टव्य है: "मैक्सिम गोर्की और प्रेमचन्द में यह तो बड़ी समता है ही कि जैसे प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों में हमारा जीवन जैसा उन्होंने पाया, उसका वैसा ही चित्रण किया है, वैसे ही मैक्सिम गोर्की ने भी अपने समय में जैसे रूसी जीवन को पाया, वैसा ही चित्रण किया है। परन्तु इसके अतिरिक्त यह भी समता है कि प्रेमचन्दजी ने जिस प्रकार न सिर्फ़ अपने समय में होने वाले अपने देश के राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों का अपने उपन्यासों में चित्रण ही किया, बल्कि उनको और अपने देश के नेता के विचारों को अपने जीवन में भी अपनाने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार मैक्सिम गोर्की ने भी अपने समय के रूस देश में होनेवाले राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों को न सिर्फ़ अपने उपन्यासों में ही चित्रण करने का प्रयत्न किया, बल्कि अपने जीवन में उन्हें और अपने देश के नेता लेनिन के विचारों को भी अपनाया।" अन्यत्र जौहरी एक अन्य समानता का विवरण प्रस्तुत करते हैं, "प्रेमचन्दजी और मैक्सिम गोर्की में मुझे बड़ी समता लगती है। इन दोनों महान् लेखकों के फोटो देखकर उनके चेहरों की झुर्रियों के पीछे मुझे एक-सी ही सरल बाल-आत्मा हँसती हुई दीखती है। प्रेमचन्दजी के ठट्ठे, जो आनन्द से अट्टहा[स] करने वाले बालकों की तरह उनका चेहरा खिला देते थे औ[र] उनके शरीर को झकझोर डालते थे, को अक्सर देखने का मु[झे] सौभाग्य अपने जीवन में मिला। परन्तु मैक्सिम गोर्की [को] देखने का मुझे कभी सौभाग्य नहीं मिला। फिर भी न जा[ने] क्यों मेरे मन में यह बैठा-सा है कि मैक्सिम गोर्की भी अवश्[य] प्रेमचन्दजी की ही तरह संसार पर मानो ठट्ठे लगाता हु[आ] हँसता होगा···गोर्की इसी उपन्यास में लिटिल रूसी नाम [के] पात्र से एक स्थान पर कहलवाता भी है कि "शायद वे लोग जिनके दिल अन्दर से पके होते हैं, बाहर से बहुत हँसा करते हैं।" यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि प्रेमचन्दजी को वैसी आवारागर्दी या कठोर यातनाएँ तो अपने जीवन में न[हीं] मिलीं जैसी गोर्की को मिली थीं, परन्तु तो भी उन्होंने अप[ने] जीवन में काफ़ी कष्ट और अन्यास का अनुभव किया था ज[ो] उनके चेहरे पर गोर्की के चेहरे की तरह झुर्रियाँ डाल दे[ने] और उनके कोमल हृदय को पकाकर उसमें मनुष्य-समाज [के] उस बड़े भाग के प्रति जो थोड़े-से आदमियों की गुलामी [से] दबा हुआ है, असीम सहानुभूति भर देने के लिए काफ़ी थे।" इस स्थूल समानता पर एक अन्य लेखक ने भी बल दिया है। इलाचन्द्र जोशी का कथन है : "यदि ग़ौर किया जाए तो प्रेमचन्दजी तथा मैक्सिम गोर्की की बाह्य आकृतियों में भी एक आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों के फोटो उठाकर दोनों का व्यक्तित्व मिलाकर देखिए। आप हैरत [में] पड़ जाएँगे कि दोनों देशों की भौगोलिक परिस्थिति, सभ्यता तथा संस्कृति मूलतः भिन्न होने पर भी दोनों देशों के आधु[-] निक साहित्य के दो विशिष्ट प्रतिनिधियों की मुखाकृतियों में प्रकट होने वाले व्यक्तित्व में इतनी अधिक समानता पा[ई] जाती है।"

और इसे हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास का छोटा-मोटा आश्चर्य ही कह सकते हैं कि मैक्सिम गोर्की से नाना रूपों में आत्मीयता रखने वाले प्रेमचन्द से जब यूसुफ़ मेहर अली ने इस साम्य का संकेत किया तो उन्होंने कहा : "तुम गोर्की चाहते हो ? हिन्दुस्तान में कोई गोर्की है या हो सकता है तो वह जैनेन्द्र है।" आज गोर्की और जैनेन्द्रकुमार में ऐसी समा[-] नता खोज पाना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। जैनेन्द्र के प्रकाशक प्रेमचन्द के इस वक्तव्य को जैनेन्द्र की कृतियों के प्रच्छन्न पट पर बहुत दिनों तक प्रचारि[त]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते रहे हैं, पर इधर के वर्षों में उन्हें भी यह अनुपयोगी प्रतीत हुआ है। तो क्या प्रेमचन्द ने यह वक्तव्य बिना सोचे-विचारे ही दे डाला था? यह मानना भी हमें कठिन प्रतीत होता है। वस्तुतः इस वक्तव्य में प्रेमचन्द के सहज संकोच और विनय के अतिरिक्त जैनेन्द्र की पूर्व-चर्या के प्रति एक आदर-भाव भी निहित है। अपनी युवावस्था में जैनेन्द्र प्रायः गोर्की की ही भाँति स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेते कभी जेल में और कभी जेल के बाहर अनिश्चित जीवन बिताते, साहित्य-सृजन की धुन में इधर-उधर रमते-फिरते रहे हैं। प्रेमचन्द का संकेत सम्भवतः इसी ओर था। साथ ही, इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि जैनेन्द्र की प्रारम्भिक कहानियों में सामाजिक न्याय का जो दावा ध्वनित होता रहा है और पीड़ित मानवता के प्रति जो अंतरंग सहानुभूति व्यक्त होती रही है वह प्रेमचन्द के इस वक्तव्य को अर्थ प्रदान करती है। आज यह कहना सहज है कि सामाजिक क्रान्ति का सक्रिय कर्मी गोर्की और अबुद्धिवाद एवं अभेद के आधार पर हृदय-परिवर्तन के कामी जैनेन्द्र में कदाचित ही कोई साम्य है। एक यदि अपने समाज के जर्जर-जीर्ण ढाँचे को समूल नष्ट करने को उत्सुक है तो दूसरा सुनीता के शब्दों में खुद टूटकर भी समाज के ढाँचे को यथावत् रखना चाहता है। पर 'अपना-अपना भाग्य' का स्वर गोर्की के निकट अवश्य पहुँचता था, और जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, जैनेन्द्र की कहानी 'पत्नी' में भी गोर्की के 'माँ' की अनुगूंज सुनी जा सकती है। और इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि जैनेन्द्र ने गोर्की का अनुशीलन भी किया है और वे उनकी कृतियों के प्रशंसक भी रहे हैं। इस प्रशंसा में उन्होंने गोर्की के दो तत्त्वों पर विशेष बल दिया है: एक तो सत्ता के यंत्र का विरोध और दूसरे उनकी निपट मानवीयता। अपने एक निबन्ध में उन्होंने स्पष्ट लिखा है: "हेनरी बारबूज, गोर्की और रोम्याँ रोलाँ की लेखनी सफल इसीलिए तो है न कि उन्होंने सत्ता के दर्प को नहीं माना और मानवता के हित की टेक को नहीं छोड़ा। बेशक लेखक का यदि कोई काम है तो यही काम है।" यह और बात है कि जैनेन्द्र ने इस काम को नितान्त निजी और विशिष्ट ढंग से अग्रसर किया। उसके मूल में जैनेन्द्र की अपनी मान्यताएँ तो थीं ही, अपने परिवेश का वैशिष्ट्य भी था जो प्रेमचन्द-परवर्ती युग की विशेषता थी।

वस्तुतः प्रेमचन्द और उनके युग ने गोर्की के प्रति जिस आत्मीयता का अनुभव किया वह प्रेमचन्द-परवर्ती युग के लेखकों ने नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द-परवर्ती युग के प्रारम्भ में ही हिन्दी में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी जो उस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का ही एक अंग था, जिसके शीर्ष पर मैक्सिम गोर्की को बड़े गाजे-बाजे के साथ प्रतिष्ठित किया गया था। इसी आन्दोलन के सिलसिले में गोर्की के 'समाजवादी यथार्थवाद' का नारा बुलन्द किया गया था। पर इसे चाहे हम कितनी ही आश्चर्यजनक बात क्यों न मानें, प्रगतिशील लेखक संघ गोर्की को वह आत्मीयता न दे सका जो उसे प्रेमचन्द से मिली थी। प्रगतिवादी समीक्षक निरंतर गोर्की का नाम घोखते रहे, उसकी उक्तियाँ मंत्रों और तन्त्रों की भाँति प्रयुक्त की जाती रहीं और आगे चलकर गोर्की को अपने प्रतिपक्षी को धराशायी कर देने वाले डण्डे के रूप में भी भाँजा जाता रहा, पर जो हार्दिक मिलन प्रेमचन्द ने अनुभव किया था वह प्रेमचन्द-परवर्ती युग में कहीं नहीं दिखाई पड़ा। निस्सन्देह इसके ऐतिहासिक कारण थे और यह ठीक ही था कि हिन्दी के लेखक गोर्की की रचनाओं का अनुकरण करने के स्थान पर अपने विशिष्ट आन्तरिक सत्यों से जूझते रहे, पर प्रकट रूप में गोर्की का जो तुमुल जयघोष किया जाता रहा वह आज उसकी स्मृति को कुछ-कुछ करुण अवश्य बनाता है।

वस्तुतः प्रेमचन्द-परवर्ती युग में गोर्की की कृतियाँ नहीं, गोर्की के वैचारिक मन्तव्य और गोर्की का आधिकारिक रूप ही अधिक चर्चित हुआ। प्रगतिवादी आलोचकों ने अपने बचकाने जोश में प्रगतिशीलता का आरोपण लेखक पर न कर उसके लेखन पर कर दिया जिसने एक पूरे दशाब्द तक व्यर्थ के वितण्डावाद को प्रश्रय दिया। 'प्रगतिशील साहित्य क्या है' का प्रश्न चारों ओर गूंजने लग गया। इसमें इस बात का भी काफ़ी हाथ था कि भारतीय लेखकों का सोवियत लेखकों से कोई सीधा सम्पर्क न था और वे जिस सामग्री को अपना आधार बनाते थे वह उन्हें इंगलैण्ड से ही प्राप्त होती थी। न उन्होंने इसी बात को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा की कि सोवियत भूमि के लेखक अपने देश के नव-निर्माण के सिलसिले में जिन समस्याओं से जूझ रहे थे वे भारतीय लेखक की समस्याओं से भिन्न थीं जो अपनी मुक्ति के संग्राम में लगे हुए थे। यह तथ्य भारत की स्थिति को पाश्चात्य देशों की स्थिति से भिन्न और विशिष्ट कर देता था। यह सही है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न सभी लेखकों को समान भाव से प्रभावित कर रहे थे, पर सृजन का स्वरूप केवल विचारों से ही नहीं, अनुभूति के वैशिष्ट्य से भी निर्धारित होता है जिसमें निकट परिवेश का महत्त्व आत्यंतिक है। यही कारण है कि प्रगतिशील लेखक संघ ने जितने उत्ताप को जन्म दिया उतने आलोक को नहीं।

तथापि गोर्की का उदाहरण सर्वदा हिन्दी लेखक के समक्ष उपस्थित रहा और जनगण की नियति से प्रेमचन्द एवं गोर्की का तादात्म्य उन्हें सर्वदा यह प्रेरणा देता रहा कि वे अपने जनों के सुख-दुख में निरन्तर हाथ बँटाएँ। इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप प्रेमचन्द-परवर्ती युग में हिन्दी में ऐसे विपुल साहित्य की सृष्टि हुई जिसमें प्रत्येक सामाजिक-राजनीतिक घटना पर जनगण की प्रतिक्रियाओं को स्वर मिला। विशेष रूप से बंगाल के अकाल और साम्प्रदायिक विभीषिकाओं ने ऐसे प्रचुर साहित्य को जन्म दिया जो जनगण की सच्ची भाव-नाओं का प्रतिबिम्बन करता था और उनकी मुक्ति एवं उन्नति का संदेश सुनाता था। पर एक तो यह साहित्य अधिकांशतः कविताएँ एवं कहानी की विधाओं में ही सीमित रहा, दूसरे उसमें उच्छ्वास एवं नारेबाज़ी का ऐसा अतिरेक था कि आज उसका एक बहुत बड़ा अंश विस्मृत हो चुका है। आज इस प्रसंग में नागार्जुन और रांगेय राघव ही उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं।

पर प्रगतिशील आन्दोलन के साथ-साथ और उसके घेरे के बाहर भी गोर्की की चर्चा सदैव ध्यान आकर्षित करती रही। जैनेन्द्रकुमार का उल्लेख हम कर आए हैं। इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी ने भी विश्व-साहित्य के अंग के रूप में गोर्की की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और उस पर अपने मन्तव्य व्यक्त किए। गोर्की के यथार्थ आग्रह से वे अत्यन्त प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। उनके कुछ वक्तव्य द्रष्टव्य हैं : "गोर्की ने अपने पात्रों का चित्रण पूरी कलात्मकता के साथ करते हुए उनके प्राणों में यही विद्रोहात्मक चेतना फूंकी थी। इसीलिए वह वास्तविक अर्थ में प्रगतिशील कलाकार था।··· उसने किसानों, मज़दूरों, गृह-हीन आवारों तथा इसी कोटि के दूसरे लोगों को अपने उपन्यासों तथा कहानियों के चरित्रों के रूप में चुना—गोर्की जानता था कि उक्त वर्ग के भीतर निहित आदिम शक्ति में विस्फोट उत्पन्न होने से चेतना का ज्वालामुखी ही फट पड़ेगा और आग की प्रचण्ड लपटों के साथ-साथ पिघलती हुई धातुओं का द्रव भी बाहर फूट निकलेगा। पर साथ ही वह यह भी जानता था कि बुर्जुआ समाज की गलनशीलता के कारण मानव-समाज के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास का जो पथ रुद्ध हो चुका है, वह केवल विस्फोट की ज्वालामयी लीला द्वारा ही उन्मुक्त हो सकेगा।" लेकिन इतनी श्रद्धा प्रकट करने के उपरान्त भी जोशी अपने मनश्चिकित्सावाद की झोंक में गोर्की के यथार्थवाद को श्लाघ्य नहीं मान पाते। पापी के प्रति कठोर होने का उनका संकल्प इतना गहरा है कि वे मानवतावाद पर ही सन्देह कर उठते हैं। अन्यत्र वे स्पष्ट कहते हैं, "गोर्की को अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्स-वादियों ने निर्विवाद रूप से प्रगतिवादी कलाकार माना है। गोर्की ने प्रगतिवाद को इस दृष्टि से अवश्य अपनाया है कि उसने अपने उपन्यासों तथा कहानियों में अधिकांशतः चरित्र-हीन नायकों की अवतारणा की है।···पर उन चरित्रहीन नायकों का चरित्र-चित्रण उसने इसलिए नहीं किया है कि उनकी मानसिक विकृतियों और असामाजिक प्रवृत्तियों का पोल-प्रकाश करे बल्कि इसलिए कि वह भी (सम्भवतः अपने अनजान में) उन्नीसवीं शताब्दी के बुर्जुआ कलाकारों की तरह तथाकथित मानवतावाद के मोह से मुक्त नहीं हो पाया था।···गोर्की को क्या देशी क्या विदेशी सभी आलोचकों ने प्रगतिशील माना है—मार्किस्ट अर्थ में प्रगतिशील। यह कितनी बड़ी भ्रान्ति साहित्यिक जनता में इतने वर्षों से फैली रही है, इस बात पर जब मैं ध्यानपूर्वक विचार करता हूँ तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता।···गोर्की ने भले ही तथाकथित सर्वहारा वर्ग के पात्र-पात्रियों की अवतारणा अपनी रचनाओं में की हो, पर उनके चरित्र-चित्रण में उसका दृष्टिकोण—उसका एप्रोच—बुर्जुआ कलाकारों के मानव-वादी दृष्टिकोण से मूल में तनिक भी भिन्न नहीं रहा है। उसके जिस 'माँ' नामक उपन्यास की इतनी ख्याति है उसमें भी यह मानववादी दृष्टिकोण अत्यन्त सुस्पष्ट रूप से परिस्फुट हो उठता है।···अपने आलोचनात्मक निबन्धों में स्वयं गोर्की ने उन्नीसवीं शताब्दी के मानववाद का खण्डन किया है, पर अपनी कहानियों और उपन्यासों में वह इस मत का सच्चा अनुसरण करने में असमर्थ रहा है।" इस उद्धरण के बाद यह कहना व्यर्थ ही है कि जोशी ने अपनी कृतियों में गोर्की से कोई संकेत प्राप्त नहीं किए हैं। यही नहीं, गोर्की की रचनाओं के मूल प्रभाव और महत्त्व के प्रति भी वे कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रान्तियों को पालते रहे हैं। और ये भ्रान्तियाँ केवल जोशी के ही मन में रही हों, ऐसा नहीं है। डॉ० रामविलास शर्मा ने भी उनका प्रमाण दिया है। अपने एक प्रारम्भिक वक्तव्य में वे स्पष्ट कहते हैं: "गोर्की में आवारापन अत्यधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह क्रान्ति के पश्चात् भी क्रान्ति के पूर्व के ही पुराने चित्र बनाता रहा।" सब जानते हैं कि बाद में शिवदानसिंह चौहान ने डॉ० शर्मा के इस वक्तव्य की बड़ी कड़ी आलोचना की थी।

जोशी की ही भाँति प्रेमचन्द-परवर्ती युग के एक अन्य प्रतिष्ठित उपन्यासकार यशपाल भी हमें कुछ-कुछ निराश करते हैं। क्रान्ति-कर्म की दृष्टि से यशपाल और गोर्की में प्रेमचन्द से भी अधिक सादृश्य है। पर सृजनोद्देश्य के विभेद के कारण उनमें वैसी आत्मीयता स्थापित न हो सकी। यशपाल अपनी कृतियों में अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं करते, वे उन्हें मार्क्सवादी विचारों के प्रचार का साधन बनाते हैं। और जहाँ तक औपन्यासिक कला का सम्बन्ध है, वे फ्रांसीसी लेखक अनातोले फ्रांस और विक्टर ह्यूगो के ही प्रशंसक हैं। अतः यशपाल गोर्की के काफ़ी दूर पड़ जाते हैं। उन्होंने अपने त्रिखण्डी ग्रन्थ 'सिंहावलोकन' में अपनी जीवन-चर्य्या की विस्तृत विवृत्ति प्रस्तुत की है, और प्रसंगवश अपने स्वाध्याय के भी विवरण अंकित किये हैं। पर इनमें हमें गोर्की का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनका अनुशीलन सैद्धान्तिक-वैचारिक ग्रंथों और राजनीतिक समस्याओं पर ही केन्द्रित रहा, एवं कथा-साहित्य में वे अपने प्रिय लेखकों की रचनाएँ ही पढ़ते रहे। स्पष्ट है कि गोर्की इन कोटियों में नहीं आते। तथापि 'दादा-कामरेड' में श्रमिक जीवन का जो नैकट्यपूर्ण चित्रण है और मजदूरों की हड़ताल एवं उनके संघर्ष का जो मार्मिक रूप उपस्थित किया गया है उसमें गोर्की का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। इसी प्रकार 'गीता' अर्थात् 'पार्टी कामरेड' में भावरिया का क्रमिक विकास एवं उत्कर्ष 'माँ' का स्मरण करा देता है। जिस प्रकार माँ अपने बेटे के संघर्ष में धीरे-धीरे अनजाने ही भाग लेकर शहीद होती है, भावरिया भी उसी प्रकार गीता के माध्यम से जन-संघर्ष में सहयोग देकर शहीद होता है। तथापि लेखक ने हमें इस समानता का कोई अन्तःसाक्ष्य प्रदान नहीं किया है, और यह सहज सम्भव है कि इस प्रकार का चित्रण उन्होंने गोर्की से न लेकर स्वयं अपने अनुभव से ही ग्रहण किया हो।

वस्तुतः प्रेमचन्द-परवर्ती युग सामाजिक यथार्थवाद के आग्रह का युग न होकर मूल्य-मंथन का काल था जब लेखक और विचारक अपने राजनीतिक परिदृश्य की जटिलता से प्रेरित होकर नाना सिद्धान्तों और मतवादों की परीक्षा करने लगे थे और जिसके फलस्वरूप वैचारिक वादविवाद एवं खण्डन-मण्डन का एक ऐसा उत्तप्त वातावरण निर्मित हो गया था कि कलात्मक सृजन अबाध नहीं रह सकता। फलस्वरूप इस वाद-विवाद में गोर्की की कृतियों के स्थान पर गोर्की की उक्तियाँ ही अधिक संचरित हुईं और लेखक-समीक्षक अपने-अपने पक्ष-समर्थन के लिए उनका मनमाना प्रयोग करते मिलते हैं। तिस पर सैद्धान्तिक आग्रह के कारण मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन और स्टालिन के ही कथन अधिक उद्धृत किए गए, गोर्की के उतने नहीं। वैसे इस काल में हिन्दी के साहित्य-समाज को गोर्की के कुछ और ग्रंथ सुलभ हुए जिनमें उनकी पुस्तक 'लिटरेचर एण्ड लाइफ़' और तीन खण्डों में प्रकाशित उनकी आत्मकथा महत्त्वपूर्ण है। पर इन ग्रंथों का उपयोग भी इस वैचारिक मंथन के ही लिए किया गया। यहाँ विस्तार-भय के कारण इस मंथन का सम्यक् निरूपण सम्भव नहीं है, केवल उसका यत्किंचित् आभास प्रस्तुत किया जा रहा है।

गोर्की के प्रसंग में इस मंथन का वही अंश विचारणीय है जिसमें प्रगतिवादी समीक्षकों ने भाग लिया। इस मंथन का आरम्भ शिवदानसिंह चौहान के उस निबन्ध से हुआ जो उन्होंने सन् १९३७ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित किया था और जिसमें हिन्दी में मार्क्सवादी साहित्य की आवश्यकता पर बल दिया था। लेकिन उस निबन्ध में गोर्की का कोई उल्लेख नहीं। 'हंस' के सम्पादकीय लेखों अथवा अन्य विवेचनाओं में भी चौहान ने गोर्की का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया, पर जब डॉ० रामविलास शर्मा के मन्तव्य पर उन्होंने दृष्टिपात किया तो गोर्की के सम्बन्ध में उन्होंने बहुतेरी पैनी बातें कहीं और यह बताया कि किस प्रकार गोर्की ने 'क्रान्तिकारी रोमान्टिसिज़्म' को 'समाजवादी यथार्थवाद' का अंग माना था। इसी निबंध में चौहान ने उन लोगों की खिल्ली उड़ाई जो प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना करते थे और बताया कि प्रेमचन्द गोर्की की अपेक्षा टालस्टाय के अधिक निकट हैं। इसके विपरीत एक अन्य प्रगतिशील समीक्षक ने सन् १९४०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही गोर्की को मंत्र की तरह प्रयुक्त कर कामना व्यक्त की : "क्या जो देश में नयी शक्तियाँ भूकम्प की सागर-लहरी की तरह उमड़ रही हैं, उनको कोई प्रतिनिधि-कलाकार नहीं मिलेगा ? उस भावी गोर्की को हमारी आँखें निष्फल खोज रही हैं।" अन्यत्र वे क्रान्तिकारी उपन्यासकार यशपाल की त्रुटियाँ उजागर करने के लिए भी गोर्की का उपयोग करते हैं : "यशपाल के राजनीतिक उपन्यासों में राजनीति और रोमान्स के ताने-बाने से कथानक बुना जाता है। वास्तव में राजनीतिक जीवन में रोमान्स की खोज इन कथाओं का ध्येय है। राजनीतिक उपन्यास का क्या ढाँचा होता है, यह हम गोर्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'माँ' से सीख सकते हैं।...गोर्की अपने लक्ष्य की तरफ तीर की तरह सीधा पहुँचता है।" इसी प्रकार 'साहित्य और भौतिकवाद' का विवेचन करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने गोर्की के वक्तव्यों को प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है। यह वक्तव्य देखिए : "लेनिन के साथ-साथ गोर्की ने अपने कथा-साहित्य और निबन्धों से क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रचार किया। उसके उपन्यास 'माँ' ने मज़दूरों के संगठन में बड़ा भारी मदद दी। १६०५ की असफल क्रान्ति के बाद अनेक बुद्धिजीवी लोग जनता के स्वाधीनता-संग्राम से विमुख हो रहे थे। गोर्की ने उनकी अच्छी तरह खबर ली। उसने दिखाया कि जिस संकट में साहित्य पड़ा हुआ है, उससे वह बिना जन-क्रान्ति के नहीं उबर सकता।" इसी निबंध में डॉ० शर्मा लिखते हैं : "एक नयी ज़िन्दगी की चाह के बारे में गोर्की ने लिखा था—हम लोगों को स्वस्थ, खुशहाल और सुन्दर देखना चाहते हैं। सभी स्वस्थ आदमियों की यह स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिए। हम समझते हैं कि हमारी जनता की मानसिक शक्ति विकसित और संगठित की जाय तो वह सारी दुनिया की ज़िन्दगी में एक रवानी ला सकती है और सत्य और सौन्दर्य की आनेवाली विजय को और भी निकट ला सकती है।" मन्त्र-बल के रूप में गोर्की का एक प्रयोग अमृतराय की लेखनी से भी देखिए : "क्या क्रान्तिकारी रूसी साहित्य का कोई जिज्ञासु विद्यार्थी इस बात से इनकार करेगा कि मायकोव्स्की और बेज़िमेस्की की कविताएँ और गोर्की के उपन्यास और कहानियाँ श्रेष्ठ साहित्य नहीं है ?" सन् १६४४ में लिखे गए अपने एक लेख में उन्होंने कहा : "वह दिन अब करीब है जब संसार की जनता गोर्की के आदर्शों से प्रेरणा पाकर उन्हीं के आधार पर नवीन विश्व, नवीन सभ्यता और संस्कृति की नींव रखेगी, वह जनता जिसके जीवन का लक्ष्य विश्व को सुन्दर बनाना और मानव-जाति के योग्य एक नये प्रकार के जीवन की रचना के लिए मानव-शक्तियों को उन्मुक्त करना है।"

इसी काल में हिन्दी समीक्षा में वह प्रकरण भी उपस्थित हुआ था जिसे 'अहं का विस्फोट' पद से स्मरण किया जाता रहा है। डॉ० नगेन्द्र ने सृजन की वैयक्तिकता पर बल देते हुए यह मंतव्य व्यक्त किया, "संसार में ऐसा महान् साहित्यकार विरला ही होगा जिसने किसी अपराधगत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इकबाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान् है वह उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं। महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणों की सृष्टि है।" इस वक्तव्य की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने एक लम्बा लेख लिखा, पर उसमें गोर्की के जीवन में अपने सृजन का कोई तर्क नहीं दिया।

परन्तु डण्डे के रूप में गोर्की का सबसे उल्लेखनीय प्रयोग शिवदानसिंह चौहान ने प्रगतिशील लेखक संघ के कश्मीरी साथियों के प्रसंग में किया था। उन दिनों प्रगतिशील आन्दोलन कुत्सित समाजशास्त्रीयता के स्तर पर जा पहुँचा था और विद्रोह के नाम पर कला-कृतियों में प्रेम के चित्रण को निन्दनीय माना जाने लगा था। उनके दृष्टिकोण को सुधारकर स्वस्थ बनाने के उद्देश्य से चौहान ने एक बार संघ की एक बैठक में एक हिन्दी कविता पढ़कर सुनाई और फिर प्रत्येक साथी से बारी-बारी से उस कविता पर अपनी सम्मति व्यक्त करने को कहा। कविता प्रेम की थी अतः अधिकांश साथियों ने उसे प्रतिक्रियावादी और घटिया सिद्ध किया। सबके बोल चुकने पर चौहान ने अपने श्रोताओं को चकित करते हुए यह सूचना दी कि वह हिन्दी-कविता वस्तुतः गोर्की की एक कविता का अविकल अनुवाद थी। यह सुनकर उपस्थित साथियों पर मानो गाज ही गिर पड़ी। तब इस घटना से सभी प्रगतिशील वर्ग को लाभान्वित करने के उद्देश्य से चौहान ने इस बैठक की पूरी कार्यवाही 'हंस' के एक अंक में प्रकाशित करायी। संयोग से उन्हीं दिनों जब मेरी भेंट एक प्रगतिशील समीक्षक से हुई तो मैंने उनसे इस घटना की चर्चा की। उन्होंने मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी विस्मय में डालते हुए कहा कि सत्य होने पर भी चौहान को यह कार्रवाई प्रकाशित नहीं करनी चाहिए थी क्योंकि उससे आन्दोलन की कमज़ोरी व्यक्त होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि प्रेमचन्द-परवर्ती काल में गोर्की की चेतना प्रेमचन्द-काल से बढ़कर ही थी तथापि उसका उपयोग सृजन-गौरव के लिए न होकर मुख्यत: अपने-अपने पक्ष-समर्थन के लिए तर्क के रूप में ही होता रहा। यही कारण है कि इस अवधि में न तो गोर्की की रचनाओं के अनुवाद में कोई उल्लेखनीय वृद्धि हुई, न गोर्की-विषयक कोई सुसम्बद्ध अनुशीलन ही प्रस्तुत किया गया। केवल चौहान ने गोर्की के नाटक 'लोअर डैप्थ्स' का अनुवाद कराने का प्रयास अवश्य किया था।

स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के उपरान्त के जनतान्त्रिक काल में एक बार फिर गोर्की के प्रति हिन्दी-लेखकों ने वैसी ही प्रीतिकर आत्मीयता का प्रमाण दिया जैसी प्रेमचन्द-युग में दिखाई पड़ी थी। इन लेखकों में रांगेय राघव और धर्मवीर भारती प्रमुख हैं। रांगेय राघव का व्यक्तित्व गोर्की के व्यक्तित्व के कई तत्त्वों से पूर्ण था। वैसी ही निर्भीकता, जनसाधारण से वैसा ही अभिन्न सम्बन्ध और अन्याय के प्रति वैसा ही अधीर विद्रोह। फलस्वरूप राघव की सृजन-चर्या में भी गोर्की के कई गुण समाहित हो गए। निठल्ले, आवारागर्द, परित्यक्त और पीड़ितों के प्रति राघव का मन गीला हो जाता था। उन्होंने निम्न-से-निम्न जनों में निस्संकोच प्रवेश कर उनके जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन किया और फिर तूफ़ान की-सी गति से अपनी कृतियों की रचना की। यद्यपि अल्पायु के कारण वे कोई परिपक्व कृति हमें न दे सके तथापि हिन्दी-लेखकों में गोर्की के वे सबसे निकट आत्मीय थे। उनसे पहले नरोत्तम नागर में भी ऐसे ही लक्षण प्रकट हुए थे, पर उन्होंने अपनी प्रतिभा को कभी विकसित करने का प्रयत्न न किया। उनके विपरीत राघव ने अनेक सुन्दर रचनाएँ कीं—विशेष रूप से उनकी कहानी 'गदल' और उनका उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' ऐसी ही प्रेरणा से निर्मित हुए। यही नहीं, राघव ने गोर्की के कृतित्व के अधिक गहरे और स्थायी पक्षों की ओर इंगित करके उन्हें प्रगतिवादी संकीर्णता के घेरे से उबारने का भी प्रयत्न किया। प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा से जो उनका प्रलम्बित वाग्युद्ध छिड़ा उसमें प्रसंगवश उन्होंने गोर्की का अनेकशः मार्मिक उल्लेख किया। यहाँ हम उनके दो-एक उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। एक दिन लेनिन टाल्सटाय का 'वार एण्ड पीस' उपन्यास पढ़ रहे थे। गोर्की के पहुँचने पर लेनिन ने कहा—"वाह, क्या लिखा है!...गोर्की महोदय, इससे लिखना सीखो!"...गोर्की ने सिर हिलाकर स्वीकार किया कि टालसटाय महान् लेखक था। अगर गोर्की कुत्सित समाजशास्त्री होता तो वह कहता, "लेनिन, तुमने टाल्सटाय जैसे सामन्तवादी व्यक्ति की प्रशंसा करके...एक मज़दूर और उसकी कला का अपमान किया है।" और यह टिप्पणी भी द्रष्टव्य है—"गोर्की में केवल यथार्थ वर्णन, सोवियत यथार्थ वर्णन, प्रकृति, चरित्र, कथा, प्रचार तथा क्रान्तिकारी भावना का वर्णन ही नहीं, वरन् पुरानी में से नयी कला का सृजन भी है।" क्रान्ति के बाद गोर्की ने साहित्य का बहु-पक्ष देखा। उसने भटके हुए लोगों को इकट्ठा किया, अज्ञातपूर्व कवियों को प्रतिष्ठा दिलाई, लेखक-संघ का निर्माण किया और सम्पादन के विराट् कार्य को हाथ में लिया। गोर्की ने जीवन के जिस निम्न स्तर से उन्नति की ओर जितनी उन्नति की, उसे देखकर आश्चर्य होता है। वह गोर्की, जिसे दर-ब-दर भूखे भागना पड़ा, जो कई-कई दिन बिना विश्राम के बर्फ़ में चलता रहा, जिसे प्रारम्भ में पढ़े-लिखे उच्च वर्गों से आने वाले मार्क्सवादी बराबरी का दर्जा नहीं देते थे, अन्त में एक महान् स्रष्टा बना। इस प्रकार अपने दृष्टिकोण से राघव गोर्की को सर्वाधिक निकट पाते हैं, पर वे गोर्की की और अपनी परिस्थितियों के अन्तर को नहीं भूलते। उनका स्पष्ट कथन है—"रूस में और भारत में अन्तर भी है। रूस की मानवतावादी विचारधारा अल्पकालीन थी। भारत की बहुत पुरानी है।"

धर्मवीर भारती ने भी राघव की ही भाँति उदार मानवतावाद के प्रसंग में ही गोर्की का विवेचन किया है। प्रगतिशील आन्दोलन की त्रुटियों और भूलों को उजागर करने के लिए उन्होंने एक सम्पूर्ण ग्रन्थ ही रचा जिसमें आन्दोलन के मूल स्रोतों से लेकर उसके पूरे इतिहास को निरूपित किया और यह स्थापित किया कि सच्ची प्रगतिशीलता साहस एवं दृढ़ता से अन्याय और शोषण का विरोध करके विश्वबन्धुत्व और मानवीय हित को अग्रसर करने में ही है। गोर्की की जन-निष्ठा और मानवता को भारती ने भाँति-भाँति से बखाना है और समाज के उपेक्षितों-पीड़ितों के प्रति उसकी करुणा को स्वयं अपने उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में अंगीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है। अपने ग्रन्थ 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' के अन्त में भारती ने सहायक पुस्तकों की जो सूची दी है उसमें एक ही उपन्यास सम्मिलित है और वह है गोर्की का 'माँ'। इससे सम्भवतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारती ने 'माँ' के अतिरिक्त जिन उपन्यासों अथवा उपन्यासकारों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है वे उन्होंने मूल रूप में नहीं पढ़े हैं, उनके विषय की सामग्री उन्होंने अन्य ग्रन्थों से जुटाई है। यही कारण है कि पुस्तक में 'माँ' की ही विस्तृत चर्चा मिलती है, अन्य किसी उपन्यास की नहीं। अपनी भूमिका में ही भारती गोर्की का उल्लेख करते हैं—"जैसा कि गोर्की ने कहा है—मानव हमारा देवता है। मानव से बड़ा कोई सत्य नहीं।" प्राचीन साहित्य के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर बल देते हुए भारती फिर गोर्की का स्मरण करते हैं। गोर्की अपने दरिद्र और अभावग्रस्त बचपन के बावजूद पढ़ने का बेहद शौकीन था।···गोर्की ने लिखा था—"लेखक जितना पढ़ सके उसे पढ़ना चाहिए, जानना चाहिए, वह जितनी अच्छी तरह प्राचीन से परिचित होगा, उतनी ही अच्छी तरह वह वर्तमान को पहचान सकता है, उतनी ही स्पष्टता और गम्भीरता से वह आधुनिक युग के क्रान्तिकारी तत्त्वों को समझ सकता है।" किन्तु गोर्की-सम्बन्धी सबसे विस्तृत उल्लेख सोवियत साहित्य में धर्म और ईश्वर के प्रश्न पर किया गया है। इसी प्रसंग में भारती ने 'माँ' के पात्रों के वार्तालाप का उद्धरण दिया है और यह सिद्ध किया है कि गोर्की की चिन्तना भारतीय दर्शन के निकट आ गई थी। "दूसरी बात गोर्की ने यह स्वीकार की कि मानवता की प्रगति में श्रद्धा और हृदय से बल आता है। लेकिन वह अन्धश्रद्धा में विश्वास नहीं करता था, वह बुद्धि को समुचित स्थान देना चाहता था।" और फिर गोर्की के इस कथन पर कि "दुनिया-भर में मनुष्य एक हैं। जीवन की नींव प्रेम पर है, घृणा पर नहीं," भारती टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—"स्पष्ट है कि गोर्की संकीर्ण मार्क्सवाद से महान् मानववाद पर उठ गया था।" यही नहीं, भारती की कुछ कहानियों में भी, विशेष रूप से 'मुर्दों का गाँव', के अंतर्गत कहानियों में हमें गोर्की के इसी मानववाद के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार जब सन् १९५४ के आस-पास अमृतराय अपना पहला उपन्यास 'बीज' प्रकाशित करते हैं तो हम यह देखकर विस्मित रह जाते हैं कि उसमें विद्रोही युवक की पत्नी का चित्रण बहुत-कुछ 'माँ' के ही अनुरूप होता है। विशेष रूप से 'बीज' का चरमबिन्दु प्रायः उसी प्रकार प्राप्त होता है जिस प्रकार गोर्की के 'माँ' का।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के उपरान्त इस काल में गोर्की के व्यक्तित्व और कृतित्व पर हिन्दी-लेखकों के गहरे आकर्षण का एक कारण यह भी है कि इस काल में गोर्की की अनेक कृतियों के हिन्दी अनुवाद प्रकाश में आए। इस कार्य में सोवियत संघ के प्रगति प्रकाशन ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अनुवादकों में शिवदानसिंह चौहान, विजय चौहान, गोपीकृष्ण गोपेश, मुनीश सक्सेना और महाव्रत विद्यालंकार उल्लेखनीय हैं। इसी काल में शचीरानी गुर्टू ने 'प्रेमचन्द और गोर्की' ग्रन्थ का सम्पादन किया जिसमें पहली बार अनेक हिन्दी-लेखकों के सहयोग से गोर्की के व्यक्तित्व और कृतित्व पर बहुविध प्रकाश डाला गया। इसमें जिन लेखकों ने अपने निबन्ध प्रस्तुत किए उनमें बनारसीदास चतुर्वेदी, नरोत्तम नागर (छद्मनाम त्रिविड़ा जोशी), डॉ॰ केसरीनारायण शुक्ल, अमृतराय, रांगेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल, इलाचन्द्र जोशी, हंसराज 'रहबर' और श्री एवं श्रीमती शिवदानसिंह चौहान का उल्लेख आवश्यक है। विशेष रूप से इलाचन्द्र जोशी ने गोर्की की कविता पर निबन्ध प्रस्तुत कर उनके एक ऐसे पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया जो अपेक्षया अपेक्षित ही रह गया था। इसके पूर्व गोर्की की एक कविता का उपयोग चौहान ने किया था, जिसकी हम चर्चा कर आए हैं, और एक अन्य कविता का हिन्दी अनुवाद रांगेय राघव ने प्रस्तुत किया था।

इस संक्षिप्त विवेचन को समाप्त करते हुए हम कह सकते हैं कि मैक्सिम गोर्की ने हिन्दी-लेखकों की तीन पीढ़ियों को अत्यन्त गहरे रूप में प्रभावित किया और उन्हें अपनी रचना को अधिकाधिक लोकहितकारिणी एवं यथार्थपरक बनाने की प्रेरणा दी। जहाँ तक वर्तमान का प्रश्न है, हम सारे वाद-विवाद के परे यह निस्संकोच कह सकते हैं कि गोर्की की सृजन-विधि के दो गुण आज की नई पीढ़ी के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम दे सकते हैं। एक तो उनकी निर्भीकता जो घोर-से-घोर विपत्तियों और विरोधों का सामना करके भी अपने पथ से विचलित नहीं हुई, और दूसरे उनकी अनुभूति की प्रामाणिकता। गोर्की ने अपने समय में अत्यन्त प्रामाणिक जीवन जिया, विशाल जनगण से अपना तादात्म्य स्थापित किया और फिर अपने निजी अनुभवों को अत्यन्त प्रखर और निर्भ्रान्त रूप से अपनी रचना में व्यंजित कर कला के मान्य मूल्यों में भी क्रान्ति उपस्थित की। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्द्रेइ वोज़्नेसेंस्की की कविताएँ

आन्द्रेइ वोज़्नेसेंस्की : रूस के विद्रोही युवा कवियों में अन्यतम। कम्युनिस्ट। जन्म १२ मई १९३३, मास्को। १९५७ में मास्को आर्किटेक्चरल इन्स्टीट्यूट से वास्तुविद्या में ग्रेजुएट। कविता पर वास्तुकला की स्पष्ट छाप। अनेक देशों में भ्रमण का व्यापक अनुभव। अंग्रेज़ी में 'ऐन्टीवर्ल्ड्स' नाम से एक काव्य-संकलन १९६७ में प्रकाशित, जिसके अनुवादकों में डब्ल्यू० एच० ऑडेन, स्टेनली कुनित्स, स्टेनली मॉस, रिचर्ड विल्बर जैसे समर्थ कवि हैं। वोज़्नेसेंस्की अपने सहधर्मी कवि एवतुशेंको के समान ही अपने देश में काफी विवादास्पद होते हुए भी सोवियत समाज के काव्य-प्रेमियों के बीच अपने प्रभावशाली काव्य-पाठ के लिए अत्यधिक लोकप्रिय हैं।

गोया

गोया हूँ मैं
नंगे युद्धक्षेत्र में बिखरा
आँखों की आग्नेय दरारें खुल्खल होने तक
दुश्मन की तेज़ चोंच का खाया, थाहा
छितरा, मैं हूँ शोक
व्यथा हूँ
मैं गोया हूँ।
मैं जिह्वा हूँ बरबादी की
सन् इकतालीस के तुषार पर
मैं अंगारशेष नगरों का
मैं हूँ भूख
क्षुब्ध अशनाया
मैं हूँ गोया।
गोया हूँ मैं
फाँसी टँगी किसी नारी के
सूनसान में
झूल रहे घंटे की तरह लटकते शव का
घुटकर नीला हुआ गला हूँ।
मैं गोया हूँ।
(ओ अमर्ष के द्राक्षाओ)
मैंने अतिथि अनामंत्रित की
राख फेंककर अस्ताचल में
ठोंक दिए हैं तारा कीलें
अब अविस्मृती आसमान पर
मैं हूँ गोया।

पहला पाला

टेलीफोन बूथ पर
सिमटी हुई झीने कोट में
एक लड़की ठिठुरती है
लिपस्टिक दगे उसके चेहरे पर
मैली तरल धार झरती है
ठिठुरी हुई लड़की
बर्फीली पतली उँगलियों को
गरमाती है अपनी साँस से
अनदेखे रह गए कानों में
मोती काँच के
रास्ते ठंडे, बर्फीले,
साथहीन अब पार करने होंगे उसे
काँपकर अकेले अकेले
यह पहला पाला है
शुरुआत खोने की
पहला तुषारपात
फोन पर आए जवाब का
उतर रहीं लड़की के गालों पर
उजले दिसम्बर की झाइयाँ
दुःख से पहचान की
ठण्डी परछाइयाँ।

—अनु० कैलाश वाजपेयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चल निःस्तब्ध

['मुझे शान्ति दो' नामक दूसरे खण्ड से, जिसमें अपेक्षया अधिक आत्मीय और निजी ढंग की ऐसी कविताएँ हैं जिनका प्रमुख स्वर प्रणय और प्रकृति में शरण पाने का, या कहें, पलायन करने का है। यह रचना उस समय लिखी गई थी जब सन् १९६३ में अमूर्त कला और अस्वीकृति के काव्य के विरुद्ध आन्दोलन के दौरान कवि पर कठोर प्रहार किये गए थे। इस कविता में सार्वजनिक जीवन की क्षण-भंगुर विक्षिप्तताओं पर प्रणय की चरम विजय का प्रतिपादन है।]

मेरे पुट्ठों पर तुम्हारी ये हथेलियाँ !
आओ, हम आलिंगन में बँध जाएँ
मेरे चेहरे पर बस तुम्हारे ओठों की भाप हो
और हमारे पीठ-पीछे रोलरों की गड़गड़ाहट—बस !

चाँदनी में सीपियों की तरह चमकती हमारी पीठें
अब हमारे पीछे जुड़ गई हैं
हम गड्ड-मड्ड लेटे हुए हैं, भौंहों पर भौंहें धरे,
किसी जुड़वाँ मंत्र की तरह, जीवन के दुहरे निशान
की तरह।

हमने मिलकर जिस शान्ति को जन्म दिया है
उसे हमारे कन्धे मूढता की विश्वव्यापी वायु में
मौसम के कोप से बचा रहे हैं—
हथेलियों की ओट में थिराई लौ की भाँति।

क्या रोम-रोम में प्राण बसते हैं ?
तो फिर खोल दो अपने सभी नन्हे-नन्हे द्वार
सोनपाखियों की तरह तुम्हारे प्राण
मेरी पोरों के पिंजड़ों में फड़फड़ाते रहें !

अब कुछ भी ओट नहीं है जो हम नहीं जानेंगे
पर तिरस्कार का कोई भी तूफ़ान उझककर
हमारे इस आलिंगन को न देखे
कि हम अकेले पड़े रह जाएँ
सिन्धु-विस्मृत गूंगी सीपियों की तरह।

तब तक, ओ रे दबाव और उलझन के बोझ !
हमारी पीठ की सीपियों पर ढेर बनकर पड़े रहो
कि हम एक-दूसरे को और भी ज़ोर से कस लें

और सो जाएँ।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम अपनी चाची के यहाँ रहती हो

['सात जनों का मेरा परिवार' शीर्षक छठे खण्ड से, जिसमें हलके-फुलके ढंग की विविध कविताएँ हैं, कुछ विनोदपूर्ण और कुछ मनमौजी। प्रस्तुत कविता में वाल्दीमीर और सुज़्दाल नामक प्राचीन रूसी नगरों में बीते शैशव के प्रगीतात्मक संस्मरण हैं।]

तुम अपनी चाची के यहाँ रहती हो। वह आल्हा, सुंघनी
और छींकों में मस्त है। मर्दों का-सा सुथन्ना पहने,
थुलथुल।
कितनी घृणा है हमें उस बुढ़िया बोरी से !

ईश्वर की कृपा से खलियान हमारा बन्धु है, वह बड़ा सा
प्यारा भालू, जो हमें अपनी बाँहों में कस लेता है,
जिसकी साँस में मधुमक्खियों का घर है।

और सुज़्दाल में ईस्टर की धूम है !
कोलाहल और कौवों से पवित्र वह बूढ़ी परकोटेदार
पुरी।

मेरे गाल पर तुम अपने बचपन की बातें गुनगुनाती हो
वह गँवई-गाँव का बचपन, जिसे वरदान में मिले थे
सूरज, घोड़े ओर मूर्तियों की तरह जगमगाते शहद के
छत्ते।
तुम्हारी लटों पर शहद की जगमगाहट है।

मैं रूस में रहता हूँ—बर्फ़ और सन्तों के बीच !

—अनु० भारत भूषण अग्रवाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमरीका छोड़ने पर : एक कवि का पत्र

हान्स माग्नुस एन्त्सन्सबर्गर[1]

मि० एडविन डी० एथरिंगटन,
प्रेसिडेंट,
वेज़्लियन विश्वविद्यालय,
मिडिल टाउन, कॉन०।

मि० प्रेसिडेन्ट,

मैं वेज़्लियन विश्वविद्यालय के सेंटर फ़ार एडवांस्ड स्टडीज़' के फ़ेलो पद से इस्तीफ़ा देता हूँ। आप इसे स्वीकार कीजिए। यहाँ के प्रवास-काल में आपसे मुझे जो आतिथ्य मिला उसके लिए धन्यवाद। फैकल्टी और छात्रों के प्रति वेज़्लियन छोड़ने के कारण बताने का दायित्व निस्सन्देह मेरे ऊपर है।

सबसे पहले कुछ आरंभिक बातें। संयुक्त राज्य अमेरिका पर जिस वर्ग का शासन है और उसकी नीतियों को जो सरकार लागू करती है, वे मेरे विचार से पृथ्वी के सबसे खतरनाक लोग हैं। यह वर्ग किसी-न-किसी रूप में ऐसे हर व्यक्ति के लिए खतरा है जो उसका हिस्सा नहीं है। इसने एक अरब से भी अधिक जन-समुदाय के विरुद्ध अघोषित युद्ध छेड़ रखा है, इसके हथियारों की शृंखला गहरी बमबारी से लेकर वशीभूत करने की बारीक-से-बारीक विधियों तक विस्तृत है। इसका उद्देश्य संसार की अन्य सभी शक्तियों पर अपना राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक अधिकार जमाना है। क्रान्तिकारी परिवर्तन इसके लिए सबसे बड़ा दुश्मन है।

अनेक अमरीकी अपने राष्ट्र की इस अवस्था से बेहद परेशान हैं। उनके नाम पर वियतनाम की जनता के विरुद्ध जो युद्ध छेड़ा गया है उसे वे अस्वीकार करते हैं। अमरीकी शहरों की नीग्रो बस्तियों में जो गुप्त गृह-युद्ध चल रहा है, उसे वे ख़त्म करने के तरीके ढूंढ़ रहे हैं। फिर भी उनमें से अधिकांश का अभी तक यही ख़याल है कि ये संकट केवल दुर्भाग्यपूर्ण अल्पकालिक घटनाएँ हैं और इनका कारण सदोष प्रबन्ध तथा समझ की कमी है तथा ये उस विश्व-शक्ति की दुखद भूलें हैं जो वस्तुतः नेक इरादों से युक्त, विवेकशील और शान्तिप्रेमी है।

लेकिन इस व्याख्या के साथ मैं सहमत नहीं हो सकता। वियतनाम युद्ध कोई अकेली घटना नहीं है। यह उस सुनियोजित अन्तर्राष्ट्रीय नीति का सबसे प्रत्यक्षगोचर और रक्तरंजित प्रतिफलन है जिससे पाँचों महाद्वीप पीड़ित हैं। संयुक्त राज्य के शासक वर्ग ने गाटेमाला और इन्डोनेशिया, लाओस और बोलिविया, कोरिया और कम्बोडिया, फिलिपिन्स और वेनेजुएला, काँगो और डोमिनिकन रिपब्लिक के सशस्त्र संघर्ष में साफ़ दखलन्दाज़ी की है। यह मुकम्मल फ़ेहरिस्त नहीं है। अनेक अन्य देशों में भी अमरीकी मदद से दमन, भ्रष्टाचार और भुखमरी का शासन चल रहा है। आज कोई भी व्यक्ति अपने-आपको सुरक्षित अनुभव नहीं कर सकता है—न यूरोप में और न स्वयं संयुक्त राज्य में ही।

यहाँ मैं जो सीधा-सादा सत्य कह रहा हूँ उसमें मौलिक और अप्रत्याशित कुछ भी नहीं है। इसमें किसी वैज्ञानिक पद्धति से विचार करके जोड़ने-घटाने के लिए यह जगह नहीं है। दूसरों ने, जिनमें बरान और होरोवित्स, ह्यूबरमान और

१. **हान्स माग्नुस एन्त्सन्सबर्गर :** जर्मनी के विद्रोही युवा कवियों में अन्यतम। जन्म १९२९। एम० ए०, पी-एच० डी०। जर्मन कविता में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले ग्रुप '४७ से संबद्ध। अपनी कविताओं के लिए अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों द्वारा सम्मानित। अपने समानधर्मा लेखक गुन्टर ग्रास के साथ पश्चिमी जर्मनी में सरकार के तानाशाही और शान्ति-विरोधी रवैये के खिलाफ अनेक आन्दोलनों के सक्रिय कार्यकर्ता। मार्च १९६७ में दस दिनों के लिए भारत भी आए थे और यहाँ के अनेक युवा लेखकों से मिले। सम्प्रति क्यूबा में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीज़ी, ज़िन और चौम्सकी जैसे अनेक अमरीकी विद्वान् हैं, इस दिशा में काफी काम किया है। मुझे ऐसा लगा है कि यहाँ का एकेडेमिक समुदाय उन कामों को कोई महत्त्व नहीं देता। उन्हें पिटा-पिटाया, ऊबाऊ, भाषणबाज़ी-भरा, कम्युनिस्ट प्रोपेगेंडा तथा विभ्रमित कल्पना की सृष्टि कहा गया है। ये सुरक्षा-कवच पश्चिमी बुद्धिजीवियों के टकसाली हथियारों के हिस्से हैं। मैं उनसे यहाँ अक्सर मिलता रहा हूँ, इसलिए उनको नजदीक से जाँचने की छूट ले रहा हूँ।

पहली युक्ति दरअसल अर्थ-विज्ञान का विषय है। हमारा समाज भाषा की पुरानी वर्जनाओं को स्वीकार करने की स्थिति में पाया जाता है। आज कोई पुराने और अपरिहार्य चार अक्षर वाले शब्दों से नहीं चौंकता। इसके साथ ही अनेक नये गढ़े हुए शब्द आपसी राय-बात से भद्र समाज द्वारा बहिष्कृत कर दिए गए हैं जैसे 'शोषण' और 'साम्राज्यवाद' जैसे शब्द। उनमें अश्लीलता की गंध आने लगी है। राजनीतिशास्त्री इन्हें घुमा-फिराकर दूसरे ऐसे शब्दों में व्यक्त करते हैं जिन्हें देखकर विक्टोरियन मंगलभाषितों की याद आती है। समाजशास्त्री इस हद तक चले गए हैं कि वे एक शासक वर्ग कुछ के अस्तित्व तक को इन्कार करते हैं। ज़ाहिर है कि शोषण शब्द से जिस वस्तु का बोध होता है उसकी अपेक्षा 'शोषण' शब्द को ही खत्म करना आसान है, लेकिन किसी शब्द को खत्म करने से खुद समस्या खत्म नहीं हो जाती।

सुरक्षा का दूसरा साधन है मनोविज्ञान का ढाल के रूप में इस्तेमाल। मुझसे कहा गया है कि बाकी दुनिया के लिए खतरा के रूप में कुछ शक्तिशाली लोगों के गुट की कल्पना करना मानसिक रोग है। इसका मतलब है कि उसके तर्कों को सुनने के बजाय उस रोगी पर नज़र रखना बेहतर है। अब ऐसे शौकिया मानस-चिकित्सकों के सामने अपना बचाव करना आसान नहीं है। मैं अपने-आपको कुछ-एक खास बातों तक ही सीमित रखूँगा। मैं किसी षड्यन्त्र की कल्पना नहीं करता, क्योंकि इस तरह की किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। कोई सामाजिक वर्ग, और खासकर शासक वर्ग किसी गुप्त सम्बन्ध से नहीं बँधा होता बल्कि आपसी प्रत्यक्ष स्वार्थों से एकजुट होता है। मैं राक्षस नहीं गढ़ता। हर आदमी जानता है कि बैंकों के प्रेसीडेंट, जनरल और सैन्य-उद्योगपति 'कॉमिक' फ़िल्मों के राक्षस नहीं हैं। वे सभी सभ्य-सुसंस्कृत महानुभाव और सम्भवतः परोपकार की भावना वाले तथा राग-रंग के प्रेमी हैं। 'तीसी' के जर्मनी में भी ऐसे उदार सज्जनों की कमी नहीं थी। उनके नैतिक पागलपन का स्रोत उनका व्यक्तिगत चरित्र नहीं था, बल्कि उनके सामाजिक कर्म थे।

अन्त में इन सबके लिए एक राजनीतिक सुरक्षा-कवच भी है जिसके अनुसार मेरा कहा हुआ यह सब सिर्फ़ कम्यूनिस्ट प्रोपेगण्डा है। इस समय सिद्ध अभियोग से मुझे कोई भय नहीं। यह अनिश्चित, अस्पष्ट और तर्कहीन है। सबसे पहले 'कम्यूनिज़्म' शब्द एक वचन के रूप में बहुत-कुछ अर्थहीन हो गया है। इसका विस्तार विविध प्रकार के विरोधी विचारों तक है जिनमें से कुछ सर्वथा परस्पर-विलोम हैं। यही नहीं, अमरीकी विदेश-नीति के बारे में जो मेरी राय है वही ग्रीक उदारवादियों और लेटिन अमरीकी आर्कबिशपों, नार्वेजी किसानों और फ्रांसीसी उद्योगपतियों की भी है: ये वे लोग हैं जिन्हें आमतौर से 'कम्यूनिज़्म' के हरावल दस्ता में नहीं माना जाता।

तथ्य यह है कि अधिकांश अमरीकियों को गुमान भी नहीं कि बाहरी दुनिया को वे और उनका देश कैसे लगते हैं। मैंने उनका अनुसरण करने वाली निगाहों को देखा है, जैसे मेक्सिको की सड़कों पर घूमने वाले टूरिस्ट, सुदूर पूर्व के शहरों में छुट्टी मनाने वाले जवान, स्वेडन या इटली में व्यापारी। वही निगाह आपके दूतावासों, आपके विध्वंसकों, आपके विज्ञापन-पटों पर पड़ती है। यह खौफ़नाक निगाह है, क्योंकि यह न फ़र्क करती है और न छूट देती है। मैं यह बताना चाहता हूँ कि मैं इस निगाह को क्यों पहचानता हूँ। इसलिए कि मैं एक जर्मन हूँ, इसलिए कि उस निगाह को मैंने अपने ऊपर भी महसूस किया है।

यदि आप इसकी जाँच करने की कोशिश करें तो आपको एतराज़ और अविश्वास, ईर्ष्या और भय, हिकारत और नफ़रत का घालमेल मिलेगा। यह आपके प्रेसिडेंट पर चोट करती है जो संसार की शायद किसी राजधानी में सार्वजनिक रूप से अपना मुंह दिखाने का साहस कर सकें, लेकिन यह दिल्ली से बनारस के बीच उड़ान के रास्ते पर मिलने वाली उस उदार बूढ़ी महिला पर भी चोट करती है। वह एक सर्वग्रासी मानीवादी निगाह है। मुझे वह पसन्द नहीं है। सामूहिक अपराध के बारे में आपके प्रेसिडेण्ट का जो विश्वास है उसे भी मैं नहीं मानता। कोरिया में अपने जवानों से उन्होंने कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, "यह न भूलो कि तीन अरब की दुनिया में हम लोग केवल बीस करोड़ हैं। वे वह चाहते हैं जो हमें मिला है और उसे हम उन्हें दे नहीं सकते।" यह एकदम सच है कि तीसरे महायुद्ध की लूटमार में हम सबका हिस्सा है। डॉब और बैंटलहाइम, जैली और राबिन्सन जैसे अर्थशास्त्रियों ने इस बात के पर्याप्त प्रमाण दिए हैं कि जिन निर्धन देशों को हमने अविकसित बना रखा है वे हमारी अर्थ-व्यवस्था के सहायक हैं। लेकिन निश्चय ही मि० जानसन अपने पक्ष की अतिरंजना करते हैं। जब वे यह संकेत देते हैं कि इस लूट की लड़ाई में सारी अमरीकी जनता एक ठोस अखण्ड सुसंगठित दानव है। मि० जानसन की आँखों में अमरीका में जो कुछ है उससे ज़्यादा चीज़ें सराहनीय हैं। एस० एन० सी० सी०, एस० डी० एस० और रेज़िस्ट में भाग लेने वाले लोगों ने संघर्ष का जो रूप प्रस्तुत किया है उसके समकक्ष यूरोप में कुछ भी सुलभ नहीं है। मैं यह भी जोड़ना चाहता हूँ कि संयुक्त राज्य के प्रति अनेक यूरोपीय आजकल जिस नैतिक श्रेष्ठता का भाव प्रदर्शित करते हैं वह मुझे नापसन्द है। उनके जो अपने साम्राज्य ध्वस्त हो गए उसे वे अपना व्यक्तिगत गुण समझते हैं। निस्सन्देह यह ढोंग है।

जो हो, आपका अपना देश बाकी दुनिया के साथ जो कुछ करता है उसके प्रति राजनीतिक ज़िम्मेदारी जैसी भी कोई चीज़ होती है। जर्मनों ने दोनों विश्वयुद्धों में बड़ी कीमत चुकाकर इस सत्य का साक्षात्कार किया। आपके यूनियन की मौजूदा हालत मुझे 'तीसी' के मध्य में मेरे अपने देश की जो स्थिति थी, उसकी याद दिलाती है और वह भी एक से अधिक बातों में। इन बातों को तुरन्त ठुकरा देने से पहले मैं आपसे इस बात पर विचार करने के लिए कहूँगा कि उस समय गैस-चेम्बर्स के बारे में किसी ने न तो सुना था न सोचा था। सम्मान्य राजनीतिज्ञों ने बर्लिन में पदार्पण किया और राइख़ के चान्सलर से हाथ मिलाया, और अनेक लोगों ने यह मानने से इन्कार किया कि जर्मनी संसार पर अधिकार करने के लिए कटिबद्ध है। निस्सन्देह हर आदमी को पता था कि वर्ण-भेद और दमन की नीति चालू है, शस्त्र-निर्माण का बजट अप्रत्याशित रूप से आसमान छू रहा है, और स्पेनी क्रान्ति के विरुद्ध युद्ध में धँसने की रफ़्तार बढ़ रही है।

लेकिन यहीं मेरी उपमा खत्म होती है, क्योंकि हमारे वर्तमान भाग्यविधायकों के हाथ में विध्वंस की वह शक्ति है जो नात्सियों के स्वप्न में भी नहीं आई थी। यही नहीं, बारीकी की उस सीमा तक पहुँच चुके हैं जो स्थूल पुरा ज़माने के लिए अनसुनी थी। आज शाब्दिक विरोध निर्दे दर्शकों का खिलवाड़-मात्र है—यहाँ तक कि स्वयं सत्ताधा वर्ग उसे एक हद तक उकसावा देकर सुनियोजित रूप देता और उसके लिए छूट भी होती है। इस महत्त्वाकांक्षापूर्ण क्षे के लिए विश्वविद्यालय सबसे प्रिय क्रीड़ा-स्थल बन गए हैं निस्सन्देह धुर-कट्टरपंथी इस प्रकार का तर्क कर सकते हैं कि इस समय हमें जो वंचनाभरी और विडंबनापूर्ण स्वतन्त्रत प्राप्त है उसकी अपेक्षा खुला दमन और नियंत्रण बेहतर है लेकिन, दूसरी तरफ़, इस बात को इनकार करना भी मूर्खत होगी कि इस व्यवस्था के विरोधियों के लिए उस स्वतन्त्रत ने नये बहानों, फंदों और दुविधाओं की सृष्टि की है। इ बात को समझने में मुझे तीन महीने लग गए कि आपने ज सुविधाएँ मुझे दी हैं वे अन्ततः मुझे निरस्त्र करने के लिए है और आपका निमंत्रण और अनुदान स्वीकार करके मैंने अपन विश्वसनीयता खो दी। और उन शर्तों पर यहाँ मेरे होने मा से वे तमाम बातें मूल्यहीन हो गईं जिन्हें मैं कह सकता हूँ "किसी बुद्धिजीवी का मूल्य आँकने के लिए उसके विचारों क जाँच-पड़ताल ही काफ़ी नहीं है, बल्कि उसके कार्यों औ विचारों के बीच का रिश्ता भी विचारणीय है।" यह सला रेगी देब्रे ने दी है और मेरी मौजूदा स्थिति से इसका गह ताल्लुक है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसकी सार्थकता प्रमाणि करने के लिए मुझे इसे खत्म करना ही होगा।

ऐसा करना काफी तो नहीं, लेकिन ज़रूरी है। क्योंकि आराम से साम्राज्यवाद का अध्ययन करना एक बात है औ जहाँ वह अपना कम उदार चेहरा दिखाए वहाँ उसका मुक बला करना बिल्कुल दूसरी बात है। क्यूबा की यात्रा से अभी लौटा हूँ। मैंने मेक्सिको सिटी के हवाई अड्डे पर सी आई० ए० के एजेन्टों को हवाना जाने वाले हर यात्री क फोटो लेते हुए देखा है, मैंने क्यूबा के समुद्री तट के पा अमरीकी लड़ाकू जहाज़ों के सिलहुएट देखे हैं, मैंने 'वे ऑ पिग्स' पर अमरीकी आक्रमण के अवशेष देखे हैं, मैंने एक छोटे से देश के तन और मन पर साम्राज्यवादी अर्थतन्त्र के विरासत में मिले, घावों के निशान देखे हैं, और देखी हैं मैं रोज़मर्रा की वह शिद्दत जिसने क्यूबावासियों को इस्तेमाल आने वाली एक-एक चम्मच चेकोस्लोवाकिया से आयात करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए विवश किया है और विवश किया है सोवियत संघ से गेसोलीन का एक-एक गैलन मँगाने के लिए, क्योंकि संयुक्त राज्य पिछले सात सालों से क्यूबावासियों को भूखों मारकर आत्मसमर्पण कराने की कोशिश कर रहा है।

मैंने क्यूबा जाने और वहाँ जाकर काफी समय तक काम करने का संकल्प कर लिया है। मेरी ओर से यह कोई त्याग नहीं है। मैं यह महसूस करता हूँ कि वेज़िलयन विश्वविद्यालय के छात्रों को पढ़ाने की अपेक्षा मैं क्यूबा की जनता के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकता हूँ और उससे ज्यादा सीख भी सकता हूँ।

आपके आतिथ्य के सामने धन्यवाद का यह पत्र तुच्छ है, किन्तु मुझे खेद है कि तीन शान्तिपूर्ण महीनों के बदले भेंट के लिए मेरे पास इससे अधिक और कुछ नहीं है। निस्सन्देह मुझे पता है कि मेरा मामला अपने-आपमें, बाहरी दुनिया के लिए कोई खास दिलचस्पी और महत्त्व का नहीं है। फिर भी इससे जो समस्याएँ पैदा होती हैं उनका सम्बन्ध अकेले मुझसे ही नहीं है। इसलिए मैं सार्वजनिक रूप में भरसक उनका जवाब देने की कोशिश करूँगा।

●

लेखक की पराजय

यशदेव शल्य

इस लेख का शीर्षक कुछ भ्रामक है, यहाँ मुझे लेखक-सामान्य के सम्बन्ध में कुछ कहना अभिप्रेत नहीं है। यहाँ मैं केवल हिन्दी-साहित्य के उस लेखक की मनोदशा के सम्बन्ध में दो शब्द कहना चाहता हूँ जो अपने को 'समकालीन प्रबुद्ध वर्ग' का नेता समझता है। मैं अपना वक्तव्य इस मनोदशा के व्यंजक एक प्रतिनिधि उद्धरण के साथ आरम्भ करूँगा :

"यह पीढ़ी 'डिसएल्यूज़ण्ड' और पराजित पीढ़ी है—'डिएल्यूज़ण्ड' अपनी अग्रज पीढ़ी की धुरी-हीनता से, और पराजित इसलिए कि मूल्य-संक्रमण की अनेक स्थितियों में यथार्थ के व्यंग्य को भोगते हुए भी वह किसी निश्चित सत्य और 'दृष्टि' (विज़न) की उपलब्धि तक नहीं पहुँच सकी। उसका विरोध राजनीतिक स्तर पर एक ओर अग्रज पीढ़ी के नेहरू जैसे अनर्गल स्वप्न-द्रष्टा और समझौतावादी नेताओं के प्रति है, जिन्होंने अनेक राष्ट्रीय प्रश्नों के सन्दर्भ में उनकी युवा भावनाओं और आदर्शों का बरगलाया तो दूसरी ओर उन कम्युनिस्टों से भी है जो 'अराष्ट्रीय' और 'पूर्वनियतिवादी' हैं। इन्हीं दोनों के बीच लेखक की यह युवा पीढ़ी है जो दोनों ही किनारों से बार-बार टकराती हुई और उस टकराव की चेतना को तीव्रता से महसूस करती हुई नए मानव-मूल्यों की खोज के पथ पर अग्रसर होती रही।

"इस टकराहट में जिस किस्म का व्यक्तित्व बनता है उसमें द्वंद्व की चेतना एक स्थायी तत्त्व है।"

यह एक प्रतिनिधि उद्धरण है। कोई नई पत्रिका उठाकर आप 'नव लेखक' का इसी भाषा में इसी तरह का **पराजय-गर्व** देख सकते हैं। इसलिए यहाँ इसके लेखक का और पत्रिका का, जिसमें यह प्रकाशित हुआ है, नाम देना आवश्यक नहीं है, यह सही अर्थों में 'क' के विचार हैं।

लेखक ने यहाँ 'मानव-मूल्यान्वेषी चेतना' की बात की है, जो इसके प्रबुद्ध होने के दावे के प्रमाण के रूप में आवश्यक है, किन्तु उसे इस चेतना के प्रसार-वृत्त के रूप में 'नेहरू की अनर्गलता और कम्यूनिस्टों की अराष्ट्रीयता के दो ध्रुव ही दिखाई दिए हैं। जिस लेखक का अन्तर्द्वन्द्व और मूल्यान्वेषण इस सन्दर्भ में अपनी सार्थकता देखता है उसे पराजित अनुभव करने की कोई आवश्यकता नहीं है, वह लोहिया या मीनू मसानी अथवा डाँगे से, और नहीं तो राजाजी से ही, अपने को कृत-कृत्य कर सकता है। स्पष्ट है कि यह 'प्रबुद्ध लेखक' पूर्ण रूप से अर्थ-भ्रष्ट है; वह ठीक ही पूरी तरह से पराजित है, क्योंकि उसे यह तनिक भी बोध नहीं है कि मानव-मूल्यों की खोज की दिशा यह नहीं है।

उसे अग्रज पीढ़ी से अवश्य ही एक आदर्श-भ्रष्टता का भाव मिला है, किन्तु इसे 'मोह-भंग' का नाम नहीं देना चाहिए। इस अग्रज पीढ़ी के व्यापक और जघन्य भ्रष्टाचार ने एक भयानक सामाजिक त्रास को जन्म दिया। किन्तु जो इस भ्रष्ट सामाजिक कारण-शृंखला में एक कड़ी है उसके लिए यह कहा जा सकता है कि वह इसको केवल भोग रहा है, वह स्वयं भ्रष्ट तथा त्रासक और त्रस्त है। इस 'प्रबुद्ध' नव-लेखक वर्ग का अधिकांश इसी स्थिति में है—वह भ्रष्ट है, वह सापेक्ष रूप से त्रासक है व त्रस्त है। ये लेखक अधिकांशतः अध्यापक हैं, ये इसीलिए लिखते हैं क्योंकि लिखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से पदोन्नति मिलती है या चर्चा होती है, किन्तु न ये अध्यापन में ईमानदार हैं, न लिखने में, न अपने घर में और न मित्रों में। 'ईमानदारी' इनके लिए 'दकियानूसी' का पर्याय है। यह एकदम से स्वाभाविक है। जो उपरोक्त प्रकार की कारण-शृंखला में कड़ी है वह और कुछ हो ही नहीं सकता। किन्तु वह उस अर्थ में सम्मोह-नष्ट और पराजित भी नहीं हो सकता, जिस अर्थ में मानव-मूल्यान्वेषी हो सकता है। इस लेखक-वर्ग की पराजय त्रास-जन्य है—वह पद, मान, अर्थ, काम की प्राप्ति की दौड़ में अपने पिछड़ेपन के प्रति 'प्रबुद्ध' है, इसलिए वह निराश है और टूटा हुआ है। वह इस पराजय को कोई अच्छा नाम देना चाहता है इसलिए कभी वह राजनीति को, कभी मूल्य-संक्रमण को और कभी मोह-भंग को इसके कारण के रूप में देखता है। किन्तु वे कोई उचित कारण नहीं हैं, ये उचित कारण उसके लिए हो सकते हैं जो इनसे बाहर होकर—आत्मस्थ होकर—इनको एक परिप्रेक्ष्य में देख सकता है। उसकी पराजय-भावना और निराशा करुणा-मूलक होगी—जैसी तुलसीदास में कलिकाल का तांडव देखकर उपजी थी।

यह समझ में आता है कि 'मूल्य-संक्रमण' युग में एक संभ्रम, एक विमूढता और अस्थिरता उत्पन्न करे, और लेखक जब ऐसे युग का अंश है तो वह भी स्वभावतः इस संभ्रम और अस्थिरता से प्रभावित होगा ही; किन्तु उसकी यह स्थिति **उसके युग से निर्धारित होने की है, युग का विवेचक होने की नहीं।** किन्तु यह 'प्रबुद्ध' लेखक मूल्य-संक्रमण और पराजय से अपना तादात्म्य करता है, मानो यह प्रबुद्ध होने की पूर्वापेक्षा हो। मूल्य-संक्रमण परिस्थिति है, बोध नहीं है। बोध मूल्य-विधायक होता है।

तब फिर क्यों आज लेखक मूल्य-संक्रमण के भोक्ता की, पराजित की, त्रासक-त्रस्त की भूमिका में है? क्यों वह इतना कुण्ठित है कि वह विवेचक की—आत्म-प्रबुद्ध की—स्थिति तक कभी उठ ही नहीं पाता? क्यों वह यथार्थवादी और यथार्थ-भोगी होकर ही रह जाता है, यथार्थ-द्रष्टा और आदर्शवादी नहीं बन पाता?

इस प्रश्न के उत्तर का अर्थ है सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों का विवेचन करना। किन्तु इन परिस्थितियों का विवेचन सहज नहीं है, मैं इस विवेचन के लिए पर्याप्त समर्थ भी नहीं हूँ, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह विवेचन प्रस्तुत प्रसंग में उपयोगी भी नहीं है, क्योंकि यह केवल लेखक को परिस्थिति के रूप में ही विवेचित करेगा। उसे मैं सब परामर्शों का एक परामर्श देना चाहता हूँ कि मित्र, तू परिस्थिति मत बन।

× × ×

मैं अब उपदेशक की हास्यास्पद भूमिका में आ ही गया हूँ तो सोचता हूँ लगे-हाथ एक-दो उपदेश और दे डालूं। हमारे अग्रज भ्रष्टाचारी प्रमाणित हुए। ऐसा क्यों हुआ? इस 'क्यों' की जड़ खोदने चलेंगे तो अन्त में कुछ हाथ नहीं आएगा—पृथ्वी को उठाने के लिए वृषभ की आवश्यकता है, आप अधिक-से-अधिक वृषभ को उठाने के लिए एक और धारक दे सकते हैं—कच्छप, किन्तु उसके धारण के लिए क्या करेंगे? यहाँ देखने की बात यह है कि ये ही अग्रज कभी एक आह्वान पर घर-बार, सुख-सम्पत्ति सब छोड़कर जेलों में डंडे खाने के लिए, गोली खाने के लिए भी चले जाते थे। तुम कहोगे—हमारे अनुज भी जाते हैं। यह सुन्दर बात कही, यह जाने-जाने में मौलिक भेद का सुन्दर उदाहरण है—हमारे अग्रज आह्वान पर जाते थे और अनुज बिना आह्वान के जाते हैं, मुझे कहने का अवसर दोगे तो कहूँगा, ये धकेल से जाते हैं—परिस्थिति-बद्ध, लक्ष्य-हीन। निश्चय ही नियोजित अग्रज भी थे, जैसे अनुज हैं, या तुम भी हो, दुर्भाग्यवश यह वस्तुस्थिति है कि सामान्य-जन प्रायः नियोजित रूप में ही चलता है। किन्तु तब भी आह्वान से नियोजित होने और परिस्थिति से धकेले जाने में अन्तर है।

हाँ तो मैंने कहा, अग्रजों ने आह्वान पर घर-बार, पुत्र-कलत्र छोड़े थे। किन्तु क्योंकि ये केवल नियोजित थे इसलिए आह्वान के क्षीण होते ही ये बिखर गए। निष्कर्ष यह कि संधारक के रूप में कोई आह्वान अनिवार्य है। संस्कृति यही देती है, इसका प्राण क्षीण होने पर कोई इतिहास-पुरुष यह देता है और इस प्रकार से संस्कृति का पुनरुज्जीवन होता है। दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता के बाद ऐसे पुरुष के रूप में जिसने हमारा आह्वान किया उसने संस्कृति से बढ़कर गति को समझा, मूल्य से बढ़कर अर्थ (धन) को समझा और आन्तर मानव को प्रतिष्ठा नहीं देकर यंत्र-मानव को प्रतिष्ठा दी। इसे सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, उसका जाति को पुराने तीर्थ भूलकर भाखड़ा नंगल और सिन्द्री को नए तीर्थों के रूप में देखने का आह्वान इसका पर्याप्त प्रमाण है। यदि भाखड़ा नंगल आपके तीर्थ होंगे तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके प्रतिष्ठापकों के रूप में अमरीकनों-रूसियों का आपके धर्म-गुरु होना स्वाभाविक है और न्यूयार्क, लन्दन, पेरिस और मास्को का चरित्र के शिक्षणालय हो जाना। यही हुआ और बुरी तरह से हुआ। परिणाम है जातीय व्यक्तित्व का क्षय, जो व्यक्तित्व कि अन्ततः वैयक्तिक व्यक्तित्व का भी संधारक होता है, जिस व्यक्तित्व का बिखराव तुममें आज परिलक्षित होता है। तुम आज केवल अनुकरण करने योग्य रह गए हो, शब्द तुम्हारे अनुवाद मात्र हैं, तुम्हारा रोना तक अनुकरण है। तुम नेहरूजी को चाहे कितना भी दोष दो, किन्तु तुमने उनकी पश्चिम-भक्ति को शतधा बढ़ाकर और विवेकशून्यता के साथ ओढ़ा है और उनके आत्म-बल का शतांश भी तुममें नहीं है। वे पश्चिम की उदार परम्परा के भक्त थे, तुम उसकी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के अन्धानुकर्त्ता हो।

मेरे पर शायद तुम 'नमकहराम' होने का आरोप लगाओ; आखिर अमरीकी गेहूँ मैं भी खाता हूँ। किन्तु मेरे मित्र, अर्थ के पक्ष में मूल्य को खोने वाला या तो अन्ततः अर्थ भी खोता है या फिर, राजा मीदास के समान, सब-कुछ को स्वर्ण के रूप में परिणत पाकर त्रास का भाजन बनता है।

मैं न यन्त्र के विरुद्ध हूँ, न प्रगति के विरुद्ध हूँ, न अर्थ के ही विरुद्ध हूँ। ये सब चाहिए, बिहार का अकाल नहीं चाहिए और न व्याधि और अशिक्षा ही चाहिए। किन्तु क्या हमारा देश इस ओर अग्रसर हो पाया है? जबकि इसने भाखड़ा-नंगल को तीर्थों के रूप में स्थापित करने का आह्वान भी सुना। इनको लक्ष्य रूप में स्थापित कर कोई इस ओर प्रगति नहीं कर सकता, क्योंकि ये लक्ष्य हैं ही नहीं, ये शरीर-धर्म के साधन मात्र हैं और इसी रूप में देखने पर ये बहुल भी हो सकते हैं। यह बात अनुभव पर आधारित थी कि लक्ष्मी पुरुष-सिंह का ही वरण करती है, लक्ष्मी का दास होकर कोई पुरुष-सिंह नहीं होता। यह विशेष रूप से जातियों के लिए सही है।

तुम जिस मूल्य-संक्रमण की बात करते हो, कभी यह सोचा कि वह क्या है? यह विज्ञान को जीवन-दृष्टि के रूप में स्वीकार कर सब आयामों का एक आयाम—मात्रा-परिमाण—में समाहार करना है। परिणामतः यह एक मूल्य-संस्थान से दूसरे मूल्य-संस्थान में संक्रमण नहीं होकर मूल्य-बोध से मूल्य-बोध में संक्रमण है। इसका परिणाम त्रास नहीं होगा तो और क्या होगा?

तुम कहोगे, "ईश्वर जब है नहीं तो मैं कैसे विश्वास करूँ? यही बड़ा भ्रम है। ईश्वर यदि मूल्य है तो वह 'हो' कैसे सकता है? वह तो 'हो जाने' में चरितार्थ होता है, वह वेधोचित लक्ष्य नहीं है, लक्ष्योन्मुखता है। 'ईश्वर' नाम पुराना है तो छोड़ो उसे, यदि तुम्हारे लिए उसके साथ कुछ अग्राह्य अर्थ जुड़े हुए हैं तो उसको लक्षित करने की आवश्यकता नहीं है, मुख्य बात लक्ष्योन्मुखता की है, परात्म-भाव और त्रास छोड़कर आत्मस्थ होने की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

नये सिरे से आहत होने की प्रतीक्षा

परमानन्द श्रीवास्तव

सच्चाई सिर्फ़ सच्चाई है—न कम, न ज्यादा—वही आदमी को साबित करती है और उसके अस्तित्व को बुनियादी अर्थ देती है—हालाँकि चीज़ें आज एक ऐसे परिदृश्य से गुज़र रही हैं कि ऐसे किसी बुनियादी अर्थ में भी एक बार शंका होने लगी है। यह स्थिति स्वाधीनता की अतिरिक्त माँग करने वाले लेखक को पहली ही बार निराश करती है और स्वाभाविक माँग करने वाले लेखक को सिर्फ़ आशा से विमुख करती है और प्रयत्न या प्रतीक्षा की दिशा में मोड़ देती है। दोनों स्थितियों के बीच एक स्पष्ट अन्तर है और सातवें दशक के युवा लेखकों के साहित्य को पढ़ते हुए इस अन्तर पर ध्यान जाना ज़रूरी है। 'अपनी शताब्दी के नाम' और 'सपाट चेहरे वाला आदमी'—इन दो कृतियों के लेखक दूधनाथ सिंह इसी युवा पीढ़ी के एक महत्त्वपूर्ण लेखक हैं और उनका साहित्य एक बार इस अंतर की ओर उँगली ज़रूर उठाता है—कभी कविताओं या कहानियों में और कभी व्याख्याओं में—सबसे महत्त्वपूर्ण ढंग से शायद कहानियों में ही। इन कहानियों में किसी घटना पर नज़र जाने से पहले यह अन्तर ही दूधनाथ सिंह की 'निजी रोशनी के दायरे में' भभक उठता है। वही 'अकेलापन', जिसकी बातें दूधनाथ के पहले की पीढ़ी के लेखकों ने भी की हैं, इस रोशनी में ख़ास तौर पर 'भयानक' जान पड़ता है। जहाँ पहले का लेखक एक ख़ास तरह की कलाकार की मुद्रा में अकेलेपन को आविष्कृत करता है या रचता है या चुन लेता है, आज का युवा लेखक अभिशप्त है अकेला होने के लिए और इसके बावजूद अदृश्य अकेलेपन और दृश्य स्थानान्तरण (जिसमें जीवन की सम्पूर्णता के भीतर चलने वाली गहरी यथार्थता का व्यंग भी शामिल है) के सम्बन्ध को सर्जनात्मक यात्रा के अन्त तक खोजने के लिए दूधनाथ सिंह का लेखन सबसे पहले इसी सम्बन्ध की खोज है।

यह नियति अकेले टामस मान की नहीं थी कि वह दो दुनियाओं के बीच कहीं भी चैन न पा सका। आज के लेखक का परिवेश भी ऐसा कोई असम्पृक्त या निरापद आईना नहीं है कि उसमें अपनी अकेली आकृति देखी जा सके। कहीं वह ख़ौफ़नाक स्थिति-जैसी एक चुनौती भी है। आज जब "पूर्व पीढ़ी की सारी नैतिक स्थापनाएँ मात्र एक 'नैतिक अनुमान' का आभास देती हैं" (अनुभव का अकेलापन : अपनी शताब्दी के नाम) मानवीयता का कोई भी नियम सच नहीं रह गया है—सच है तो आज का सम्पूर्ण अमानवीय ढाँचा—जिसे अस्वीकार करने के लिए हम बाध्य हैं और स्वीकार करने के लिए अभिशप्त—जिसमें पत्नी के प्यार से "सिर्फ़ चिढ़ होती है" (रीछ)—जहाँ "मौसम, महँगाई या ट्राम-बस की भीड़ या मिस्टर सेठ के प्रेम-सम्बन्ध या कपड़ों की कीमतों के बारे में लोग राय माँगने लगते हैं" (दुःस्वप्न)—जहाँ "मात्र अकेलापन ही अपना रह जाता है" (आइसबर्ग)—जहाँ "अन्तरात्मा के लिए सबूत, मरने के लिए सबूत, जीने के लिए सबूत, सबूत के लिए सबूत" की ज़रूरत महसूस होने लगती है (कोरस)—और जहाँ "दुनिया आज भी जितनी घटिया संयोगों पर निर्भर करती है उतनी ज्ञान-विज्ञान पर नहीं" (कोरस)। सुविधाजनक परिवेश जो किसी वस्तु या मूल्य का प्रत्याख्यान नहीं करता, छलता नहीं या बदलता नहीं, आज का परिवेश नहीं है। अपनी तमाम असंगतियों और टुच्चेपन को चरितार्थ करता हुआ जो सब कहीं जीवित है—वही आज का परिवेश है। सुरक्षा के स्थान पर सुरक्षा का सम्पूर्ण अस्वीकार ही यहाँ संभव है।

१. अपनी शताब्दी के नाम : लेखक-दूधनाथ सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ० सं० २०२, मूल्य चार रुपये।

२ सपाट चेहरे वाला आदमी : दूधनाथ सिंह, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-६, पृ० सं० १५०, मूल्य चार रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज के परिवेश की तीव्रतम सच्चाइयों का साक्षात्कार दूधनाथसिंह को सबसे पहले एक कठघरे में ही खड़ा कर देता है जहाँ वे "बदला लेने की ताक में" बैठे हुए उस "रक्त-पिपासु" के ठीक सामने होते हैं जिसका दूसरा नाम भय है। 'रीछ' कहानी में वह "दरवाज़े की चौखट पर" दोनों पाँव फैलाए, अधलेटा पड़ा है और उसके "बड़े-बड़े काले नाखून बघनख की तरह" चमक रहे हैं। 'प्रतिशोध' और 'कोरस' जैसी कहानियों में वह कई आकृतियों में विभक्त हो गया है—यों उनमें भी एक प्रकार की भयंकर आकृतिहीन एकरूपता है। इस भय को ख़त्म करने की कोशिश में कहीं इसे जीवित रखने की कोशिश भी मिली हुई है। दूधनाथ इस विडम्बना की स्थिति से भी अपरिचित नहीं हैं जब भयानक दुर्घटनाओं के प्रति भी स्वार्थ का भाव आदमी में बना रहता है। उसके इर्द-गिर्द 'ताँत की जालियाँ' बिछा दी जाती हैं, जिनमें से निकलना संभव नहीं होता। कोमल भय ("तब वह बहुत छोटा-सा था। कोमल और बिल्कुल भोला।"—'रीछ') धीरे-धीरे विरूप और व्यापक होता जाता है। यहाँ तक कि "पत्नी के सहवास" में भी "सिर्फ़ उसे पुनरुज्जीवित करने" की इच्छा शेष रह जाती है। वह यंत्रवत् कामचलाऊ दुनिया के विपर्ययों में लगा रहता है और उनका अतिक्रमण करने के लिए "नये सिरे से आहत होने की प्रतीक्षा" करता है। उसे हर क्षण चौकन्ना रहना पड़ता है। "धूप में तपते चौराहों पर, दफ़्तर के लम्बे अँधेरे ठण्डे गलियारों में, मसाले की दुकानों पर, सिनेमा हालों में, नदियों के किनारे, पिकनिक में या चायखानों, शराबखानों या विवाह-शादी के अवसरों पर मेलों, बाज़ारों या सुनसान सड़कों या ठण्डी दीवारों के आसपास"—वह "रक्त पिपासु" कहीं भी मौजूद हो सकता है। वह एक नहीं है—वस्तुतः 'वे' कई हैं—"वे कोई भी हो सकते हैं: कोई ज़रूरी नहीं कि वे किसी झण्डे के नीचे ही दिखाई दें।" (दुःस्वप्न)।—"वे चारों ओर फैले हुए हैं। वे दिखाई न भी दें, वे सारी खबरें रखते हैं। वे कभी गोलियाँ नहीं चलाते। वे कभी असभ्यता से बातें तक नहीं करते। वे ज़ोर से नहीं बोलते। चुप रहते हैं, मुस्कराते हैं। लेकिन उनकी नज़रें बड़ी तेज़ हैं। उनके वार बहुत पक्के हैं। हत्याएँ हो जाती हैं। पता नहीं कहाँ, कितने बड़े गटर-पाइप हैं। तहखाने हैं, अँधेरी सुरंगें हैं, जहाँ मरे हुए लोग चुपचाप दफ़ना दिए जाते हैं। लेकिन वही लोग—उन्हीं के कंकाल—फिर सड़कों पर चलते हुए दिखाई देते हैं।" (प्रतिशोध)। एक भय से दूसरे भय तक की ये कहानियाँ आज के "मानवीय सम्बन्धों की अमानवीयता" की ही कहानियाँ हैं। दूधनाथसिंह आज की इस क्रूरतम स्थिति से परिचित हैं जिसमें "अमानवीयता" को काटने की कोई भी कोशिश "भोंथरी" साबित होती है। और कटने की जगह "दो चार और तार" बिछ जाते हैं। इसलिए वे केवल उसे स्वीकार करते हैं—ज़ाहिर है कि वे बहुत से युवतर लेखकों की तरह उसमें केवल मज़ा नहीं लेते। जब सामान्य-से-सामान्य प्रासंगिकता 'नाटक' लगे तो कहीं से भी छुटकारा संभव नहीं। जिसे देवीशंकर अवस्थी ने "बिलगाव की यातना" की संज्ञा दी थी, दूधनाथ की कहानियों में यहीं से शुरू होती है—"उसे लगा कि सभी अपने आने का अहसान जता रहे हैं और असुविधा महसूस कर रहे हैं।" जिन्हें 'असुविधा' हो रही है वे समाज जैसे किसी अमूर्त व्यापक परिवेश के अंग नहीं हैं, परिवार जैसी एक नितान्त छोटी और मूर्त इकाई के सदस्य हैं। 'रक्तपात'—यह कहानी इस असुविधाजनक अनुभव की अंतिम अमानवीय परिणति है। "जैसे धीरे-धीरे कहीं सारे सम्बन्ध-सूत्र टूटते गए और वह निर्विकार-सा, भूला हुआ-सा चुपचाप पड़ा रहा। किस बात का इन्तज़ार था उसे? शायद किसी बात का नहीं। कभी उसे लगता कि सभी ने उसे छोड़ दिया है। अब धीरे-धीरे यह लगता था कि उसी ने अपने को छोड़ दिया है···।···उसे लगा कि अपने ही घर में वह एक अतिथि है और अपने परिचित कोनों, घरों की दीवारों, ताकों, सीढ़ियों को छू नहीं सकता।"···"सब-कुछ ज्यों-का-त्यों है, लेकिन मानवीय इच्छाओं का उसका अपना संसार कहीं अँधेरे में छिप गया है।" इस संसार के लिए क्रूरतम चुनौती है कहानी की 'बुढ़िया'—जिसकी सभी संवेदनाएँ मर गई हैं और जो प्रेम की चरम स्थिति के सामने अपनी अप्रत्याशित उपस्थिति, दूसरे शब्दों में मानव-अस्तित्व की व्यंग-गर्भित निरर्थकता या निरर्थकता का व्यंग रख जाती है। कुछ भी आश्चर्य नहीं यदि 'सपाट चेहरे वाला आदमी' अनुभव करता है—"मैं सदियों की धूप में लटकता एक पत्थर हूँ चिकना-चिकना, जिस पर कोई चढ़ नहीं सकता, जिस पर डोर बाँधकर कोई सहारे के लिए पैर तक नहीं रख सकता।" ये कहानियाँ संकेत हैं कि जब दिमाग़ में कई कदम लड़खड़ाते हुए चल रहे हों एक ही शब्द पकड़ में आता है—'नरक'। दूधनाथ की कहानियाँ उसका सामना करती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजब संयोग है कि दूधनाथसिंह के दोनों संग्रह एक साथ प्रकाशित हुए हैं जबकि दोनों की रचनाओं के समय और दृष्टि तथा भाषा में एक खटकने वाला अन्तराल है। दोनों संग्रहों की रचनाएँ जिन विषम भूमियों पर घूमती हैं उन्हें देखते हुए एक बार लेखक की ईमानदारी के बारे में ही सन्देह हो सकता है—जबकि है यह सिर्फ़ संयोग। 'अपनी शताब्दी के नाम' संग्रह की कविताएँ पाँच वर्ष पहले की हैं—उस समय की हैं जब दूधनाथ अपनी भाषा या अपने उपयुक्त माध्यम की खोज में लगे हुए थे। दूसरे शब्दों में वे मानवीयता के उस पहलू को पहचानने की कोशिश कर रहे थे जिसे बड़ी आसानी से 'नास्टेल्जिया' कहा जा सकता है। साफ़ है कि शुरू-शुरू की इन कविताओं की (और विचारों की भी) भाषा में एक स्पष्ट कृत्रिमता या 'किताबीपन' है। बहुत-कुछ शुद्ध कविता वाले खतरे इन कविताओं में भी हैं। ये कविताएँ कविताओं तक ही ले जाती हैं और समकालीन दुनिया की जटिलताओं से अक्सर परे हो जाती हैं। आज के पाठकों को बताने की ज़रूरत नहीं है कि शुद्ध कविता का यह भ्रम कई प्रकार के भ्रमों को बढ़ावा देता है। पिछली नयी कविता की आत्मलीनता, सौन्दर्याभिरुचि, स्थिरतावादी या बिम्बवादी दृष्टि के पीछे वे सारे भ्रम आज भी देखे जा सकते हैं। दूधनाथ के पिछले तमाम लेखन में स्थितियों का एक स्पष्ट विरोधाभास है—हालाँकि वे अच्छी तरह जानते हैं कि "स्थितियों का यह विरोधाभास एक सीमा पर पहुँचकर कवि को अपना निजी निर्णय लेने को बाध्य कर देता है" (अनुभव का अकेलापन)। दूधनाथ उस नयी पीढ़ी के लेखक हैं जो "अँधेरे पर कविता लिखती है, सूर्य में विश्वास नहीं रखती। सहज और चुप भाव से किसी प्रेमिका की चर्चा करती है या अपने गौरव की बात करती है। साधारणपन की या अपने चारों ओर की वेहयायी, ग़लाज़त और अचिन्त्य दुख-बोध को सीधे स्मरण करती है।" उनके अनुसार कहीं इस पीढ़ी के लेखक की "भाषा छूट गयी है, कहीं शब्द उसे छोड़ जाते हैं, कहीं वह खुद असन्तोष के मारे भाषा के चिथड़े-चिथड़े करके फेंक देता है। उसके सामने प्रश्न हैं—वह उत्तर को निरर्थक पाता है"—(चुनौती या आत्मसमर्पण)। यह वह पीढ़ी है जिसमें "आज़ादी की कोई आन्तरिक संगति नहीं है" और जो यह अनुभव करने के लिए अभिशप्त है कि "आज़ादी के नाम पर भारतीय अनुभव-प्रक्रिया का जो विभाजन किया गया वह पूर्णतः नकली था।" इस पीढ़ी की सच्चाई "जनता न[ही] सुनती।" राज्य इसे "व्यर्थ" समझता है। भाषा इसके लि[ए] "अयोग्य" ठहरती है।

खोज और छटपटाहट तक ही जब दूधनाथसिंह इ[स] पीढ़ी को सीमित करने लगते हैं और उसकी 'सहज स्वीकृति' 'आत्माभिभूत पवित्रता' और 'क्रूसीफ़िकेशन' की बातें कर[ने] लगते हैं तो कहीं उनका स्वर पिछली पीढ़ी के धर्मवी[र] भारती जैसे किसी भी लेखक का स्वर हो जाता है। अब स्व[यं] भारती उन बातों को दोहराना नहीं चाहेंगे तो दूधनाथ सि[ंह] को तो कलाकार की दुनिया के इन अपने शब्दों पर भरो[सा] करना छोड़ ही देना चाहिए जो अन्ततः कलाकार को ए[क] कृत्रिम यातना की दुनिया मे सीमित कर देते हैं। कलाका[र] होने की ख़ास ज़िद से ही वे असंगतियाँ पैदा होती हैं जो ए[क] ओर रचना की सामान्य व्याकुलता की ओर ध्यान ले जा[ती] हैं, दूसरी ओर रचना के उस अनुशासन की चिन्ता करती[ं] जो रचना के अनुशासन से ही सन्तुष्ट हो सकता है। दूधना[थ] को सबसे पहले यह जानने की ज़रूरत है कि जिस 'संक्रम[ण]शीलता' का वे पक्ष ले रहे हैं वह अनुशासन की ज़्यादा परवा[ह] नहीं करती। आखिर वे स्वीकार भी करते हैं कि "सच्चा[ई] का, औचित्य का और मौलिक सृजनशीलता का निर्णय रच[ना] की संक्रमणशीलता" (समय कोई निर्णय नहीं देता) ही हो[ता] है। अपने चिन्तन की इन्हीं असंगतियों के कारण दूधना[थ] "व्यक्तित्व की सच्ची मौलिकता की खोज" के नाम पर कभी कभी उन सूत्रों की तलाश करने लगते हैं जो एकदम मौलि[क] नहीं हैं। सांस्कृतिक शून्य में से सब-कुछ तोड़कर आगे बढ़[ने] की बातें पहले के लेखकों ने भी की हैं। सभी जानते हैं कि अन्ततः इस रास्ते से उन्हें पीछे ही लौट जाना पड़ा। आ[ज] नये लेखक के सामने महत्त्वपूर्ण सवाल आज की यानी 'सम[]कालीन सच्चाई' का है, 'समकालीन शून्य' का और उस[के] प्रतिरोध में लगी हुई 'समकालीन राजनीति' का है—जिससे बचने का एक खास दर्शन आज भी कुछ लोग 'मौलिकता' [के] ही नाम पर चलाना चाहते हैं। मौलिकता के इसी धोखे [में] दूधनाथ समकालीन भाषा का पक्ष न लेकर सर्वकालीन भाष[ा] का पक्ष लेने लगते हैं और सरहपा की गवाही की ज़रूर[त] महसूस करने लगते हैं—"मैं उस सूनेपन का बोझ हूँ जो को[ई] नहीं ढोता—नहीं ढो सकता मेरे सिवाय"। रचना तब ए[क] उदासी का 'दूसरी उदासी' में तीव्र संक्रमण होकर रह जा[ती]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और रचना की भाषा स्थिर और ठंडी। "समग्र के अग्रिम निदान की एक मुमुक्षु मनोवृत्ति"—रचना को जब ऐसी स्थिर परिभाषाएँ दी जाने लगती हैं तो उसके "जैनेन्द्र का दर्शन" बनने में देर नहीं लगती—"मैं, जो इसके भीतर, बाहर—इसके सम्पूर्ण पर छाया हूँ। मैं, जो इसकी डूब में एक द्रष्टा हूँ।" (आधुनिकता : एक सतत क्रियाशील प्रश्न)। क्या दूधनाथ को भी यह बताने की ज़रूरत होगी कि 'समय-हीन होना' 'सर्वकालीन होना' नहीं है—एक के पीछे सुरक्षा का सम्पूर्ण अस्वीकार है, दूसरे के साथ एक अपने-आपमें पूर्ण, सुविधाजनक स्वीकार।

मुझे सन्देह है कि दूधनाथसिंह 'हरियाली के अगम विस्तार', 'प्राणों की सिकता', 'अभिसारी पक्षि-शावक-मन' जैसे शब्दों के माध्यम से कोई भी अर्थ व्यक्त कर सकेंगे—यों इन शब्दों से छुटकारा पाने की कोशिश उन्हीं की दूसरी कविताओं में है—उन शब्दों की खास पहचान के साथ, जिनके आपसी सारे-के-सारे सम्बन्ध टूट गए हैं। यहाँ भी चित्रात्मक योजनाएँ हैं पर उनका स्वभाव भिन्न और ग़ैर-रूमानी है। यहाँ 'स्तब्धता' नहीं है—'आग' है।

आत्मसमर्पण धर्म नहीं, एकदम ज़िबह है।
साँझ की नसों में काला खून रेंगता है
और हम बैठे हुए सोचते रह जाते हैं—कि हम
किसे सम्बोधित करें!

(यह आग है)

'लाल रोशनी की पिटारी में बन्द' उन खतरों की भी पहचान यहाँ है जो प्रकारान्तर से 'अनहोनी भाषा' के ही खतरे हैं।

सृजन : जैसे मासूम चेहरे पर
चमड़े के गोल-गोल लट्टू उग आएँ।
मरे हुए इकलौते शिशु की अनन्त खिलखिलाहटों की झाँझ···
पिघलते हुए लोहे की बारिश का स्वर, या
अन्तरिक्ष पार
एक अजनबी धूप के बहने का शोर।

(कहीं कुछ खो गया है)

एक बार फिर वही भय, वही दुर्दान्त रक्त-पिपासु, वही 'लोहे की चादर से मढ़ा' संसार ऐसी कविताओं में लौट आता है।

अपनी दुविधाओं से कहो···ओ दुनिया!
कि वे घबराएँ नहीं···
छोड़ दें मुझे उम्र की अनजान गलियों में
अचीन्हे वर्षों का मुँह ताकते-ताकते
मौत का आसमान नापने को।
उनसे कहो
कि जब उनके मरुस्थलों का
नीलाम बोला जाएगा
तो मेरी सूखी अस्थियाँ
नगाड़े नहीं पीटेंगी।

(अपनी शताब्दी के नाम)

एक फ़ैन्टेसी से दूसरी फ़ैन्टेसी तक जाने वाली दूधनाथ-सिंह की इन कविताओं में मृत्यु ही एक अकेली दुर्घटना नहीं है—उससे भी पहले उन 'अनुभवों' की शर्म है जो 'सारी दुनिया को नंगा कर देते हैं' (छब्बीसवीं वर्षगाँठ पर)। दूधनाथ के ही अनुसार इन अनुभवों की कविता :

···वो कविता नहीं है
यह केवल खून-सनी चमड़ी उतार लेने
की तरह है।

आश्चर्य नहीं कि युयुत्सावादी कवियों को दूधनाथ अपने कवि लगें पर उनमें और दूधनाथ में एक स्पष्ट अन्तर है। दूधनाथ सिर्फ़ भाषा के स्तर पर 'नये सिरे से आहत होने की प्रतीक्षा' नहीं करते—पहले संवेदना के ही स्तर पर प्रतीक्षा का यह एक चक्र पूरा कर लेना चाहते हैं—बल्कि भाषा के स्तर पर तो यह प्रतीक्षा अभी उन्हें करनी ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपसी वापसी

प्रयाग शुक्ल

ज़िन्दगी में कुछेक बार, शायद कई बार ऐसे दौर आते हैं जब कोई एक बात या एक चीज़ 'प्रमुख' हो उठती है—इस हद तक प्रमुख हो उठती है कि उसके अलावा या तो कोई चीज़ दिखाई नहीं पड़ती, या दिखाई पड़ती है तो उसी की आँख से या फिर वह देखने वाली आँख को ही बदल देती है। संसार बदला हुआ नज़र आता है, संसार बहुत पहचाना हुआ मालूम पड़ता है, संसार के साथ कोई संगति नहीं बैठती, या फिर संगति-विसंगति का भेद ही मिट जाता है : "घर पहुँचते-पहुँचते एक अजीब-सी व्यर्थता ने घेर लिया था। लग रहा था न अन्दर कुछ है, न बाहर कुछ ! मैं एक अनन्त शून्य में हाथ-पैर मार रहा हूँ। अवसाद छोटा शब्द है। इससे बहुत आगे जहाँ अवसाद भी नहीं है। पता नहीं क्या है।" (पृष्ठ ५२) और ये दौर फिर वापस लौटकर भी आ सकते हैं। पता नहीं, कई वापसियों के बाद वे कैसे लगते हैं—ऊपर से भी और भीतर से भी। शायद समय के साथ बहुत-कुछ धुल-पुँछ जाता हो। लेकिन कहाँ! कम-से-कम 'दूसरी बार' में जो वापसी है, उसे तो शायद वापसी कहना भी ठीक नहीं। यह सचमुच वापसी नहीं है, सिर्फ़ वापसी शब्द की ध्वनि से अन्दर सोया हुआ संसार जाग उठा है—हड़बड़ा उठा है। लेकिन एक बात पहले ही मानकर चलें कि यह संसार पहली बार से ही और दूसरी बार भी चीज़ों और आकृतियों में बँधा-बँटा संसार नहीं है। इसकी रचना ही उनके 'टूटने' या अमूर्त होने में होती है। आकृतियाँ नहीं हैं, सब समय नहीं हैं, लेकिन उनकी उपस्थिति बराबर है। यह शायद उस उम्र और उस दौर का संसार है जब चीज़ें हाथ से फिसलने लगती हैं, चीज़ों पर तथाकथित 'पकड़' ढीली होने लगती है, वे अपनी आकृतियों से अलग एक और ही रूप ले लेती है : "बिंदो के साथ इन सड़कों पर और इस तरह मैं इतनी बार गुज़रा था कि कुछ अर्से बाद तो सड़कें ही मर गई थीं।" (पृ० १५) "ज़रा-सी दूर पर बस-स्टाप था जहाँ लम्बी 'क्यू' लगी हुई थी। सड़क पर साइकिलों का ताँता था। इस जगह दफ़्तराना अन्दाज़ सुबह होती है और घरेलू तर्ज़ पर शाम !

शाम को जितनी मुर्दनी होती है, सवेरे उतनी गरीबी !" (पृ० २६) "खाना खाकर उठते हुए मैंने एक ब दीवारों पर उड़ती हुई नज़र डाली। उन पर सम्पन्नता नहीं, मध्यवर्ग के अधूरेपन की छाप थी।" (पृ० १०७)

गोया कि मरती कोई चीज़ नहीं है, सिर्फ़ वह अपने आकार में नहीं उभरती। लेकिन आकार में न उभर आकृति में उनका न उभरना इस बात के सूचक हैं कि उनके बाहरी रूप का मतलब नहीं रहा, वे बहुत गहरे उ गई हैं। शायद ज़्यादा निजी हो गई हैं। ज़ाहिर है कि प्रक्रिया आसान नहीं होती, न ही सामान्य ! देर तक कि स्थिति का दबाव महसूस करते रहने के बाद, कितनी दूरियाँ तय करने के बाद, लम्बे समय तक बदहवास रहने बाद आदमी पाता है कि बहुत सारी चीज़ें थीं जो रास्ते मिली थीं, उनके चेहरे और नाम भूल गए हैं, लेकिन उन मौजूदगी है और एक और ही तरह से है : "गुमसुम खंडह और परित्यक्त झाड़ियों में से गरम हवा छनकर आती है सारा संसार बिल्कुल सूना प्रतीत होता है। ऐसे में अ जीवित होने का अनुभव अधिक व्यक्तिगत होता है।" (पृ० २१)

'दूसरी बार' में एक स्त्री की वापसी है—बिंदो क बीच में कुछ वर्षों का अन्तराल रहा, अब बिंदो फिर लौट आई है। उपन्यास के 'मैं' के लिए बिंदों का लौटना, उ अपने-आपका भी लौटना है। इस तरह से देखें तो उपन्या में दो वापसियाँ हैं, और इन्हीं दो वापसियों की टकराह इस टकराहट को प्रेम-घृणा का संसार भी कह सकते हैं मोटे तौर से। बहरहाल, बिंदो लौट आई है, और फिर चीज़ 'हड़बड़ाने' लगी है। शुरू में बिंदो की वापसी थो अजनबी लगती है : "मैं उसके संग किस तरह चलूं। सम्बन्ध स्पष्ट न हों तो यह निर्णय करना कठिन होता है किस तरह चला जाए, कुछ आगे या साथ या कुछ हटकर (पृ० १५) बिंदो सिर्फ़ स्त्री नहीं है, उपन्यास के मैं के लि एक 'संसार' है। वह एक जगह अपने एक मित्र के बारे कहता है : "उसके लिए स्त्री समूचा संसार नहीं—दुनिया विशाल पार्श्वभूमि में हज़ारों आकृतियों में से महज़ आकृति है। उसका ढाँचा मुझसे बिल्कुल अलग है—यह

दूसरी बार : श्रीकांत वर्मा, अक्षर प्रकाशन दिल्ली, पृ० १३२, मूल्य ४ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानता हूँ और इसके लिए मैं न उसे दोषी ठहरा सकता हूँ न अपने-आपको ।"

इस दौर में जो कुछ घटित हो रहा है इसी संसार में घटित हो रहा है, इसी संसार के माध्यम से घटित हो रहा है, इसी संसार के बहाने घटित हो रहा है। अनिर्णय, आशंका, प्रेम, घृणा, शारीरिक और मानसिक संघर्ष और द्वन्द्व, तनाव, सब इसी संसार में उपजे हैं, सब इसी संसार में रहते हैं—मौका पाकर अपना सिर उठा लेते हैं। नहीं, सिर भी नहीं। उनकी कोई शक्ल नहीं है और अवसाद शब्द की तरह ही वे भी पूरे नहीं पड़ते : "मेरे कण्ठ से अधिक मेरी शिराओं में क्रोध था जिसे व्यक्त करना कठिन था।" यहाँ महसूस किया और झेला तो जा सकता है, लेकिन व्यक्त करना सचमुच कठिन है। इन 'कठिन दिनों की कहानी' और इस कठिन संसार में उपन्यास का 'मैं' जो कुछ महसूस करता है और झेलता है उसे श्रीकान्त वर्मा काफ़ी हद तक पाठकों तक पहुँचा देते हैं। कुछ दिनों, कुछ शामों में वह कितने ही दिनों और कितनी ही शामों को समेट लेते हैं। 'दूसरी बार' में ढंग कहानी 'कहने' जैसा है, किसी घटना के बारे में बताने जैसा, लेकिन कहानी कहते-कहते, बताते-बताते उपन्यास का 'मैं' बीच-बीच में चुप हो जाता है, या 'कहानी' से हटाकर आपको सीधे अपने साथ घटित हो रही स्थिति के भीतर ले जाता है, जहाँ आप सिर्फ़ उसकी कहानी न सुनकर उसे देखते भी हैं। इससे आप पहले घटित हो गई बात का भी अनुभव करते हैं, और अब शायद उसी के एक-दूसरे रूप की तात्कालिकता का। उपन्यास की भाषा में अक्सर 'बातचीत' की-सी सहजता है, फिर वह बातचीत 'मैं' चाहे अपने-आपसे कर रहा हो या आपसे। लेकिन कई जगह यह बातचीत बेहद असहज हो उठती है और अखरती है : "पूजा नहीं, पवित्र बनाने की कोशिश की, अपनी प्रिय मगर दुर्भाग्यवश अपवित्र चीज़ों को"····"मैं बिंदो की सड़क से उतरकर एक अलग गली में आ गया हूँ। अब फिर उसी सड़क को पकड़ना कुछ दूर जाकर फिर अनिश्चित हो जाना है।"····"कई साल बाद अपनी इच्छा से बिंदो आकर मेरे कठघरे में खड़ी हो गई है।···वह अपने साथ स्वयं अपना कठघरा लिये हुए आई है।"····"तरह-तरह की आवाज़ों का आर्केस्ट्रा था, जो बज रहा था।"···'यह भाषा इसलिए अखरती है कि यह बिंदो और 'मैं' के संसार की उतनी नहीं है, जितनी कि लेखक की अपनी—और उन्हें बिना माँगे दे दी गई है।

नहीं, इस संसार की कहानी नहीं। क्योंकि उसकी संक्षिप्तता इस संसार को उभारेगी नहीं। लेकिन फिलहाल मेरे लिए वह ज़रूरी हो गई है। बिंदो वापस आती है, कुछ साल बाद शायद 'मैं' के इस बीच बन गए अपने संसार में 'अपने प्रेम से खलल डालने'। वह खलल डालना चाहती है या नहीं, यह अलग बात है। लेकिन खलल पड़ जाता है। उससे प्रेम-घृणा करता हुआ 'मैं' उसे परास्त करने में, उसे नष्ट करने में, अधिक अनिश्चित होता जाता है—उसकी समझ में यह संसार आता भी है और नहीं भी आता। उसे लगता है बिंदो घमंडी स्त्री है, अभिनय करने में माहिर और उसे ओछा और छोटा सिद्ध करने के लिए तत्पर। बदला ही एकमात्र 'उपाय' है। वह बिंदो से मिलता है तो व्यंग्य करने से, उसे प्रताड़ित करने से नहीं चूकता। कुछ मुलाकातों तक सब-कुछ 'अनिश्चित' रहता है। लेकिन एक रात शराब पीने के बाद वह बिंदो से अपने पुराने शारीरिक सम्बन्ध दुहरा लेता है। संबंध दुहराने की बात से कोई अचम्भा नहीं होता—लेकिन इस 'दुहराव' को कई पृष्ठ दिये गए हैं। दूसरी बार की शुरुआत में इसका कोई आभास नहीं मिलता, मध्य तक नहीं, अन्त तक पहुँचते-पहुँचते यह प्रसंग आता है और उसका विस्तार से वर्णन है। उपन्यास के संसार में यह प्रसंग, कम-से-कम जिस रूप में वह है उसमें 'अजनबी' लगता है। मैं यहाँ यह स्वीकार कर लूं कि जो भी कहानी है उसे मैं ठीक से नहीं रख पाया, और विस्तार-भय से मैं अधिक उद्धरण भी नहीं दे सकता—और अलग से शायद वे अपनी और मेरी बात कह भी न पाएं। लेकिन मुझे लगा कि अन्त तक आते-आते चीज़ें शक्लें ग्रहण करने लगी हैं, वे अधिक बल्कि अतिरिक्त रूप से मूर्त हो उठी हैं और शुरू में मैंने इस सन्दर्भ में जिन बातों की चर्चा की है, वे उनके विपरीत जा पड़ती हैं। इसीलिए वे समूचे उपन्यास की अवधारणा को सहसा ही 'झटका' देती हैं—पाठक को भी। यों हिन्दी-उपन्यास के सन्दर्भ में इसे देखें तो यह उपन्यास घटनाओं को, अनुभवों को काव्य-बिम्ब की-सी 'शक्लें' देता है, और गद्य को कविता के-से आवेग और तीखी संवेदना से भरता हुआ, अनावश्यक विस्तार-वर्णन और उपकरणों को उन्हीं की आकृतियों में प्रस्तुत करने के आग्रह से बचता है। या यों कहें कि ऐसे आग्रह को अपने शिल्प से झुठलाता है और इस लिहाज़ से ताज़गी का एहसास कराता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—पूरी तरह नहीं तो बहुत हद तक।

दो व्यक्तियों की आपसी-वापसी की इस कथा में समकालीन जीवन के वे (अ)दृश्य-चित्र भी हैं जहाँ व्यक्ति तमाम विसंगतियों के अम्बार के बीच अपने को रखा जाता महसूस करता है और किन्हीं अलभ्य दूरियों को तय करता हुआ पाता है कि···"लेकिन सारी दृढता, सारा संकल्प क्षण-प्रवाह मात्र होता है। कोई मामूली दृश्य, कोई साधारण घटना विचलित कर जाती है और फिर सब-कुछ भंग हो जाता है। कई बार इसकी भी ज़रूरत नहीं पड़ती—अपने-आप ही सब-कुछ बिखर जाता है।"···

टूटता तिलिस्म

श्रवण कुमार

प्रकाशकीय के अनुसार "गिरिराज किशोर 'अपर मिडिल-क्लास' की कुंठाओं, असमर्थताओं और कृत्रिमता को जिस गहराई के साथ चित्रित करते हैं वह बहुत कम रचनाकारों में देखने को मिलती है।" किन्हीं मानों में यह प्रकाशकीय दावा ठीक भी है, लेकिन यदि 'अपर-मिडिल-क्लास' न कहकर 'हमारे तथाकथित कर्णधारों (यानी पालिटीशियंस)' का चित्रण कहें तो ज़्यादा ठीक होगा। इधर इसी अंदाज़ में उनकी एक और रचना (इस संग्रह में नहीं) 'वी० आई० पी०' भी पढ़ने को मिली थी। इसलिए 'पेपरवेट', 'नया चश्मा' तथा 'तिलिस्म' को पढ़कर लगा कि लेखक ने कहीं गहरे में इन 'कर्णधारों' को झेला है। लेकिन टूटते तिलिस्म की ये अच्छी कहानियाँ हैं।

इस संग्रह में अपर-मिडिल-क्लास की भी एक कहानी है 'पगडंडियाँ'। बाप-बेटा दोनों ही इश्क फ़रमा रहे हैं। बेटा बाप के लिए भी टेलीफोन पर अपनी प्रेयसी की माँ से जमा देता है (क्योंकि उसके पति कहीं बाहर गये हुए हैं, और इधर इनकी पत्नी कहीं बाहर है।—कैसा संयोग है!) और बाप से अंगरेज़ी में खूब 'स्मार्टली' नोंक-झोंक करता है। लेखक यहाँ (तथा अन्य कहानियों में भी) भूल जाता कि वह अंगरेज़ी के पाठकों के लिए कहानी नहीं कह रहा (गढ़ रहा), हिन्दी के पाठकों के लिए कह (गढ़) रहा और जब उसे इस बात की याद आती है तब वह कहीं अंगरे के शब्द के साथ कोष्ठकों में हिन्दी का पर्यायवाची और क कहीं हिन्दी के शब्द के साथ कोष्ठकों में अंगरेज़ी पर्यायवा दे देता है (पृष्ठ ४६, ११० इत्यादि)। इसी प्रकार ब जोश-खरोश में आकर बड़ी प्रेयसी (मिसेज़ जोशी) बड़े प्रे मि० सेन) से कहती है—"माई हस्बैंड इज़ आफ़ुली लेज़ी ला सरपेंट···।" अब इस वाक्य को किस तरह ठीक सिद्ध कि जाए? 'लेज़ी लाइक ए सरपेंट' होगा, 'लेज़ी लाइक सरपें नहीं। फिर 'सरपेंट' यानी साँप तो 'लेज़ी' यानी सुस्त न माना जाता। 'पाइथन' (अज़दहा) सुस्त ज़रूर माना जा है। और फिर जब उपमा ही देनी है तो 'ऑफुली' की क ज़रूरत है।

इसी संग्रह में एक और कहानी है 'निमंत्रण', जि अपने परिवेश को बखूबी निभाया है। मानिकटालाज़ चेयरमैन मानिकटाला केन्द्रीय उद्योग मन्त्री को अपनी फैक्ट में बुलाकर अपना उल्लू सीधा करने के लिए क्या-क्या पै चलता है, इसका इस कहानी में काफी साफ़ खाका साम आता है।

लेकिन इस संग्रह की सशक्त कहानी है 'अलग-अलग के दो आदमी'। यद्यपि इन दो आदमियों का अता-पता कु ठीक से नहीं चलता, लेकिन आज के जीवन के लोक-सेव आयोग जो कदम-कदम पर बाधा डालते हैं और व्यक्ति को कन्धों से पकड़कर हमेशा नीचे दबाए रखते हैं—उन सब चित्रण और फिर कहानी का गहरा व्यंग्य—"अ सिलेक्शन नहीं हुआ···तो···तुम सरकार के पास जा कह देना···मुझे पकड़कर ले जाएगी···मिनिस्टर···ब देगी।"—अपनी एक मिसाल हैं।

इस संग्रह की पहली कहानी है 'चूहे'। काफी चटप कहानी है। एक दकियानूसी माँ की कॉलेज में शिक्षा पा वाली अपनी बेटी पर ज़रूरत से ज़्यादा रोक-टोक और ज पर तरह-तरह के शक करना और फिर बेटी का माँ को खु टकसाली भाषा में हर बात पर चुनौती देना दिलचस्प अधि है, कलात्मक कम। और फिर माँ का पिताजी के साथ ले

पेपरवेट: गिरिराज किशोर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या ११६, मूल्य ३.५० रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आभास पाकर बेटी का रात के सन्नाटे में एकाएक चिल्ला पड़ना—चूहे—मनोरंजन अधिक करता है, गहरी संवेदना कम देता है। इसी प्रकार गिरिराज की 'पगडंडियाँ' भी खूब मनोरंजन करती है।

'अलग-अलग कद के दो आदमी' के अलावा गहरी संवेदना वाली कहानी इस संग्रह में एक और भी है और वह है 'फ़ाकवाला घोड़ा, निकर वाला साईस'। यद्यपि नाम रमेश बक्षी की कहानियों जैसा ही है, लेकिन कहानी मन को कचोटती है। औरत आदमी को चाहे तो हर तरह से धोखा दे सकती है, लेकिन आदमी का उपयोग जब केवल 'टूल' के नाते रह जाए, तब उसको कितनी गहरी हीनता का एहसास होगा? और फिर सोचिए वह स्थिति जब आदमी महज़ एक क्लर्क हो और औरत हो डिप्टी-सेक्रेटरी? कहानी एक नयी अनुभूति दे जाती है।

लेकिन मुझे गिरिराज की कहानियों से एक शिकायत भी है। जहाँ उनमें कुछ कह जाने की क्षमता है, वहाँ उन्होंने कहने के कोई नये तरीके नहीं खोजे। वैसे कोई कृतिकार सचेत होकर 'कहने का ढंग' नहीं खोजता, कला के विकास की यह एक सहज प्रक्रिया है। लेकिन गिरिराज इससे अछूते ही रहे दिखते हैं। इधर नये कहानीकारों की भाषा एवं कहानी-विधा के रूप में जो निखार देखने को मिलता है, गिरिराज की कहानियों में उनका अभाव खटकता है। उनमें बिम्ब हैं, उपमाएँ हैं, लेकिन कहानी कहने का ढंग किस्सागोई के अधिक निकट है।

कहानी बनाम आदमी

श्रवण कुमार

कहानी को कहानी कहना आजकल इतना ही आपत्तिजनक समझा जाने लगा है जितना आदमी को आदमी कहना। यह कुछ ऐसे ही हुआ जैसे धोती-कुर्ते में आदमी कुछ और है और पैंट-कमीज़ में कुछ और। या जैसे धोती-कुर्ते वाला पैंट-कमीज़ वाले को ही न समझे और पैंट-कमीज़ वाला धोती-कुर्ते वाले को। गल्प और कहानी के बीच तो अन्तर स्पष्ट है, लेकिन कहानी, नयी कहानी, साहित्यिक कहानी, सचेतन कहानी, साठोत्तरी कहानी और फिर अकहानी—इन सबके बीच अन्तर कैसा?—यह वैसा ही लगता है जैसा धोती-कुर्ता और पैंट-कमीज़ के बीच। जबकि रहेगा आदमी आदमी ही और कहानी कहानी ही।

लेकिन श्याममोहन श्रीवास्तव तथा सुरेन्द्र अरोड़ा की 'अकहानी' इन सबसे अलग, यानी अकहानी से भी अलग, अपना पहचान-चिह्न रखती है,—वह निक्कर-कुर्त्ता मार्का है, जिसे उन्होंने 'अव्यावसायिक' कहानी कहा है, यानी वह कहानी जिसे कमलेश्वर, राकेश और यादव ने नहीं लिखा। श्याममोहन श्रीवास्तव के शब्दों में ही, " 'अकहानी' में इन रचनाकारों के एकत्र होने का एकमात्र कारण यही है कि ये किसी एक आन्दोलन या वाद के नहीं हैं। इनकी कहानियों को केवल इस अर्थ में अकहानियाँ कहा जा सकता है कि वे 'चालू', व्यावसायिक कहानियों को देखते हुए कहानियाँ नहीं हैं…।" लेकिन प्रश्न यह उठता है कि अगर बात इतनी सच्ची थी तो इस संकलन को 'अकहानी' नाम देने में क्या सार्थकता थी? अकहानी को आज जिन अर्थों में जाना जाता है वह 'ऐंटी-स्टोरी' के अर्थों में ही, अव्यावसायिकता के अर्थों में नहीं। "इन्हें सुविधा के लिए अकहानी, विकहानी, प्रतिकथा या साहित्यिक कहानी—कुछ भी कहा जा सकता है," (श्याम मोहन श्रीवास्तव के ही शब्दों में)। हाय री, बेचारी 'सुविधा'!

यदि व्यावसायिकता को ही लिया जाए तो लगता है श्याम मोहन श्रीवास्तव उसको भी दूसरे ही अर्थों में ले रहे हैं। 'व्यावसायिकता' से उनकी मुराद संभवतया उन लेखकों से है जिनकी रचनाओं का किसी-न-किसी समय खूब बोलबाला रहा और जो 'धर्मयुग' जैसी 'व्यावसायिक' पत्रिकाओं में छपते रहे। लेकिन यदि 'धर्मयुग' जैसी पत्रिकाएँ 'व्यावसायिक' हैं (क्योंकि उन्होंने हिन्दी-लेखक को आर्थिक आधार दिया, इसलिए?) तो 'शताब्दी' या 'वातायन' जैसी पत्रिकाएँ 'अव्यावसायिक' होते हुए भी कौनसे साहित्यिक मानदंड बना पायीं? किन्हीं अर्थों में वे निजी कुंठा के प्रक्षेपण के अलावा और कुछ नहीं कर पायीं! बहुत ही कम ऐसी अव्यावसायिक पत्रिकाएँ हैं जिन्होंने साहित्यिक मानदंड कायम

अकहानी: संपादन—श्याम मोहन श्रीवास्तव तथा सुरेन्द्र अरोड़ा। विवेक प्रकाशन, लखनऊ। पृष्ठ संख्या १८३। मूल्य १० रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये—जैसे लखनऊ से पहले 'युगचेतना' या कलकत्ते से 'इकाई' (सम्पादक : जगदीश) या अब अजमेर से 'लहर' इत्यादि।

'व्यावसायिकता' की बात को और आगे बढ़ाएँ तो जहाँ 'धर्मयुग' में कमलेश्वर छपे हैं, वहाँ निर्मल वर्मा भी और रमेश उपाध्याय भी (आजकल तो उनका एक अनुवाद धारावाहिक छप रहा है।) अभी हाल ही में सुरेन्द्र अरोड़ा ने भी उसमें छपकर 'व्यावसायिक' लेखकों में अपनी गिनती करवा ली। हाँ, नहीं छपे तो श्याम मोहन श्रीवास्तव पहले कहीं नहीं छपे, और इस संकलन में यह संभवतया उनकी पहली रचना है। तो क्या 'अव्यावसायिकता' से श्याम मोहन की यह मुराद है? या जब उन्हें 'व्यावसायिकता' का समुद्र बहुत विशाल लगा तो उन्होंने निर्मल वर्मा का नाम जपते-जपते उसे पार कर लेना चाहा?

लेकिन श्याम मोहन की इस संकलन में संकलित कहानी 'सिवार' चाहे उनकी पहली प्रकाशित रचना हो, वह है अच्छी। कम-से-कम सुरेन्द्र अरोड़ा की कहानी 'मोज़े' से तो ज़रूर अच्छी है। सुरेन्द्र अरोड़ा चाहे 'अव्यावसायिक' कहानी लिखें, चाहे 'व्यावसायिक', वे अपने कैशोर्य से अभी छुटकारा नहीं पा सके हैं (जैसे रमेश बक्षी, जिनका कैशोर्य उनकी मैच्योर रचनाओं में भी झलक पड़ता है)। लेकिन श्याम-मोहन में यह बात नहीं। चाहे कहानी वे आलोचकीय ढंग से शुरू करें। ("चाँदनी चौक की शाम अपने **समस्त मध्ययुगीन परिवेश** में उसके चारों ओर घिर आई थी, और वह वर्तमान से अपने को **संपृक्त** करने के लिए···"), या 'बॉब्ड-हेयर लड़की' को 'बॉब्ड-हेयर वाली लड़की' कहें और उससे 'उदासीनता भरी दृष्टि' डलवाएँ, लेकिन उनकी कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, जमती जाती है और 'तिरस्कृत, व्यक्तित्व-हीन' व्यक्ति की अच्छी बानगी दे जाती है। इसी 'तिरस्कृत' अवस्था में श्याम मोहन अपने पात्र से कहलवाते हैं, "बड़ी हरामी कौम है यह बाबुओं की भी। कीड़े···चींटियाँ, मच्छर, भुनगे, पतिंगे, चूहे, जलील, कायर, नपुंसक! **मुझे अफसोस है कि और विशेषण नहीं मिल रहे!**" 'तिरस्कृत' व्यक्ति ऐसे ही किसी-न-किसी पर गुस्सा हल्का करते हैं!

इस कहानी में एक प्रश्न और भी उठता है और वह है इसमें प्रयुक्त अंग्रेज़ी के वाक्य का "यू हैव मेड ए जिप्सी आउट आफ़ मी।" गनीमत है श्याम मोहन ने वाक्य तो ठीक लिखा, वरना बहुत-से भाई-लोग अंग्रेज़ी-उर्दू के मोह में (या दिखावा करने के लिए!) कुछ भी ऊल-जलूल लिख मारते हैं (ऐसे लेखकों में रमेश बक्षी भी शामिल हैं। संदर्भ : अठारह सूरज के पौधे)। इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव भी याद आए बिना नहीं रहते जो 'टूटना' में 'ऑफिन' और 'ऑफटिन' के चक्कर में पड़े रहते हैं, यद्यपि उच्चारण 'ऑफन' है (दर-असल, जब किसी लेखक के पास कहने को और कुछ नहीं होता तब वह इसी प्रकार के खूँटों के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहता है)।

इस संकलन की पहली कहानी 'डेढ़ इंच ऊपर' पर यदि यहाँ विचार न भी किया जाए (यद्यपि इसके रूप एवं इसकी शैली पर काम्यू का प्रभाव स्पष्ट है), क्योंकि निर्मल वर्मा की हर कहानी की काफी चर्चा हो जाती है, तो यहाँ इस संकलन की अन्तिम कहानी 'लाशें' पर विचार करना वांछनीय होगा क्योंकि वह इस संकलन की उत्कृष्ट रचना है। लेखक (कामतानाथ) का निजी परिवेश चाहे कुछ भी रहा हो लेकिन उनकी इस कहानी के परिवेश पर मज़बूत पकड़ है जिसके परिणामस्वरूप कहानी प्रामाणिक तो है ही, जीवन्त भी है। सेक्स जहाँ एक ओर शक्ति है, वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति को लाश के समान जड़ भी बना देता है। अस्पताल के दो कर्मचारियों का रात के समय मरीज़ों की उपेक्षा करके मार्चरी (शायद लेखक का अभिप्राय mortuary से नहीं morgue से था जहाँ लाशों को चीर-फाड़ के लिए रखा जाता है) में मिलना जो बदबू से भरी पड़ी है, और एक लाश पर से ("आर्थोपेडिक्स वार्ड की बेड नम्बर सत्रह की लाश थी जिसे ढाई सौ की जगह ढाई हज़ार पावर का एक इंजेक्शन दे दिया गया था") चादर हटाकर उसे ज़मीन पर बिछाकर कामतृप्ति करना ("अब उन्हें बू नहीं आ रही थी")—एक पर्दाफाश घटना ही नहीं, cruel joke भी है। कुछ ही वाक्यों में (शायद यह इस संकलन की सबसे छोटी कहानी है!) लेखक ने अपनी प्रतिबद्धता का ठोस प्रमाण दिया है।

संकलन की अन्य कहानियाँ भी जानी-मानी हैं। जैसे श्रीकान्त वर्मा की 'दूसरे के पैर' और रमेश उपाध्याय की 'ग़लत-ग़लत'। हिमांशु जोशी ने 'एक समुद्र भी' से कहीं अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'तोता' कहीं-कहीं जैनेन्द्र के पात्रों की तरह फ़लसफे झाड़ने लगती है, और उसका ताना-बाना भी ज़बरदस्ती बुना गया लगता है। ज्ञान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाश की 'सम्यता', सम्यता की लेख-समान आपबीती है। जगदीश चतुर्वेदी (अँधेरे का आदमी), सुधा अरोड़ा (बग़ैर तराशे हुए), राजकमल चौधरी (स्टिल लाइफ), रवीन्द्र कालिया (कोज़ी कार्नर), कुलभूषण (चिपचिपाहट) तथा सुरेश सिनहा (उदासी के टुकड़े)—ये सब अँधेरे के आदमी बने, तराशे जाने की इंतजार में, किसी रेस्तराँ के कोज़ी कॉर्नर में बैठे, उदासी के टुकड़ों की जुगाली करते, चिपचिपाहट अनुभव कर रहे हैं। कौन इनके लिए इब्नेमरियम बनकर इनके दिल की दवा करेगा ? सम्पादक-द्वय भी नहीं कर पाए। रघुवीर सहाय की 'प्रेमिका' से किसी और का प्रेम होना सम्भव नहीं, क्योंकि यह उन्हीं की प्रेमिका है। हाँ, उसकी पीठ पर तिनके चिपके देखकर दिल में कहीं थोड़ी-सी गुदगुदाहट ज़रूर हो सकती है। ममता कालिया की 'अँधेरा' को 'तरतीब' नहीं मिली, क्योंकि इधर उनके छोटे-छोटे वाक्यों ने अकहानी के रूप को ताज़गी दी है। फिर भी 'अँधेरा' में बहुत-कुछ हो जाता है और त्रास एक की अनुभूति भी।

इस संकलन में योगेश गुप्त की भी एक कहानी है 'बड़े शहर के ताबूत'। योगेश वाक़ई श्याम मोहन की परिभाषा के अनुरूप 'अव्यावसायिक' हैं, और इस बार उनकी कहानी 'साहित्यिक' भी बन पड़ी है। जैसे उनकी अन्य कहानियों में कुछ उखड़ी-उखड़ी वाक्य-रचना होती है, उसकी बजाए यहाँ जमाव है। कहानी यद्यपि कोठेवालियों पर आधारित है, लेकिन अपने में कुछ नयापन लिये हुए है। यहाँ 'माँस का दरिया' न होकर 'ताबूत' हैं—"उसने कहा, मुरदे के इन्तज़ार में ताबूत फिर जाने तक इन्तज़ार करेगा।"

इस संकलन में कुल अट्ठारह कहानियाँ हैं। यदि इसमें से 'कोज़ी कॉर्नर', 'चिपचिपाहट', 'बग़ैर तराशे हुए' (संकलन की सम्भवतया सबसे लम्बी कहानी), 'मोज़े', 'स्टिल लाइफ' (इसकी जगह 'जलते हुए मकान में कुछ लोग' ली जा सकती थी) निकाल दी जातीं, तो इनकी जगह कई-एक सही मानों में अव्यावसायिक लेखकों की कहीं अधिक सशक्त कहानियाँ दी जा सकती थीं।

सूखे सरोवर के आरपार की यात्रा

गंगाप्रसाद विमल

अज्ञेय की काव्य-रचनाओं में **'कितनी नावों में कितनी बार'** की कविताएँ ऐसी कविताएँ हैं जो यह सवाल सामने रखती हैं कि क्या अज्ञेय की कविताओं में कोई नया मोड़ आया है या नहीं ? किसी कवि का नया संग्रह कतिपय नवीनताओं की वजह से भी अगर नये मोड़ का आभास नहीं देता तो कम-से-कम वह पूर्ववर्ती काव्य-रचनाओं के समक्ष अपने अलगाव के बिन्दु अवश्य छोड़ता है। इस दृष्टि से 'कितनी नावों में कितनी बार' का परीक्षण किया जाए तो उसकी सामयिकता पर तो सन्देह होता ही है, उसमें रचनात्मकता के किन्हीं नये प्रयोगों को लेकर भी सन्देह जगता है। कविताओं में नये मोड़ की उपस्थिति का एक कोण यह भी है कि क्या प्रस्तुत (नवीनतम संग्रह की) कविताएँ पूर्ववर्ती रूढि से प्रयाण है कि नहीं ? इसी तरह काव्य-रचनाओं में जिस 'अनुभव-संसार' को कवि ने उपस्थित किया है, वह पिछले अनुभवों से अलग है या नहीं, अथवा कवि की कविताएँ किसी पृथक् काव्य-विचार की धारणाएँ विकीरित करती हैं या नहीं ? दरअसल इन सब आधारों पर **'कितनी नावों में कितनी बार'** की कविताएँ अज्ञेय के पूर्व काव्य का परिशिष्ट लगती हैं। उनमें न काव्य-वृत्त का कोई नयापन है, न अनुभव-संसार की नई खोज और न काव्य-भाषा की कोई नई मुद्रा। वे पूर्वकाव्य की रूढि के अनुकरण पर लिखी गई इन वर्षों की कविताएँ हैं, यह विश्वास भी काव्य-रचनाओं के समय की घोषणा (१९६२-६६ की कविताएँ—आरम्भ में उद्घोषित) से होता है।

अज्ञेय के पूर्वकाव्य से उत्तरकाव्य की यात्रा में 'आँगन के पार द्वार' को लेकर अवश्य कतिपय समीक्षकों ने 'नये मोड़' की चर्चा की थी। कुछ समीक्षकों ने उन कविताओं को 'बृहत्तर माध्यम की खोज' कहा था, यह कहते हुए भी समीक्षक का मंतव्य अज्ञेय-काव्य के नये मोड़ को ध्वनित करना था। अगर अज्ञेय की इन कविताओं को नया मोड़ माना जाता है

कितनी नावों में कितनी बार : अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ कलकत्ता, पृ० ९३, मूल्य ४ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो क्या वे **कुछ पूर्वकविताएँ** अब अप्रासंगिक हो गई हैं जिनकी चर्चा केवल उनके नयेपन के कारण रही है। इसका अर्थ यह है कि अज्ञेय के काव्य का नयापन या नया मोड़ सामयिक है अर्थात् उसमें ऐसी प्रसंगवृत्तता कम है जो उन कविताओं को दूसरी काव्यधाराओं की तरह 'महत्त्व' का बनाए रखती है। परन्तु 'आंगन के पार द्वार' की कविताएँ भी किसी तरह के 'नये मोड़' का व्यंजक नहीं हैं। यह संयोग ही नहीं है कि इन कविताओं को केदारनाथसिंह ने एक कविता-समय की समाप्ति का काव्य मानकर 'आँगन के पार द्वार' को समाप्ति का, अज्ञेय की काव्य-परम्परा की समाप्ति का काव्य सिद्ध किया। अर्थात् अज्ञेय के पूर्वकाव्य की समाप्ति का दौर 'आँगन के पार द्वार' में जाकर पूर्ण होता है। **कितनी नावों में कितनी बार** तो उनके प्राक्-पूर्वकाव्य का ही परिशिष्ट प्रतीत होता है। इसका अर्थ हुआ कि अज्ञेय का वह उत्तरकाव्य, जो उनके पूर्वकाव्य से, अनेक दृष्टियों से, अलग हो, अभी रचा ही नहीं गया है।

जब किसी कवि की रचनाओं में कोई नया मोड़ नहीं आता, और उसकी कविताएँ समकालीन मुद्रा से शून्य रहती हैं, तब एक दूसरा सवाल सामने आता है कि क्या उस कवि की काव्य-रचनाओं को कविता मान लिया जाए या उन्हें कुछ और कहा जाए ? इस संदर्भ में भी यह स्पष्ट है कि अज्ञेय की ये कविताएँ—'रूढ़ि काव्य' के ही अन्तर्गत रखी जा सकती हैं, क्योंकि ये विधा से बाहर की कोई प्रयोगधर्मी रचनाएँ या खोज नहीं हैं। 'व्यक्तित्व की खोज' का दावा करने वाली अज्ञेय की कविताएं 'व्यक्तिगत' कविताएँ ज़्यादा लगती हैं। उनका 'अनुभव-संसार' एक व्यक्ति के निजी आस्वाद के विशेषण-प्रयोगों से भरा पड़ा है। यही कारण है कि अज्ञेय की कविताएँ विशेषण प्रयोगों की दृष्टि से असाधारण प्रतीत होती हैं। कविताएँ व्यक्तिगत आस्वाद की प्रक्रिया से सार्वजनिक होने की ओर उन्मुख होती हैं, किन्तु अज्ञेय की कविताएँ (**कितनी नावों में कितनी बार** की खासतौर से) व्यक्तिगत आस्वाद से 'निजी' होने की ओर उन्मुख हैं। कहा जा सकता है कि 'कितनी नावों में कितनी बार' अज्ञेय की व्यक्तिगत और निजी यात्रा है। कई बार व्यक्तिगत अनुभव 'काव्य-संमूर्तन' द्वारा निर्वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर एक वृहत्तर सार्वजनिकता की सम्पुष्टि पाते हैं, किन्तु 'कितनी नावों में कितनी बार' की अधिकांश कविताओं में वह आधार 'निजी' (प्राइवेट) और रहस्यात्मक रूपों में अमूर्तित होता है :

> **कुहरा था**
> **सागर पर सन्नाटा था :**
> **पंछी चुप थे।**
> **महाराशि से कटा हुआ**
> **थोड़ा-सा जल**
> **बन्दी हो**
> **चट्टानों के बीच एक गढ़िया में**
> **निश्चल था—**
> **पारदर्श।**

प्रस्तुत कवितांश का दृश्यार्थ किसी तरह के व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं देता है। पूरी कविता के संदर्भ में भी ये पंक्तियाँ 'अकेले पड़ जाने' जैसे अनुभव का अवसाद नहीं जगा पातीं। केवल दूरारूढ कल्पना-बिम्ब के पंखों के सहारे उड़कर पाठक समसामयिक विचारदर्शन के सूत्रों को उधार लेकर इस कविता पर आरोपित कर इसकी 'सार्थकता' की प्रतीति का संदेह जगाता है। केवल कुछ 'शब्दों' के सहारे कविता का बिम्बधर्मी स्वभाव प्रकट नहीं किया जा सकता। और खासतौर से जब 'शब्दों' में बिम्बार्थ के संवहन की क्षमता न हो। 'निश्चल', 'महाराशि' आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो 'अज्ञेय काव्य' को शाब्दिक गरिमा तो दे डालते हैं किन्तु उसे 'काव्य-गरिमा' से वंचित कर जाते हैं। इस सिलसिलें में एज़रा पाउन्ड का एक कथन सहसा याद हो आता है कि कविता में (अगर वह कविता है) हर शब्द 'अर्थ' से सम्पृक्त होता है, किन्तु वह सम्पृक्ति कविता की समग्र प्रतीति के संदर्भ में होती है, बाहर के अर्थकोशों से वह सम्पृक्ति नहीं होती। सही (सार्थक) कविता की पहचान का यह आसान सूत्र जब अज्ञेय की इन कविताओं के संदर्भ में लिया जाता है तब दूसरी ही तस्वीर सामने आती है। वह तस्वीर यह है कि कविताओं को कविता बनाने के आयास में बाहरी अर्थ की सम्पृक्ति से सजाया जाए। मैथिलीशरण गुप्त के आयाससिद्ध काव्य और अज्ञेय के अर्थ-सम्पुष्टि के सायास काव्य में कुछ समानताओं के अतिरिक्त कोई अन्तर है तो वह यह है कि अज्ञेय के काव्य की सायासता 'सज्जात्मक परिवेश' की अधिक है। परन्तु उसमें 'अर्थ' की उपस्थिति का बाहरी आग्रह सदैव वर्तमान रहता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

....

....

कटा हुआ
जाने-पहचाने सब-कुछ से
इस सूखी रेत के विस्तार से,
और अजाने-अनपहचाने सबसे
दुर्गम, निर्मम, अन्तहीन
उस ठंडे पारावार से ।

'जीवन' शीर्षक कविता की उक्त पंक्तियाँ, केवल एक 'दृश्य-बिम्ब' का अनावश्यक विस्तार है । इस अनावश्यक विस्तार को 'काव्य' शीर्षक के आभास-भाव का अर्थ भी 'संगत सिद्ध' नहीं करता । परन्तु बाहर से 'अर्थ' के अंश उधार लेकर पूरी कविता को 'कविता' माना जा सकता है ।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त अनेक ऐसे उदाहरण भी इस संग्रह की कविताओं में मिलेंगे जिन्हें लेकर यह सवाल खड़ा हो जाता है कि क्या कविताओं में साधारण 'शब्द' अपने सीधे (अभिधार्थ) अर्थ के अतिरिक्त भी कोई अर्थ रखता है । माना यह जाता है कि 'शब्द' का वही अर्थ कविता में सुरक्षित नहीं रहता जो 'गद्य' या अन्य प्रचलित रूपों में रहता है । वहाँ या तो शब्द केवल संदर्भ का एक सिरा बनकर आता है या अपने समसामयिक दबाव का वातावरण बनकर आता है, किन्तु अज्ञेय की इन कविताओं में 'शब्द' अपने अनादिम रूपों में उपस्थित रहकर न तो कविता में कलात्मक सर्जन करता है और न ही कविता को किसी दूसरे संदर्भ से जोड़ता है । वहाँ शब्द या शब्द की आवृत्ति या उसके मूलस्वरूप का व्याकरणगत विरूप (डिस्टार्शन) केवल बाहरी सज्जा से सम्बद्ध है ।

प्रसिद्ध अमरीकी कवि मैकलीश ने कवि के 'यश' के कारण कविताओं की महानता मानने से इन्कार किया है । 'कितनी नावों में कितनी बार' का कवि यश-प्राप्त कवि है । एक बड़े कवि की कविताओं में 'शब्दों' की अनादिम उपस्थिति या आवृत्ति की बात सम्भवतः इसलिए महत्त्वहीन मानी जा सकती है क्योंकि कवि को सज्जात्मक परिवेश के प्रति आग्रह का भी कोई अलग महत्त्व हो सकता है, बड़े या नामप्राप्त कवि की रचनाओं के बारे विवेचना के लिए कवि मैकलीश का आधार लिया जा सकता है । मैकलीश ने यह भी कहा है कि यदि कविता अज्ञात की यात्रा नहीं है तो वह अवश्य ही 'ज्ञेय' की ओर कोई यात्रा है परन्तु 'ज्ञेय' के पक्ष की प्राप्ति ज्यादा मुश्किल है । अनजान की अपेक्षा 'जाते हुए' अनुभव के संसार की प्रतीति को संमूर्तित करना ज्यादा कठिन है । कवि अज्ञेय ने जाने हुए अनुभव-संसार को संमूर्तित नहीं किया है, कम-से-कम उस तरह जिस तरह कविताओं में, कविताओं की अन्तर्धाराओं में वह अनुभव-संसार 'आत्मराग' के रूप में उपस्थित रहता है । अज्ञेय के 'काव्य संसार' के सभी कोण 'आत्मीय' तो हैं ही नहीं, वे उस तरह से बिम्बधर्मी या चित्रात्मक भी नहीं हैं जिस तरह से 'अनजाने' लोक को अस्पष्ट बिम्बों द्वारा सुमित्रानन्दन पन्त ने चित्रात्मक बनाया है । यदि कविताएँ जाने-पहचाने आत्मीय अनुभव-क्षेत्र को कलात्मक रूपों में ही उपस्थित करती हों और वे अनाम जिज्ञासाओं की प्रहेलिकाएँ न हों तो 'कितनी नावों में कितनी बार' की कविताओं को 'कविताभास' के निकट पाया जा सकता है । परन्तु इतनी आसानी से अज्ञेय की इन कविताओं को साधारण कविताएं सिद्ध नहीं किया जा सका । इनकी साधारणता भी असाधारण किस्म की है, इसलिए खतरा बढ़ जाता है ।

'समय क्षण-भर थमा' शीर्षक एक कविता में समय बिम्ब 'अप्रतीक' अनुभव के रूप में आया है । वहाँ कविता का मूल कथ्य 'समयबिम्ब' को साधारण स्तर की 'जैविक' प्रतीति देने भर का है, किन्तु अपने 'महिमावाची प्रभामण्डल' के अनुभव-स्पर्श से कविता में साधारण की असाधारणता परिलक्षित की जा सकती है :

समय क्षण-भर थमा-सा :
फिर तोल डैने
उड़ गया पंछी क्षितिज की ओर,
मद्धिम लालिमा ढरकी अलक्षित ।
तिरोहित हो चली ही थी कि सहसा
फूट तारे ने कहा : रे समय, तू क्या थक गया ?

समानतावाची 'सा', आवृत्तिवाची 'ही' और साधारण बिम्ब-धर्मी 'मद्धिम लालिमा' के क्रियापद 'ढरकी' के प्रयोगों को पूर्णता में बाधक माना जा सकता है, किन्तु कविता के इस एकान्त पक्ष को दूसरा मोड़ देने वाली जो अन्तिम पंक्तियाँ हैं, वे दूसरी कविता या दूसरी कविता की पंक्तियाँ भी लगती हैं :

रात का संगीत फिर
तिरने लगा आकाश में

और दूसरी कविता की यह प्रतीति इस बात का सबूत है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदना के आधार पर भी अज्ञेय की कविताएँ अपने समकालीन सन्दर्भों से अलग केवल 'शब्दविलास' का अजायबघर रह गई हैं।

अज्ञेय के इस संग्रह की कविताएँ अज्ञेय के सन्दर्भों में तो शायद नई हों, किन्तु वे दूसरे किन्हीं सन्दर्भों में भी नयी हो सकती हैं, इसमें सन्देह है। 'कितनी नावों में कितनी बार' की कविताओं में समकालीन कविता जैसी मुद्रा नहीं है, इसलिए अज्ञेय के सन्दर्भ में नई होने वाली इन कविताओं के इस 'नये' शब्द की पुनर्व्याख्या आवश्यक हो जाती है। एक बात यह भी साफ है कि अज्ञेय के काव्य-रचनाक्रम में 'इत्यलम्' या 'हरी घास में क्षण भर' या 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में अपने समय-संदर्भों की जितनी ताज़गी है, वह नवीनतम कविताओं में भी नहीं है। इसलिए जब कितनी नावों में कितनी बार को 'चिन्ता' का परिशिष्ट कहा जाता है, तब लगता है कि अज्ञेय की कविताओं का नयापन पीछे की ओर लौटना है। और अगर यह कहा जाए कि 'कितनी नावों में कितनी बार' द्वारा अज्ञेय अपने काव्य-विकास में पीछे की ओर लौट रहे हैं तो असंगत नहीं होगा। उदाहरण के लिए निम्न कवितांश देखा जा सकता है :

> **ओ आस्था के अरुण।**
> **हाँक ला**
> **उस ज्वलन्त के घोड़े।**
> **खूँद डालने दे**
> **तीखी आलोक-कथा के तले तिलमिलाते पैरों को**
> **नभ का कच्चा आँगन।**
> **बढ़ आ, जयी**
> **संभाल चक्र-मण्डल यह अपना।**
> **इस मर्यादातीत**
> **अधर के अन्तरीप पर खड़ा हुआ मैं**
> **आवाहन करता हूँ :**
> **आओ भाई**
> **राजा जिसके होंगे, होंगे :**
> **मैं तो नित्य उसी का हूँ जिसको**
> **स्वेच्छा से दिया जा चुका।**

आस्था, अरुण, ज्वलन्त, आलोक-कथा, चक्रमण्डल, मर्यादातीत, अन्तरीप, आवाहन, नित्य, स्वेच्छा आदि 'शब्दों' से भरी हुई इस कविता का शीर्षक भी कम आश्चर्यजनक नहीं है—शीर्षक है 'प्रातः संक'। प्रस्तुत कविता में, जिसका रचनाकाल १९६३ है, छायावादी संस्कार अपने प्रौढ रूपों में वर्तमान हैं। आश्चर्यजनक यह नहीं है कि अज्ञेय में पूर्व छायावादी संस्कार भी हैं, आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि उसकी प्रौढता 'व्यतीत युवा' अज्ञेय में १९६३ में आई है। काव्य-विकास की इस 'पीछे की ओर जाने वाली यात्रा' में अज्ञेय का कवि अपनी संवेदना का मूल प्रारूप भी स्पष्ट कर देता है।

अज्ञेय काव्य का मुख्य काव्य-विषय छायावादी कवियों की तरह वेदना, प्रेम, विद्रोह, व्यक्तिवादी आत्मराग, अहं तथा पूर्ण समर्पण का रहा है। यह मात्र संयोग ही नहीं है कि अज्ञेय की बाद की कविताओं तक में यह छायावादी संस्कार विद्यमान है। स्वयं अज्ञेय ने भी अगर किसी कवि की कविताओं को स्वीकृति दी है तो वह छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त की कविताएँ हैं। इसका प्रमुख कारण जो भी हो, सामान्य रूप से अज्ञेय की रुचि और उनके रागबोध के स्तर का भी अनुमान सहज ही हो जाता है। पन्त के काव्य का-सा छायावादी भाषा-संस्कार और भावधारा के आरोपण का अतिरिक्त गरिमामय आग्रह अज्ञेय के पूर्व और वर्तमान काव्य में सप्रसंग मिलता है। **कितनी नावों में कितनी बार** में तो यह प्रभाव अपने चरम रूप में विद्यमान है।

यही नहीं, अज्ञेय और पन्त के काव्य में 'असाधारणत्व' के चिन्तन की जो समानता मिलती है, वह समान रागबोध और संवेदना की परिचायिका भी है। वस्तुतः यह कहते हुए हम साहित्येतिहास की एक धारणा के विशेष तथ्य की ओर संकेत करना चाहते हैं कि अज्ञेय का समग्र काव्य अपनी कालगत विशेषताओं और प्रयोगधर्मी स्वभाव के साथ भी पन्त के काव्य की परम्परा का काव्य है। पन्त ने जिस तरह सुन्दर, चिर और उपसर्गयुक्त शब्दों से 'असाधारणत्व' की गरिमा का स्थापन किया है, बहुत-कुछ वैसा ही अज्ञेय के काव्य में भी मिलता है।

कितनी नावों में कितनी बार में तो अज्ञेय का प्रयोगधर्मी रचनाकार शिथिल पड़ जाता है, वहाँ 'समर्पण' की वस्तु-चेतना ही प्रबल रूप से उभरकर सामने आती है। यह 'वस्तुचेतना' अज्ञेय काव्य को 'नव रहस्यवादी' उत्थान से जोड़ डालती है :

> **देवता का नाम यों ही नहीं लूंगा :**
> **पर जो दूसरा होता—स्वयं में—**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदा मैंने यही पाया है कि वह
तुम हो ।

यह नव रहस्यवादी उत्थान 'चिन्ता' की कविताओं से लेकर 'कितनी नावों में कितनी बार' तक विविध परिदृश्यों में फैला हुआ है। नवरहस्यवादी उत्थान की इस कड़ी में अपने-आपको दे देने का जो भाव है, उस भाव में अवसाद की जगह उमंग है और कहीं-कहीं अस्तित्वहीन हो जाने का तर्कहीन डर भी दिखाई देता है···

मेरी वह फूस की मड़िया जिसका छप्पर तो
हवा के झोंकों के लिए रह गया
पर दीवारें सब बेमौसम वर्षा में बह गयीं—
यही सब हमारा नाता-रिश्ता है···इसी में मैं हूँ
और तुम हो ।

और इतनी ही बात है जो बार-बार कही गयी
और हर बार कही जाने में कही जाने से रह गयी ।

अज्ञेय की कविताओं में 'रोमांटिक संसार' की स्वीकृति के रूप तो मिलते ही हैं, अपवादस्वरूप उनमें कहीं-कहीं सामाजिक दबावों का आभास भी मिलता है, जो उन काव्य-स्थलों को निर्वैयक्तिक बना डालता है किन्तु ज्यादातर अज्ञेय के काव्य में छायावादी 'ओजत्व' का 'माधुर्य' मिलता है। पन्त में जो 'काव्य स्वभाव' 'स्त्रैण' बनकर आया है, अज्ञेय में कमोबेश वह 'काव्य-स्वभाव' स्त्रैण भी है तो एक ऐसे समर्पित साधक का भी है जिसे आत्मदान की गरिमा का बखान करना है।

यह सच है कि अज्ञेय की कविताओं के 'ठोस' सन्दर्भ नहीं आते हैं। वे 'काव्य-भाषा' की महीनता में खप नहीं पाते, संभवतः इसी वजह से 'युद्धविराम' और 'स्मारक' जैसी कविताओं में भी संदर्भ का महत्त्व शिथिल है, कवि की निजी प्रतिक्रिया और उस प्रतिक्रिया की आन्तरिक स्थिति का महत्व अधिक है। वस्तुतः सन्दर्भों की इस अनुपस्थिति में सन्दर्भों के अवयवीकृत आयाम कविता को वह अर्थवत्ता प्रदान कर सकते हैं जिससे कविता में काव्य-गरिमा आती है। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि अज्ञेय की इन कविताओं में सन्दर्भ की विविधता की जगह क्या आयामों की विविधता है या उसका आभासमात्र। वस्तुतः **कितनी नावों में कितनी बार** की कविताओं में 'आयामों' की विविधता भी नहीं है। इतना अवश्य है कि अज्ञेय का अपना काव्य-विषय ही बार-बार इन कविताओं में सन्दर्भ बनकर आता है तथा वह 'सन्दर्भ' स्थितिहीन प्रसंगों में 'सन्दर्भत्व' से क्षीण होकर कविता का एक आयाम बन जाता है :

कोई अपना नहीं कि
केवल सब अपने हैं :
हैं बीच-बीच में अन्तराल
जिनमें हैं झीने जाल
मिलाने वाले कुछ, कुछ दूरी और दिखाने वाले
पर सच में
सब सपने हैं ।

अज्ञेय के काव्य की इस चर्चा में मैंने उनके 'नवरहस्यवादी' काव्य-रुझान की जिस रूप में चर्चा की है, वह 'रहस्यवादी' काव्य-रुझान आधुनिक अंग्रेजी कवियों में दूसरे स्तर पर मिलता है। आधुनिक अंग्रेजी कवियों में इलियट का नाम इस सन्दर्भ में लिया जा सकता है। इलियट ने अपनी कविताओं में अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिबद्धता के साथ भी काव्य में समसामयिक जीवन की संगति-विसंगतियों का प्रत्यावर्तन प्रस्तुत किया है। अज्ञेय के काव्य में 'नवरहस्यवादी रुझान' की सीधी ऐसी परम्परा नहीं है। वहाँ धीरे-धीरे धार्मिक और सांस्कृतिक, रागबोध का प्रभामण्डल रहस्यवादी प्रतीक-विधान द्वारा दूसरी ही तरह झलकता है, यानी उसका सीधा-सीधा सम्बन्ध कविता, समय या वैज्ञानिक विकास की प्रबुद्धता के प्रसंगों से नहीं रहता अपितु वह कविता की इकाई में जाकर 'काव्य-महिमा' का वृत्त बन जाता है। कविता की इकाई का यह 'वृत्त' कहीं भी जीवनगत विसंगति, विद्रोह या अस्वीकार को ध्वनित नहीं करता। हालांकि कतिपय समीक्षकों ने अज्ञेय के काव्य में 'विद्रोही' की मुद्रा का भी ज़िक्र किया है, जिसका वहाँ सर्वथा अभाव है। वहाँ जागने भर का एक भाव है, जो इतना स्पष्ट है कि वह एक साथ 'जागने' और 'आत्मदानी भाव' की उपस्थिति का अहसास कराता है···'स्वप्न' शीर्षक कविता में 'जागने का आत्मदानी स्वर' आशावादी लगता है—यह स्वीकृति का आशावाद है···

धुएँ का काला शोर :
भाप के अग्निगर्भ बादल :
बिना ठोस भूतल की रपटन में उगते, बढ़ते, फूलते
अन्तहीन कुकुरमुत्ते
न-कुछ की फांक से झांक-झांक, झुककर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झपटने को बढ़ रहे भीमकाय कुत्ते।
अग्नि-गर्भ फैलकर सब लील लेता है।
केवल एक तेज—एक दीप्त :
न उसका, न सपने का कहीं कोई ओर-छोर :
बिना चौंके पाता हूँ कि जाग गया हूँ।
भोर…

यद्यपि पूरी कविता में 'स्वप्न' के अनुभव की संरचना 'दृश्यार्थ' के स्तर पर दीखती है, किन्तु देखा जाए तो यह दृश्यार्थ प्रमुख होकर भी अपनी 'प्रतीक विधा' की प्रतिकूलता में गौण पड़ जाता है। यहां इस पूरी कविता को उद्धृत करने का मेरा दूसरा मन्तव्य भी है, क्या 'स्वप्न' कविता स्वप्न के अनुभव का शाब्दिक तथा शिथिल चित्रात्मक सादृश्य है अथवा यह शीर्षक समेत एक वैयक्तिक या निजी प्रतीक द्वारा जागने के आशावादी स्वर की प्रतीक्षा की निरन्तरता है। यह हो सकता है कि स्तर-भेद के अनुसार दोनों की उपस्थिति मान ली जाए। किन्तु पद-रचना और पहली अन्य कविताओं के सन्दर्भ में देखा जाए तो कवि का मन्तव्य भी स्पष्ट होकर सामने आ जाता है। कवि का मन्तव्य 'दृश्यार्थ' तक ही सीमित है। ऐसी स्थिति में समग्र कविता की प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिह्न लगाने की पूरी गुंजायश है।

अज्ञेय की कविताओं की 'काव्य-वस्तु' को लेकर यह तो कहा जा सकता है कि उसका आशावाद किसी हद तक भारतीय जनमानस के समसामयिक 'प्रतीक्षावाद' से जुड़ा हुआ है। परन्तु ध्यान से देखने पर इससे भी महीन एक सत्य अज्ञेय की कविताओं की बुनावट से सामने आता है। अज्ञेय की कविताओं की बुनावट समय या मृत्यु या जीवन या समर्पण के बारे में जो धारणा संचारित करती है वह धारणा सांस्कृतिक परिवेश से निर्धारित है और वह धारणा कहीं भी हमारे बने-बनाए धारणागत संस्कार को तोड़ती नहीं है अपितु एक अजीब क़िस्म के उदारतावाद के पाश में बाँध देती है :

टूटता है जो उसे भी, हाँ, कहो संसार :
पर जो टूट को भी टेक दे, ले धार, सहार
उस अनन्त उदार को
कैसे सकोगे भूल—

जबकि अब यह मान लिया गया है कि आधुनिकता के मूल में धारणागत प्रतीतियों की मृत्यु और उनकी जगह शुद्धतः बौद्धिक तर्कसम्मत नई वैज्ञानिक धारणाओं का जन्म ही संवेदना के परिवर्तन का प्रकारान्तर प्रमाण है। उदाहरण के लिए मध्यकालीनता और आधुनिकता वस्तुतः जीवन और मृत्यु-सम्बन्धी धारणाओं का बदलाव है। अज्ञेय में यह बदलाव 'स्वीकृति' का है, इसमें सन्देह नहीं है कि यह स्वीकृति पूर्वाधुनिक संस्कार होते हुए भी सांस्कृतिक परिवेशगत आधारों पर नई बुद्धि-संरचना है :

कौन कभी फिर लौट वहाँ आया, जिस पथ से
एक बार वह पार गया ?

परन्तु 'काल'-सम्बन्धी यह एकदम कोई नया 'विज़न' नहीं है। इसमें केवल 'पदसंरचना' द्वारा अर्थ की प्रतीति की नई दृष्टि अवश्य दिखाई देती है। परन्तु यहां भी दूसरे स्थलों की तरह एक सन्देह सर्वदा वर्तमान रहता है।

अज्ञेय की कविताओं का 'बिम्ब-विधान' अवश्य किसी हद तक उन्हें नई सूचनात्मकता से भरता है, किन्तु इस संग्रह में ऐसी कविताएँ कम हैं :

भर गई हैं पुआलें खलियानों में
तोड़ लिए गए हैं सब सेब : सूनी हैं डालें।
उतर चुके अंगूर—गुच्छे के गुच्छे
हो चुकी पहली पेराई के मेले :
लाल होकर काली भी पड़ गयी बागीचों में कतारें :
सूख चलीं बेलें।
झील की कोखों से जहाँ झाँकते थे
धूप से सोना-मढ़े भाप के छल्ले
वहाँ अब मँडराता है घना नीला कुहरा
मनहूस, बाँझ सन्नाटे को करता और गहरा।…

'हेमन्त' शीर्षक इस कविता में ऐन्द्रिय-बिम्बों के साथ-साथ भावबिम्बों की एक ऐसी लहर है जो इस कविता को शेष कविताओं से अलग करती है। परन्तु इसका मूल काव्य-विषय अज्ञेय की पूर्व-परम्परा से विच्छिन्न नहीं है।

अज्ञेय की 'काव्य-वस्तु' का यह एकत्व और नैरन्तर्यभाव पुनर्विचार की संभावनाएँ रखता है। क्या अज्ञेय के काव्य की यह संगति उपलब्धि है ? देखा जाए तो यह उनके काव्य में 'एकरसता' का प्रमाणबिन्दु बनकर आता है। यही नहीं, अज्ञेय की काव्य-परम्परा की अवधि को बहुत सीमित कर, यह तथ्य अज्ञेय के कवि को बौना' साबित करवाने का प्रमाण भी बन जाता है। परन्तु अज्ञेय के काव्य में, प्रयोगधर्मी स्वभाव एक ऐसा बड़ा पड़ाव है जो अज्ञेय के काव्य को उनके समकालीनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मुकाबले ज़्यादा महत्त्व भी दिलवाता है।

कितनी नावों में कितनी बार की कविताओं में ऐसी कविताएँ भी हैं जिनमें 'अज्ञेय के कवि-व्यक्तित्व' की पूर्वमुद्रा भी नहीं है :

उधर उस काँच के पीछे पानी में
ये जो कई मछलियाँ
बे-आवाज़ खिसकती हैं
उनमें से किसी एक को
अभी हमीं में से कोई खा जाएगा
जल्दी से पैसे चुकाएगा
चला, जाएगा।

ऐसी कविताओं में प्रयोगवादी कवि अज्ञेय की 'काव्य-रचना' का वह आभाससिद्ध कौशल भी नहीं दिखाई देता। अज्ञेय की कविताओं की 'पदरचना' और 'लयात्मक आवृत्ति' की विशेषता इन कविताओं में कम देखने को मिलती है। इनमें 'उपक्रियापद' का प्रयोग 'काल' बिम्ब को गतिशीलता देने के लिए अवश्य किया गया है, किन्तु अत्यधिक सर्वनामों का प्रयोग और 'शून्यवाची' कालबोधकता का प्रयोग कविता के कविता बनने में बाधक हो जाता है। यही नहीं ऐसे शब्दों की आवृत्ति नीरसता और ऊब में अभिवृद्धि करती है। कम-से-कम समकालीन कविता के पाठक को अज्ञेय की कविताएँ 'सूखे सरोवर में कितनी ही बार किए नौका विहार'-सी लगती हैं :

कितनी दूरियों से कितनी बार
कितनी डगमग नावों में बैठकर
मैं तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी-सी ज्योति
कभी कुहासे में तुम्हें न देखता भी
पर कुहासे की ही छोटी रुपहली झलमल में
पहचानता हुआ तुम्हारा ही प्रभामण्डल।

अज्ञेय की ये कविताएँ कुल मिलाकर 'व्यतीत की यात्राएँ' लगती हैं, पीछे की ओर जाने की यात्राएँ। इनमें 'अपने को देने' का जो भाव है वह रूमानी रुझान तो है ही, वह अबोधत्व का 'ममेतर' भाव है—शायद, समकालीन कविताओं के सामने ऐसा काव्यभाव 'कालदोष' से ज़्यादा महत्त्व का नहीं है। ●

भूल सुधार

आलोचना के अक्तूबर-दिसम्बर १९६७ अंक में 'आधुनिकतावाद' पर मेरा जो एक टिप्पणी-लेख प्रकाशित हुआ है उसमें कुछ ऐसी अशुद्धियाँ रह गयी हैं जिससे अर्थ का अनर्थ हो जाता है। लेख के दूसरे अनुच्छेद में 'मूल्य-बाध' शब्द सर्वत्र 'मूल्य-बोध' मुद्रित हुआ है। इस अनुच्छेद की पंक्ति ९ और १६ के अतिरिक्त सर्वत्र 'मूल्य-बाध' ऐसा होना चाहिए था। पंक्ति ९ में भी पहले 'मूल्य-बोध' होना चाहिए और बाद में, नये वाक्य के आरम्भ में, 'मूल्य-बाध' ही होना चाहिए। इसी प्रकार से, पंक्ति ७ में दो बार 'मूल्य-भाव' मुद्रित हुआ है जो 'मूल्य-भाव' होना चाहिए। अन्तिम पृष्ठ के पहले अनुच्छेद की पंक्ति १४ में 'मूलात्मक' मुद्रित हुआ है जो 'मूल्यात्मक' होना चाहिए और लेख के अन्त में 'मूल-स्थिति मुद्रित हुआ है जो 'मूल्य-स्थिति' होना चाहिए।

दुर्भाग्यवश अशुद्ध मुद्रित शब्द ठीक विपरीतार्थक होने से शुद्ध शब्द का अनुमान भी नहीं कराते, पाठक को केवल घपले में डालते हैं, जैसा कि श्री मुद्राराक्षस के घपले में पड़ने से स्पष्ट है। आश्चर्य केवल इस बात में है कि श्री मुद्राराक्षस ने पाण्डुलिपि ही पढ़ी थी और तब भी अपनी ओर से ही 'मूल्य-बाध' को 'मूल्य-बोध' ही पढ़ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय

रोमान्टिक बनाम आधुनिक ! या सर्वकालीन बनाम समकालीन !

परमानन्द श्रीवास्तव

यह सही है कि आधुनिक भावबोध की व्याख्या आधुनिक साहित्य और कला की सृजनात्मक प्रवृत्तियों और मान्यताओं की सहायता से ही की जा सकती है—उन 'झूठे आग्रहों' (श्रीकान्त वर्मा) की सहायता से नहीं—जो बस आधुनिक या किसी भी प्रकार के साहित्य पर आरोपित कर दिए जाते हैं। पर इसके लिए व्याख्या से ही बचने की दलील व्यर्थ है। युवा लेखकों को तो खास तौर पर इस व्याख्या को जीवन्त बनाने की कोशिश करनी चाहिए—जबकि उनमें से अधिकांश रचनात्मक लेखक के लिए 'चुप' रहने की आज़ादी की माँग करने लगे हैं। वे नहीं जानते कि 'चुप' रहकर हम सिर्फ़ अपनी आज़ादी खो सकते हैं। उनकी इस 'चुप' की प्रेरणा रामविलासजी जैसे बुनियादी असंगतियों से भरे हुए आलोचकों की वे स्थापनाएँ भी हो सकती हैं जो एक ग़लत निर्णय से दूसरे ग़लत निर्णय तक ले जाती हैं। मुश्किल यह है कि ऐसे आलोचकों के निर्णयों के पीछे एक अन्तिम और स्थिर ज़िद होती है जो साहित्य या व्यापक सृजन की ज़मीन पर होने वाले परिवर्तनों को मूलतः अस्वीकार करती है। समाज को बदलने की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले भावबोध के स्तर पर घटित होने वाले बदलाव को न देख पाएँ या न स्वीकार कर सकें—इससे बड़ी असंगति क्या हो सकती है! आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न लेखन को एक 'सच्ची और सजीव उपस्थिति' की संज्ञा दी जा सकती है तो इसी अर्थ में कि वह समय की जटिल और परस्पर-विरोधी स्थितियों और संवेदनाओं के संघर्ष से बनने वाली नयी संभावनाओं को भाषा या नई संवेदना के स्तर पर खोलने या स्पष्ट करने की कोशिश करता है। उसे नयी परिस्थितियों के सीधे सन्दर्भ में न देखकर रोमांटिक कविता या छायावाद की पूर्ण अस्वीकृति के सन्दर्भ में रखकर अन्ततः वे अपने ही रोमान्टिक आग्रहों का परिचय दे रहे हैं। मैं देख रहा हूँ कि परम्परा का मोह किसी भी प्रगतिशील विचारक को अन्त में रोमान्टिक बनाकर छोड़ता है। यह नियति रामविलास शर्मा की ही नहीं, प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान की भी है कि वे आज बड़ी आसानी से पन्त को स्वीकार कर सकते हैं और अज्ञेय को अस्वीकार। नया लेखक जब पन्त और अज्ञेय दोनों को अस्वीकार करता है तो इसलिए कि दोनों ही उसे मूलतः रोमान्टिक जान पड़ते हैं। रामविलासजी छायावाद की अस्वीकृति के समानान्तर आधुनिक साहित्य को रखते हुए उसकी समस्याओं को समझने की कोशिश करते तो उनके निष्कर्षों में वह अति-सरलीकरण न होता, जो अभी है। छायावाद की पूर्ण अस्वीकृति का क्या अर्थ है? अस्वीकृति ही क्या काफ़ी नहीं है? निराला को स्वीकार करने और छायावाद को अस्वीकार करने के पीछे आखिर कौन-सा दृष्टि-दोष है? मैं यह सवाल सबसे पहले रामविलासजी से ही करना चाहूँगा कि क्या निराला को स्वीकार करने के लिए छायावाद को स्वीकार करना ज़रूरी है? पन्त की बात अलग है। उनकी छायावाद की अनुपयोगिता या अन्त की घोषणा के बावजूद आज भी उनका मूल्यांकन छायावाद के दायरे में ही किया जाएगा, क्योंकि साहित्य या सृजन के प्रति उनकी प्रतिज्ञाएँ ज्यों-की-त्यों क़ायम हैं। नए यथार्थवादी रुझान को निराला के साहित्य की चेतना से सम्पन्न बनाया जा सकता है—अज्ञेय के साहित्य की चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से नहीं—यह ऐसा अन्तर है, जो क्लासिक और रोमान्टिक या रोमान्टिक और आधुनिक—इस तरह के सुविधापूर्ण विभाजनों के लिए सबसे पहली चुनौती है। विचारणीय है कि अन्ततः वे कौनसे विश्वास हैं जो कभी साहित्य को नयी दृष्टि या चेतना देने की आवश्यकता पर सबसे अधिक बल देने वाले एक ही लेखक अर्थात् अज्ञेय को एक साथ क्लासिक और रोमान्टिक दृष्टियों के नज़दीक रख देते हैं। व्यवस्था को अस्वीकार करने वाली रोमान्टिक दृष्टि जब व्यवस्था को बनाए रखने की कोशिश करती है तो उसे नये सिरे से समझने की ज़रूरत हो सकती है। इसी प्रकार आधुनिक काव्य-दृष्टि एक ओर सिर्फ़ खास तरह की सौन्दर्याभिरुचि पर बल देती है और दूसरी ओर सौन्दर्याभिरुचि की माँग को जड़ से ही अस्वीकार करती है—यह भी क्या ऐसा तथ्य नहीं है जो उपर्युक्त विभाजनों की व्यर्थता सिद्ध करता है।

भाषा एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है और उसके स्वाभाविक परिवर्तनों के साक्ष्य पर एक बार फिर उपर्युक्त मान्यताओं एवं आग्रहों पर पुनर्विचार किया जा सकता है। युवा नाटककार हैराल्ड पिन्टर ने उचित ही संकेत किया है कि भाषा—जो हम सुनते हैं उसका सिर्फ़ संकेत है जो हम नहीं सुनते हैं। पर भाषा की शक्ति की परीक्षा यहीं से शुरू होती है—'जो हम सुनते हैं'। इस पर विचार करने की ज़रूरत है कि क्यों उसी यथार्थ की अन्तर्दृष्टि के साथ—जिससे नया लेखक अपनी भाषा को समकालीन अर्थ देता है—अपने को खोजने की प्रतिज्ञा से शुरू होने वाली बहुत-सी आधुनिक कविता की भाषा इतनी यान्त्रिक साबित हो गयी है कि उसमें कहीं भी समकालीनता की छाप नहीं मिलती। अभी हाल में होनेवाली एक बहस में नामवरसिंह ने यह सवाल उठाया भी था कि क्यों 'कितनी नावों में कितनी बार' के कवि अज्ञेय की कविताओं से वे तमाम शब्द खास तौर पर गायब हैं जो समकालीन स्थितियों की झलक देते हैं और समकालीन कविता को जीवन्त और प्रासंगिक बनाते हैं—जैसे जुलूस, या गोली या जनतन्त्र! इसी तरह यह सवाल भी उठाया जाना चाहिए कि किन विश्वासों से या विश्वासों के परित्याग से समकालीन साहित्य का 'खलनायक' पिछले रोमांटिक साहित्य के 'सांस्कृतिक नायक' से ज़्यादा प्रामाणिक और विश्वसनीय हो उठा है। विश्लेषण किया जाएगा तो समकालीन प्रासंगिकता बच्चन, दिनकर या अज्ञेय तक में मुश्किल से मिलेगी जबकि निराला की बहुत-सी कविताएँ और मुक्तिबोध की लगभग सभी कविताएँ गहरे अर्थों में समकालीन हैं। इसी दृष्टि से विचार करते हुए स्वयं इलियट की समझ में एक विभाजन यह भी था—सर्वकालीन क्लासिक और समकालीन क्लासिक। ये तथ्य इस बात के संकेत हैं कि समय के साथ शब्दों के संस्कार या अर्थ बदलते रहते हैं। एक प्रकार का विस्मय रोमांटिक कविता या छायावाद में भी था और एक दूसरे प्रकार का विस्मय शायद आधुनिक साहित्य-दृष्टि के साथ भी देखा जा सकता है। जहाँ एक प्रकार का विस्मय था किसी अज्ञात सत्ता के प्रति—वहाँ दूसरे प्रकार का विस्मय ज्ञात और निश्चित वास्तविकता के प्रति है। ज्ञात वस्तुओं के संसार में जो विस्मय का भाव पैदा होता है परिस्थितियों से तीव्रतर संघर्ष के लिए प्रेरणा या चुनौती बन जाता है जबकि अज्ञात सत्ता के प्रति विस्मय परिस्थितियों से बचकर अपना निजी और सीमित अन्तर्लोक रचने के लिए एक तर्क बन जाता है। विपिनकुमार अग्रवाल ने कुछ पहले एक चर्चा में योग देते हुए कहा था कि एक ही अमूर्तन का उपयोग छायावादी कवि भी करता था और आधुनिक कवि भी करता है—पर एक की प्राप्ति का क्षेत्र कल्पना का संसार था, दूसरे का सीधा यथार्थ। इसी तरह जिस तटस्थता को महेन्द्र भल्ला कहीं ग़ैर-रूमानी प्रवृत्ति ठहराते हैं वही दूसरी जगह जाकर घोर रूमानी प्रवृत्ति साबित होती है। इसलिए इस बहस के क्रम में अधिक उपयोगी होता यह देखना कि रोमान्टिक बनाम आधुनिक भावबोध की व्याख्या के क्रम में इस्तेमाल किए जाने वाले शब्दों के अर्थ किस प्रकार बदलते हैं। रामविलासजी की तरह 'संवाद' में भाग लेने वाले दूसरे लेखकों ने भी इस पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया है, यह आश्चर्यजनक है। अच्छा होता कि यही बहस 'सर्वकालीन बनाम समकालीन' जैसे दो-टूक विषय पर चलायी जाती। तब विचारकों को अपना निश्चित पक्ष ग्रहण करने में आसानी होती और 'अस्पष्ट भाषा' में बात करने की गुंजाइश कम रह जाती जो निश्चय ही 'रोमान्टिक भावबोध' का ही अंग है।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यकारों से—

"एक पुरानी कहावत के अनुसार 'साहित्य को समाज का दर्पण' माना गया है। यह सच है कि मान्यताओं में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन भी होता ही रहता है, किन्तु समाज और साहित्य की अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता होते हुए भी इन दोनों का सम्बन्ध अटूट है।"

"भारतीय रेलें समाज का वह अविच्छिन्न अंग हैं जिनके संचालन में असंख्य व्यक्तियों के श्रम, लगन और निष्ठा के स्वर हर क्षण मुखरित होते रहते हैं। अपने पूरे परिवेश में उनकी व्यापकता की तुलना आज सहज ही नक्षत्रों से की जाती है। इनके जड़ और चेतन उपकरणों की एक सत्ता है, जिनकी अच्छाइयाँ, कमियाँ, उदात्त भावनाएँ प्रश्रय पाने को हर क्षण मचलती रहती हैं।"

"क्या हमारा आज का संवेदनशील साहित्यकार अपनी पैनी दृष्टि और समर्थ लेखनी से इन भावनाओं पर भी दृष्टि डालेगा ? क्या वह रेल की सम्पूर्ण सत्ता को अपनी कृति के माध्यम से स्वीकार करेगा ? यहाँ भी जीवन के वही चित्र उभरते रहते हैं जैसे और कहीं, और कहीं। समय के बदले हुए सन्दर्भ में सीमाएँ टूटनी ही चाहिए।"

जन सम्पर्क अफसर
पूर्वोत्तर रेलवे
द्वारा प्रचारित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगामी अंक में

- डॉ० रामविलास शर्मा की निराला के जीवन से संबंधित आगामी पुस्तक का प्रथम अध्याय जिसमें निराला के प्रारम्भिक जीवन के बारे में अनेक नये तथ्य प्रकाश में लाए गए हैं।
- स्व० गजानन माधव मुक्तिबोध का एक अप्रकाशित निबंध जिसमें कविता की रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है।
- 'युवा लेखन' सम्बन्धी पूरक सामग्री।
- 'भाषा विज्ञान और साहित्य-समालोचना' विषयक विचार-विमर्श।
- 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'माया दर्पण', 'दिनारंभ', 'देहान्त से हटकर', 'फेंस के इधर और उधर', 'अलग अलग वैतरणी', 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' की समीक्षाएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राजकमल' के १९६७ के श्रेष्ठ प्रकाशन

आलोचना

सौन्दर्यशास्त्र के तत्व	डॉ० कुमार विमल	१२.५०
प्रेमचन्द और उनका युग	डॉ० रामविलास शर्मा	७.५०

उपन्यास

मित्रो मरजानी	कृष्णा सोबती	३.००
सीधी-सच्ची बातें	भगवतीचरण वर्मा	१५.००
रुक्मिणी-हरण	कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी	१२.००
माटी के लोग सोने की नैया	मायानन्द मिश्र	६.००
एक पति के नोट्स	महेन्द्र भल्ला	३.००
मुख्य मन्त्री	चाणक्य सेन	८.००
देहरी के आर-पार	केशवप्रसाद मिश्र	५.००
झरोखे	भीष्म साहनी	४.००
बबूल	विवेकीराय	५.००
शून्य की बाँहों में	शान्ति जोशी	४.००

नाटक

जौहर की ज्योति	डॉ० रामकुमार वर्मा	३.५०

काव्य

कविता और कविता	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	२०.००
किरण वीणा	सुमित्रानन्दन पन्त	८.००
पुरुषोत्तम राम	सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
पौ फटने से पहिले	सुमित्रानन्दन पन्त	८.००
बहुत रात गए	नरेन्द्र शर्मा	८.००
तमसा	जानकीवल्लभ शास्त्री	४.००
प्यास की आग	सरदार जाफरी	७.००
आत्महत्या के विरुद्ध	रघुवीर सहाय	५.००

कहानी

युद्ध के बाद	जीग्रिड काले	४.००
पेपरवेट	गिरिराज किशोर	३.५०
पिछली गर्मियों में	निर्मल वर्मा	५.००
मेरा दुश्मन	कृष्णबलदेव वैद	४.२५

कोश

वनस्पति कोष	डॉ० एस० के० जैन	१०.००
शिक्षा-विज्ञान कोश	डॉ० सीताराम जायसवाल	१६.००

समाजशास्त्र

शाल वनों का द्वीप	शानी	४.५०
भारतीय ग्राम : सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक विकास	डॉ० पूरनचन्द्र जोशी	६.५०
आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन	एम० एन० श्रीनिवास	१०.००
समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना	बुद्धसेन चतुर्वेदी	७.५०

यात्रा-विवरण

मेरी जीवन-यात्रा-३	महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन	८.००
मेरी जीवन-यात्रा-४	" "	११.००
मेरी जीवन-यात्रा-५	" "	१५.००

संस्मरण

जिन्दगी का लहजा	पी० डी० टन्डन	४.५०

सामुदायिक विकास

भावी भारत की रूपरेखा	प्रो० वर्गीज	१२.५०

दर्शन

वैज्ञानिक परिदृष्टि	बर्ट्रेंड रसेल	१०.००
ज्ञान और सत्	यशदेव शल्य	६.००

इतिहास

जानने की बातें-६	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	३.००
जानने की बातें-७	" "	३.००

बालोपयोगी

हमारे पड़ोसी	आशा मलैया	२.००
देश-देश की बातें	डॉ० महेन्द्र भटनागर	१.५०
घड़ियालों की बारात	द्रोणवीर कोहली	१.५०

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5-9-68

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सम्पादक : डा० नामवर सिंह

त्रैमासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

काव्य की रचना-प्रक्रिया — गजानन माधव मुक्तिबोध — १

काव्य भाषा और शैली-विज्ञान — रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव — ११

सम्प्रेषणीयता : कुछ कथन — धर्मेन्द्र गोयल — २१

'साधारणीकरण' का द्वन्द्व न्याय — रमेश कुंतलमेघ — २५

पहले ये, बस, फैलाव (कविता) — कान्ता — ३०

नैतिक मूल्य — यशदेव शल्य — ३२

● **भारतीय परिप्रेक्ष्य**

मराठी नवलेखन और विद्रोह — प्रभाकर माचवे — ४१

तेलुगू की दिगम्बर पीढ़ी : एक ऐतिहासिक आवश्यकता — निखिलेश्वर — ५०

’५० के लेखक, एस्टाब्लिशमेंट और

खाली नाव (बँगला) — सन्दीपन चट्टोपाध्याय, अनु० कंचनकुमार — ५३

तीन कविताएँ — कैलाश वाजपेई — ५७

लीलाधर जगूड़ी — ५९

श्रीराम तिवारी — ६०

● **प्रासंगिकी**

मार्क्स की १५०वीं वर्षगाँठ पर — मोहित सेन — ६३

● **विशेष**

सुर्जकुमार तेवारी — रामविलास शर्मा — ६७

● **नाट्य रंग**

हिन्दी का नया नाटक साहित्य — विष्णुकांत शास्त्री — ८९

● **मूल्यांकन**

आत्महत्या के विरुद्ध (रघुवीर सहाय)—नेमिचन्द्र जैन — ९७

मायादर्पण और दिनारम्भ (श्रीकांत वर्मा)—विष्णु खरे — १०१

आदिम रात्रि की गंध (फणीश्वरनाथ रेणु)—प्रयाग शुक्ल — ११०

समुद्र (रामकुमार) — ११२

पूर्णांक ४२, अप्रैल–जून १९६८, इस अंक का रु० ३.०० वार्षिक रु० १२.०० रजिस्ट्री से रु० १४.४०

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी/८/एस ई–/लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८

दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य की रचना-प्रक्रिया

गजानन माधव मुक्तिबोध

रचना-प्रक्रिया के संबंध में मतों की भिन्नता स्वाभाविक है। इसका एक कारण तो यह है कि रचना-प्रक्रियाएँ स्वयं भिन्न-भिन्न होती हैं। वे कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु के अनुसार, बनती-बदलती रहती हैं। रचना-प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य-रूप नहीं है, यद्यपि यह सही है कि उस प्रक्रिया के मूल तत्त्व सर्व-सामान्य हैं।

इस बात को हम यों समझें। संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना, बुद्धि-तत्त्व सर्व-सामान्य हैं। उनके कार्य के बिना रचना-प्रक्रिया संभव नहीं है। किन्तु, इन तत्त्वों की विभिन्न मात्राओं, विभिन्न अनुपातों और विभिन्न प्रकार के योगों से विभिन्न विशिष्ट रूप प्राप्त होते हैं। ये योग विभिन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार घटित होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य रचनाशील मन की अपनी निधि हैं, और उस पूरे अन्तर्जगत् का अंग हैं कि जो अन्तर्जगत् कवि ने पाया और विकसित किया है। यह अन्तर्जगत् बाह्य जगत् का आत्मकृत संशोधित-सम्पादित अन्तस्संस्कृत रूप है, और उस क्रिया-प्रतिक्रिया की गतिमान परम्परा की उपज है कि जो क्रिया-प्रतिक्रिया लेखक बाल्यकाल से बाह्य के प्रति करता आया है। संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया के भीतर, न केवल भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य होते हैं, वरन् वह जीवनानुभव होता है, जो लेखक के अन्तर्जगत् का अंग है, वह व्यक्तित्व होता है जो लेखक का अन्तर्व्यक्तित्व

गजानन माधव मुक्तिबोध की अप्रकाशित पांडुलिपियों की छानबीन में प्राप्त यह निबंध पहली बार 'आलोचना' में प्रकाशित हो रहा है। निबंध की पांडलिपि श्री रमेश मुक्तिबोध के सौजन्य से प्राप्त हुई है। 'आलोचना' आगामी अंकों में भी मुक्तिबोध की अन्य अप्रकाशित कृतियाँ प्रकाशित करेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, वह इतिहास होता है, जो लेखक का अपना संवेदनात्मक इतिहास है। और, केवल यही नहीं होता।

बाह्य से प्राप्त ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा लेखक के अन्तर्जगत् में स्थान पाकर, उसके (लेखक के) व्यक्तित्व की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में, अपने विभिन्न रूप (उसके हृदय में) गठित करती हुई उसकी अपनी ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा बन जाती है। बाह्य से प्राप्त ज्ञान और भाव लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व में ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे उसके निजी हो जाते हैं। इसीलिए, कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता, वह अपने युग का अंग होता है।

काव्यकला-संबंधी जितनी भी समस्याएँ हैं वे इस पूरी-की-पूरी प्रक्रिया के किसी स्तर-विशेष से संबंधित होती हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी समस्याएँ लीजिए जिनको पुराने प्रगतिवाद ने उठाया। कहा गया कि लेखक को अपने युग का सही-सही प्रतिनिधित्व करना चाहिए, इस प्रकार से कि वह, युग की ह्रासशील दशा के विरुद्ध प्रगतिशील प्रवृत्तियों को उभारे, समाज में जो शक्तियाँ विषमता, अनाचार और उत्पीड़न को कायम रखना चाहती हैं, उनके विरुद्ध वह साम्य-मूलक समाज के आदर्श की स्थापना करे और पाठक को वैसी प्रेरणा प्रदान करे।

इस प्रकार के आग्रह के विरोध में जो कहा गया वह सबको विदित है, यह कि लेखक स्वतंत्र है, और नेताओं तथा शासकों के आदेश को मानने के लिए वह बाध्य नहीं है, कि इस प्रकार के आग्रहों से, साहित्य में रेजीमेन्टेशन होता है।

ये सब विवाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास की वस्तु हो गये हैं। किन्तु, इस विवाद के मूल कारण-स्रोत, भले ही आँखों से ओझल हो जाएँ, वे लुप्त और नष्ट नहीं हुए हैं। आज भी लेखक के दायित्व की बात की जाती है। यही क्यों? एक के देखादेखी दूसरा भी एक ही प्रकार के भाव और शैली का प्रयोग करता है, एक ही प्रकार की परम्परा और प्रणाली को अपनाता है, और इस प्रकार एक विशेष प्रकार के काव्य की विशिष्ट धारा और रूढि बन जाती है, भाव-रूढि, रूप-रूढि, शैली-रूढि। हाँ, यह सही है कि कवि-स्वभाव के अनुसार, किंचित् भेद यत्र-तत्र दिखाई देता है। फिर भी, वह काव्य-प्रवृत्ति प्रणाली और रूढि का रूप तो धारण कर ही लेती है, भले ही विशिष्ट कवियों में हमें विशिष्ट भिन्नताएँ भी दिखाई दें, जैसे प्रसाद और महादेवी के काव्य में, या शमशेर तथा उसी शैली के किसी दूसरे कवि में। तो क्या युग स्वयं रेजीमेन्टेशन नहीं करता!! रीतिकाल में विशिष्ट शैली और विशिष्ट भाव-प्रणाली की कविता ही क्यों हुई? क्या वह रेजीमेन्टेशन नहीं था!! और हम अपने युग की शृंखालाओं को भी क्यों स्वीकार करें!! यह सही है कि कोई भी लेखक अपने व्यक्तित्व से, अपने इतिहास से अर्थात् अपने देश-काल से स्वतंत्र नहीं है। किन्तु, जब वह सचमुच स्वतंत्र होने का प्रयत्न करता है तो इसका अर्थ यह है कि युग बदलने के लक्षण सामने आ रहे हैं तो दूसरी ओर यह भी कि लेखक आदर्श अनुगमन करने के लिए भीतर से बाध्य हो उठा है, क्योंकि (उपर्युक्त अर्थ में) स्वतंत्रता, वस्तुतः एक आदर्श है, वह वास्तविकता नहीं है। अपनी युग की सीमाओं के परे देखकर, परे जाकर, आगे के मार्ग को देखना महत्त्वपूर्ण घटना है। इस बात को हम कैसे भूल सकते हैं।

आज भी हमें (नये कवियों को) भारतीय संस्कृतिवादी पुरोहित पाठ पढ़ाते रहते हैं, कि कवियों को यह करना चाहिए, वैसा होना चाहिए। और, इस प्रकार के आग्रह और प्रश्न आगे भी उठते रहेंगे।

इन सारे प्रश्नों का संबंध कवि के अन्तर्जगत् से है। कवि से जब हम यह कहते हैं कि उसे ऐसा करना चाहिए और वैसा नहीं लिखना चाहिए, तो, वस्तुतः हम उसके अन्तर्जगत् (और उसके अन्तर में स्थित जीवन-मूल्य-पद्धति) पर आक्षेप कर रहे हैं। इस प्रकार के आग्रह उसके अन्तर्जगत् में संशोधन करने के आग्रह हैं।

ये आग्रह ग़लत हैं, या सही हैं, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। इस प्रकार के बाह्य से उद्गत आग्रह, स्वयं लेखक मान सकता है। ठीक यहीं लेखक की सिनसियारिटी का प्रश्न उठता है। बाह्य से उद्गत आग्रहों को मानने वाले ऐसे बहुतेरे लेखक हो सकते हैं, जो **अवसरवादी प्रेरणाओं से** वैसा मानने के लिए तैयार हों, और बाह्य से उद्गत आग्रहों को स्वीकार कर लें। किन्तु, कुछ लेखक निःसन्देह ऐसे भी हो सकते हैं जो **स्वेच्छापूर्वक और आत्म-प्रेरणापूर्वक** इन बाह्योद्गत् आग्रहों को मानें और उन आग्रहों में प्रकट जीवन-दृष्टियों को आत्मसात् करें, उन दृष्टियों को ही अपने अन्तर्जगत् का अंग बना लें। लेखक की सिनसियारिटी का प्रश्न, वस्तुतः, उसके अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। यदि वह अभिव्यक्ति कृत्रिम है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो निःसन्देह वहाँ सिनसियारिटी नहीं है। किन्तु कृत्रिमता केवल इन सिनसियारिटी की ही उपज नहीं होती, वह अकवित्व की उपज होती है अर्थात् अन्तर्जगत् की निर्जीवता और जड़ता का प्रमाण हो सकती है।

इसी प्रकार का प्रश्न कवि की निःसंगता का प्रश्न है। जब बाह्य से आग्रह बलवान होते हैं और कवि उनके दबाव को सह नहीं पाता तो वह अपनी मूलभूत निःसंगता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहता है कि सृजन अकेले में होता है, साहित्य व्यक्ति की उपज है, जो व्यक्ति के लिए है (बाह्य आग्रहों के दबाव और प्रभाव के निरोध के लिए, प्रति-रोध के लिए, उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया जाता है।)

यह सही है कि सृजन अकेले में होता है। ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं, जो बिलकुल अकेले में होती हैं। कहा जा सकता है कि वहाँ भी संग होता है। किन्तु, फिर भी, वह ऐकान्तिक संग समाज-स्वीकृत या समाज-निन्दित होता है। संक्षेप में, मनुष्य की ऐकान्तिक दशा भी समाज के लिए विचारणीय होती है, बशर्ते कि उसका कोई सामाजिक परिणाम हो या सामाजिक प्रभाव हो। ठीक इसी प्रकार, सृजन की ऐकान्तिकता में भी सहचरत्व होता है, संग होता है। इस संग या सहत्व के बिना सृजन संभव नहीं है। इस सृजन का परिणाम अर्थात् कलाकृति, पाठकों के हाथ में जाने पर, समाज में प्रवेश करती है, और समाज में अपना प्रभाव उत्पन्न करती है; इसीलिए समाज उस पर सोचता-विचारता है, और जिस कलाकृति का श्रेष्ठतम प्रभाव उत्पन्न होता है, उसका रचयिता समाज द्वारा पूज्य होता है।

संक्षेप में, इस प्रकार के जितने भी प्रश्न हैं वे कलाकार द्वारा आभ्यन्तरी-कृत जगत् से सम्बन्ध रखते हैं, अथवा आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं, या कलाकार की उस स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं कि जब कलाकार स्वतः-संस्कृत आभ्यन्तरीकृत जगत् की अभिव्यक्ति करता है अर्थात् सृजन करता है। इसीलिए, कलाकृति में व्यक्त व्यक्तित्व की भी आलोचना की जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि अमुक कवि की अतिभावुकता अवांछनीय है अथवा उसकी भाव-दृष्टि में दोष है, अथवा लेखक साम्प्रदायिक (धार्मिक अर्थ में नहीं) दृष्टि से जीवन-जगत् की व्याख्या करता है अपनी कलाकृति में, इत्यादि-इत्यादि। दूसरे शब्दों में, कला-कृति में प्रकट अन्तर्जगत् और कवि के व्यक्तित्व की समीक्षा और उसका मूल्यांकन किया जाता है, कहा जाता है कि यह भाव कृत्रिम है, या इसमें लेखक की ईमानदारी है या उसने जीवन को खूब देखा-परखा है।

आलोचना की दृष्टि से जो बात सबसे पहले सामने आती है, कवि-कर्म और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से वह सबसे अन्तिम है। रचना-प्रक्रिया के प्रवाह में रहकर लेखक, अपने भावों की, शब्दों से, तुलना करता है, जो शब्द सर्वाधिक प्रातिनिधिक हैं उनकी योजना करता है, वह शब्द-साधना करता है; साथ ही, संगति और निर्वाह को साधता चलता है, वह अपने ही भावों के उत्स को संयमित कर, उनका सम्पादन-संशोधन करता है—संगति और निर्वाह के हेतु। जब उसकी शब्दाभिव्यक्ति, उसी के लिए, रमणीय हो जाती है, तब वह संतुष्ट हो जाता है, भले ही आगे चलकर वह उसमें, नवीन-प्राप्त सूक्ष्म-दृष्टि के अनुसार, फिर से संशोधन करे।

किन्तु, पाठक और आलोचक, किसी कलात्मक अभि-व्यक्ति के सिंहद्वार से, सीधे अन्तर्जगत् में प्रवेश करते हैं, वह अन्तर्जगत् जो किसी कलाकृति में उद्घाटित हुआ है, वह अन्तर्जगत् जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व, उसके जीवना-नुभव, उसकी भाव-दृष्टि समायी हुई है। पाठक-आलोचक का मन उस अन्तर्जगत् में रमता है, उसका रस लेता है, उसमें विचरण करता है, और यदि उस अन्तर्जगत् में उसे कहीं (अपने लिए) बाधा दिखाई दी तो वह वहाँ ठहर जाता है और सोचने लगता है। उसे कलाकार का अन्तर्जगत्, उसमें समाया हुआ व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि आकर्षित करती है और वह यह ढूंढ़ने लगता है और पा जाता है कि वह भाव-दृष्टि उसके लिए (और सभी के लिए) क्यों महत्त्वपूर्ण है, या नहीं है।

संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया का जो सर्वाधिक मूल-स्थित, सर्वाधिक प्रच्छन्न किन्तु क्रमशः, प्रकट होनेवाला जो अंश है, वह पाठक और आलोचक के लिए सर्व-प्रथम है। कलाकार, रचना के समय, शब्दाभिव्यक्ति के संघर्ष में, संगति और निर्वाह के संघर्ष में, भावों के उत्स को प्रातिनिधिक रूप देने के यत्न में लीन होता है। यह उसका तात्कालिक संघर्ष है। पाठक-आलोचक का यह तात्कालिक यत्न नहीं है। कलात्मक अभिव्यक्ति उसके लिए कलाकृति का केवल सिंहद्वार है, जिसमें से गुज़रकर वह अन्तर्जगत् के क्षेत्र में विचरण करता है। इसीलिए, मैंने कहा कि पाठक-आलोचक के ध्यान का जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राथमिक केन्द्र है, वह अन्तर्जगत् है और रचयिता के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत् की प्रातिनिधिक शब्दाभिव्यक्ति और कलात्मक संगति और निर्वाह।

कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंहद्वार में से गुज़रकर, अन्तर्जगत् में विचरण कर चुकने, रस ले चुकने, व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि का प्रभाव ग्रहण कर चुकने के उपरान्त, पाठक-आलोचक, अन्तर्जगत् के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही, सहसा सोचने लगता है कि प्रभाव उत्पन्न करने के वे उपादान कौन-कौनसे हैं, जिन्होंने सफल अभिव्यक्ति की तैयारी की अथवा सफलता के मार्ग पर चलते-चलते लेखक ने कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न कर दीं। संक्षेप में, अब वह रूप और शिल्प के सम्बन्ध में सोचने लगता है। संक्षेप में, किसी कलाकृति को लेकर, पाठक-आलोचक की यात्रा भिन्न दिशा की ओर होती है, सृजन करते समय कलाकार की यात्रा उसके विपरीत दिशा की ओर होती है। इस तथ्य को हृदयंगम करना आवश्यक है।

तब समझ में आयेगा कि जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया कलाकार के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है। यह प्रक्रिया कलाकार के वास्तविक जीवन में चलती रहती है; किन्तु क्या वह समुचित रूप से और प्रबुद्ध दृष्टि से मुक्त होकर चलती रहती है? यदि कलाकार का जीवन, उसका बाह्य और मानसिक जीवन तुच्छ है, अर्थात् नव-नवीन संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं से हीन है, यदि उसमें उदार सहानुभूतियों का विस्तार नहीं है, यदि उसमें नितान्त आत्मबद्धता है, तो फिर ऐसा अन्तर्जगत्, कलाभिव्यक्ति के लिए महत्त्वहीन है। संक्षेप में, उस अन्तजगत् में महत्त्व की सूचनाएँ चाहिए। [यहाँ महत्त्व का अर्थ है, जो महत्त्वपूर्ण है वह]

यही कारण है कि आदिकाल से कवि को महान् माना गया है, उसके अन्तर्जगत् में महत्त्व की स्थापना को देखकर। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि कवि को अध्यात्मवादी, आदर्शवादी, अमुक-तमुक-वादी होना चाहिये। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि कवि के अन्तर्जगत् की ओर आदिकाल से ध्यान गया है, और उसके महत्त्व की स्थापना की गई है।

किन्तु, आधुनिक युग में, जबकि व्यक्ति पर तरह-तरह के दबाव हैं, उनमें से एक दबाव समाज का भी होता है। उसी प्रकार, कलाकार पर भी समाज का दबाव होता है। समाज के दबाव के माध्यम भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। परम्परा का वहन समाज का दबाव नहीं तो क्या है। उसी प्रकार, प्रचलित काव्य-प्रणाली से अपनी संगति एक अन्य प्रकार का सामाजिक दबाव ही है। हाँ, यह सही है कि ये दबाव प्रत्यक्ष नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष होते हैं। जिस प्रकार इनडायरेक्ट टैक्सेशन (अप्रत्यक्ष कर-व्यवस्था) उपभोक्ता को नहीं खलती, उसी प्रकार समाज के अप्रत्यक्ष दबाव भी सामने नहीं आते, किन्तु, बराबर सक्रिय रहते हैं।

उसी प्रकार, वैचारिक आन्दोलन के रूप में भी कई सामाजिक दबाव होते हैं। ये विशेष आग्रहों, अनुरोधों का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार के विशेष आग्रह-अनुरोध कभी केवल कलात्मक शब्दावली का रूप भी धारण करते हैं। कला के एक विशेष पैटर्न के आग्रह, कला-सम्बन्धी एक विशेष भाव-दृष्टि के आग्रह, कोई वैचारिक दृष्टि अपनाने के आग्रह, लोकोपयोगी कला-सृजन करने के आग्रह सब वस्तुतः सामाजिक दबाव ही हैं, किसी में किसी भाव-दृष्टि का आग्रह है तो किसी में किसी पैटर्न का आग्रह।

ये सब दबाव या आग्रह उचित होते हैं, यह कहना गलत है, उसी प्रकार ये सब अनुचित होते हैं यह कहना भी उतना ही गलत है। उनमें से बहुत से आग्रह न केवल सही वरन् पूर्णतः उचित हो सकते हैं।

किन्तु, आग्रह-कर्ता जब एक वातावरण निर्मित करके कलाकार पर दबाव लाना चाहते हैं तो वे यह नहीं देखते कि दबाव का, वस्तुतः क्या प्रभाव होगा। हाँ यह सही है कि ऐसे बहुतेरे निकल आते हैं जो अपनी अपरिपक्वावस्था के कारण, अथवा विशुद्ध अवसरवादी दृष्टि से प्रेरित होकर, दबाव ग्रहण करके, उस दबाव के अनुसार कलाकृति प्रस्तुत करते हैं, चाहे घटिया ही क्यों न सही। शेष, जो दबाव स्वीकार करना नहीं चाहते, और चाहते हुए भी नहीं ही कर सकते, वे चुप बैठ जाते हैं, अलग हट जाते हैं और तिरोहित होने में ही अपना कल्याण समझते हैं। मेरे ख़याल से ये दोनों परस्पर-विपरीत प्रतिक्रियाएँ या परस्पर-वैपरीत्य सही भी हो सकता है, ग़लत भी। यह विशेष परिस्थिति पर निर्भर है कि कौन-सा गलत है, कौन सा सही।

किन्तु, इन आग्रहों की आधार-भूमि, इन आग्रहों के मूल-स्रोत यदि व्यापक मानवीय सहानुभूति और करुणा से समन्वित हैं, यदि किसी व्यापक मानवीय आदर्श से प्रेरित हैं तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अनुमान करना ग़लत नहीं कि उन्हीं व्यापक सहानुभूतियों और व्यापक मानवीय आदर्शों का कुछ-न-कुछ तत्त्व या कुछ-न-कुछ अंश लेखक भी अपने में आत्मसात किये हुए है। अतएव, किसी सामान्य भूमि पर आग्रह-कर्ता और लेखक दोनों एकत्र हो सकते हैं, बशर्ते कि (और यह बड़ी शर्त है) आग्रह-कर्त्ता महोदय रचना-प्रक्रिया में भी सूक्ष्म दृष्टि रखते हों, और उस रचना-प्रक्रिया का एक सिरा अर्थात् लेखक के हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभव, जीवनानुभवों के सामान्यीकरण (ज्ञान) और भाव-दृष्टि को खूब समझते हों। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल छायावादी रचना-प्रक्रिया को नहीं समझते थे, इसीलिए, उसका विरोध करते रहे। अधिक-से-अधिक, छायावाद को उन्होंने 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' ही माना। डॉ० रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी या नई कविता में, 'असुन्दर' और 'विद्रूप' से अधिक कुछ नहीं दिखता। शिवदानसिंह चौहान को इस बात का खेद है कि आज की कहानी में 'कथानक' तत्त्व का लोप हो रहा है। अतएव, ऐसे आलोचकों के आग्रह, रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में, लादे जा रहे-से और खोखले मालूम होते हैं। कारण यह कि नई प्रकृतियों और प्रवृत्तियों की रचना-प्रक्रिया में सूक्ष्म-दृष्टि रखने के लिए, आलोचक को संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान आवश्यक है—ऐसे जीवन का ज्ञान जो नवीन प्रवृत्ति-रूप में सामने आया हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके आग्रह, उनके अपने मान्यता रूप में, स्वभावतः गलत हैं, नहीं, वे सही भी हो सकते हैं। किन्तु, जब तक वे लादे जाएँगे, रचना-प्रक्रिया में, सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में, वे खोखले और निरुपयोगी ही साबित होंगे, और अपने-आपमें उनके सहीपन के बावजूद उनका विरोध होता ही रहेगा।

दूसरी ओर, भले ही कोई लेखक, वैचारिक दृष्टि से कोई बाह्य आग्रह स्वीकार कर ले, जब तक उस आग्रह के तत्त्वों का आभ्यन्तरीकरण नहीं होता, जब तक अन्तर्जगत् के तत्त्वों में उसका रंग नहीं चढ़ जाता, जब तक वह हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभवों का एक भाग नहीं बन जाता, तब तक उस आग्रह के अनुरूप रचित साहित्य निष्प्राण और कृत्रिम ही रहेगा। लेखक के लिए मुख्य बात आभ्यन्तरीकरण की है। आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया केवल विचार तक सीमित नहीं है, वह उससे ज्यादा गहरी, व्यापक और मानसिक है। जब तक लेखक अपने स्वयं के जीवनानुभवों से प्राप्त दृष्टि के रूप में उन्हें नहीं पाता, तब तक आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई यह समझना चाहिए। सच्चा आभ्यन्तरीकरण तो तब होता है, जब कि लेखक जिन्दगी में गहरा हिस्सा लेते हुए संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान प्राप्त करके उसी भाव-दृष्टि तक स्वयं अपने-आप पहुँचता है कि जो भाव-दृष्टि आग्रह रूप में बाहर से उपस्थित की गई है।

आग्रह कई प्रकार से उपस्थित होते हैं। कुछ कला के नाम पर, कला की शब्दावली में, प्रस्तुत होकर, साहित्य-जगत् का शासन भी करने लगते हैं। कुछ समय तक उनका शासन चलता भी है, लेकिन समाज और राष्ट्र की भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न पीढ़ी कला की शब्दावली में छिपे आग्रहों की निन्दा करती है। उदाहरणतः, सन् १९६० के सैटरडे रिव्यू में टी० एस० इलियट के विरुद्ध जबर्दस्त आक्रमण के रूप में लिखा हुआ कार्ल शैपिरो का लेख। महत्त्व की बात यह है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ भाव-दृष्टि बदलने लगती है और यथार्थ के नये-नये पहलू सामने आते हैं, जिन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए, उपयुक्त शब्द-सम्पदा और परम्परा नहीं होती। लेखक को नये सिरे से प्रयत्न करना पड़ता है। भले ही पुरानी पीढ़ी को नई पीढ़ी के काव्य में कोई सौन्दर्य न दिखाई दे, किन्तु नई पीढ़ी को उसमें ही अपना आत्म-प्रकाश अतः सौन्दर्य दिखाई देता है। पुराने लेखक आग्रह-रूपी अस्त्रों से नयों का वध करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। मज़ा यह है कि आग्रह कला और सौन्दर्य के नाम पर होते हैं, फिर भी नवीन प्रवृत्ति वालों को वे स्वीकरणीय नहीं हो पाते।

संक्षेप में, यथार्थ परिवर्तनशील होता है। अतएव, आग्रह भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो कला या दृष्टि के नाम पर, परिवर्तन-क्रम की पिछली अर्थात् विगत कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं और वे जो परिवर्तन-क्रम की अगली कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं। यह अगला या पिछलापन यथार्थ के परिवर्तन-क्रम को देखकर पहचाना जाना चाहिए, न कि वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता की दृष्टि से। ऐसा मैं क्यों कह रहा हूँ ?

यह करना इसलिए आवश्यक है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन से और यथार्थ के नये-नये पहलुओं के खुलने से उनके आभ्यन्तरीकरण के द्वारा लेखक का जो संवेदनात्मक वैयक्तिक इतिहास बनता है वह इतिहास पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवियों से सर्वथा भिन्न होता है, अतएव इस नवीन प्रवृत्ति वाले की रचना-प्रक्रिया भी बदल जाया करती है और तदनुसार अभिव्यक्ति शैली भी। अमरीका में आज नवीन काव्य-शैली का जो प्रचलन है, उसके विरुद्ध पुराने कवियों का आक्रोश सर्वथा स्वाभाविक है। उसी प्रकार, नवीन काव्य-शैली वालों को अपने अस्तित्व के लिए पुरानों का प्रतिरोध करना पड़ता है। यह विरोध वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता का परिणाम नहीं है, वरन् एक काव्य-प्रवृत्ति की विशेष पैटर्न को और उसके साथ उसके अन्तर्गत समाये (विगत) जीवन-तत्त्वों को समेटे रखने और स्थायी बनाने का प्रयत्न है। इसके विरुद्ध नये का विद्रोह होना स्वाभाविक ही है। दूसरे शब्दों में, पुरानी पीढ़ी के लोग, नयी पीढ़ी के लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत् और आभ्यन्तीकरण-प्रक्रिया में विकसित भाव-दृष्टि और उन दोनों से उत्पन्न अभिव्यक्ति-प्रक्रिया, इन सबको असुन्दर, निषिद्ध और बेकार ठहराने का प्रयत्न करते रहते हैं, कभी कला और सौन्दर्य के नाम पर, कभी आध्यात्मिक आदर्श के नाम पर, कभी सामाजिक प्रगति के नाम पर।

इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखक, वैचारिक अथवा भावना की दृष्टि से, जन-विरोधी, लोक-विरोधी, प्रगति-विरोधी हो नहीं सकता। वह बराबर हो सकता है और उसका वैसा होना दिखाई भी देता है। किन्तु, किसी लेखक की विचार-धारा पर आक्रमण करना एक बात है, आभ्यन्तरीकृत यथार्थ की कविकृत व्याख्या पर आघात करना एक बात है, किन्तु, उस पूरी काव्य-प्रणाली पर चोट करना एक अलग बात है, उस पूरी रचना-प्रक्रिया और अभिव्यक्ति शैली पर आघात करना बात ही दूसरी है। जिस प्रकार, आदर्श के शब्द-व्यापार में नितान्त अवसरवाद और बेईमानी दिखाई देती है उसी प्रकार, यथार्थ के उद्घाटन के नाम पर भी अयथार्थ और कृत्रिमता भी सामने आती है। यह तो विशिष्ट-विशिष्ट लेखक की विशिष्ट-विशिष्ट रचनाओं को सामने रखकर ही तय किया जा सकता है।

संक्षेप में, लेखक की रचना-प्रक्रिया के प्राथमिक और निगूढ स्तर अर्थात् लेखक का अन्तर्जगत्, लेखक के अन्तर्जगत् का संवेदनात्मक पुञ्ज, लेखक का समग्र व्यक्तित्व पाठक और आलोचक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है और उसके आकलन के माध्यम से रस ग्रहण होता है। अतएव, सबसे अधिक वाद-विवाद, सबसे ज्यादा बहस इसी को लेकर होती है।

क्यों होती है? इसलिए कि संवेदनात्मक अन्तर्जगत् अर्थात् जीवनानुभव, रचना-प्रक्रिया के दौरान में, अपने विशेष संवेदनात्मक उद्देश्यों को लेकर अवतीर्ण होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य एक ओर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व के एक भाग हैं, उसके अनुभवात्मक इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं, उसने जो कुछ आत्मसात् किया है, जो कुछ पाया और खोया है, उससे नाता रखते हैं, उसकी विद्यमान जीवन-स्थिति और मनोदशाओं से सम्बन्धित रहते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। रचनाओं में प्रकट इन संवेदनात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही कवि के अन्तर्व्यक्तित्व का, उसके अनुभवात्मक जीवन का, उसकी भाव-दृष्टि का हमें अनुमान होता है। इस प्रकार वे एक ओर अन्तर्व्यक्तित्व को तो दूसरी ओर रचना को एक दूसरे से जोड़ देते हैं।

जीवन में जो कुछ अर्जित है, जो कुछ संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के रूप में प्राप्त है, अर्थात् जो कुछ विशिष्ट अनुभव हैं, और जीवन-जगत्-सम्बन्धी जो कुछ आत्मकृत सामान्यीकरण हैं, जो भी जीवन-मूल्य आत्मसात् किए हैं, और जिनके लिए संघर्ष किया है, जो संस्कार, जो आदर्श, जो यथार्थ हृदय का अनन्य अंग बन गया है, वह सबका सब, स्थिर रूप में, व्यक्तित्व का अंग होता है। दैनिक जीवन के दैनिक कार्यों में व्यस्त रहने से हम उस सौन्दर्य-क्षण से दूर रहते हैं, जब मन द्रवित हो जाता है, कल्पना सक्रिय होकर चित्र उपस्थित करते हुए हमें जीवन के रस में डुबोने सी लगती है, जब हम गहन होकर विस्तृत होने लगते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे क्षण, हमें अपने अकेले में किसी कमरे में किसी टेबल के पास मिलें और लेखनी लेकर बैठने के लिए मजबूर करें। बिलकुल नहीं। डूबकर फैलने के ये निजी क्षण रास्ते चलते, बात करते, या कभी-कभी बिलकुल भीड़ में या एकान्त में भी मिल सकते हैं, यह भी आवश्यक नहीं है कि ये क्षण हमें अभिव्यक्ति के लिए मजबूर करें। फिर भी ये अद्वितीय क्षण हैं, प्रतीति के क्षण हैं, क्योंकि ये सौन्दर्य के क्षण हैं, रसात्मक क्षण हैं, सौन्दर्य-क्षण हैं। ये क्षण केवल कलाकार को ही प्राप्त नहीं होते, वे सामान्य जन को भी प्राप्त होते रहते हैं, इन्हीं क्षणों से समृद्ध पाठक, आत्माभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति से दूर रहकर भी, अन्य द्वारा रचित कलाकृति में अपनी अभिव्यक्ति देखता है। ये क्षण मानवता के लक्षण हैं, उस मानवता के—जो व्यक्ति और देश से ऊपर रहते हुए भी प्रत्येक हृदय में समायी हुई है।

'स्व' से ऊपर उठना, खुद की घेरेबन्दी तोड़कर, कल्पना-सज्जित सहानुभूति के द्वारा अन्य के मर्म में प्रवेश करना मनुष्यता का सबसे बड़ा लक्षण है। इस प्रकार की व्यापक और उदार सहानुभूति—कल्पनाशील सहानुभूति, मानवता के पिछले इतिहास ने, साहित्य और धर्म ने, कला और संस्कृति ने, संस्कार-रूप में, हमें प्रदान की है। यही नहीं, बुद्धि स्वयं अनुभूत विशिष्टों का सामान्यीकरण करती हुई, हमें जो ज्ञान प्रस्तुत करती है, उस ज्ञान में, 'निबद्ध' 'स्व' से ऊपर उठने, अपने से तटस्थ रहने, जो है उसे अनुमान के आधार पर और भी विस्तृत करने की प्रवृत्ति होती है। भाषा स्वयं सामान्यीकरणों से उत्पन्न है। इस प्रकार, एक ओर तटस्थ रहकर तो दूसरी ओर अपने से ऊपर उठकर, अपने से परे जाकर विस्तार करने की प्रवृत्ति हममें पहले ही से विराजमान रहती है। भावना हमें डुबो देती है और परि-चालित करती है, संचलित करती है। संवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर और ज्ञानात्मक संवेदनाओं के आधार पर हम एक साथ तटस्थ और तन्मय, अपने से परे और निमग्न, अपने से बाहर और अपने अन्दर एक साथ रहते हैं। सहानुभूति-शील कल्पना और कल्पनाशील सहानुभूति हमें आत्म-विस्तार के लिए उद्यत कर देती है। संक्षेप में, बाह्य और अन्तर का भेद उस समय लुप्त-सा हो जाता है।

ऐसे क्षणों पर केवल कलाकार का अधिकार नहीं होता, वे सामान्य जनों को भी निरन्तर प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि साहित्य रचा और समझा जाता है। जिस प्रकार, बुद्धि विशिष्टों का सामान्यीकरण करती है, उसी प्रकार कल्पना भी विशिष्ट का इस प्रकार मनश्चित्र बनाती है कि वह मनश्चित्र सारे तत्समान विशिष्टों का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसे मनश्चित्र की प्रातिनिधिकता एक प्रकार का सामान्यी-करण नहीं तो क्या है!!

किन्तु, ये सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हमारे सामान्य जीवन में ही चलती रहती हैं। उन्हीं से हमारी भाव-सम्पदा बनती है। हृदय में, जीवन-मूल्यों की संवेदनात्मक स्थिति उन्हीं के कारण है। संक्षेप में, निमग्नता और तटस्थता के योग से उत्पन्न आत्म-विस्तार हमारे न देखे-जाने पहचाने-जाने सामान्य जीवन का ही अंग है।

यह सही है कि व्यक्तियों के आत्म-वैभव की कोटियाँ होती हैं। कोई आदमी बहुत पढ़ा-लिखा होकर भी जड़ हो सकता है और कोई डिग्रीधारी न होकर अत्यन्त परिष्कृत हो सकता है; कोई विख्यात पण्डित काव्य और कला के प्रति नि:संज्ञ और जड़ हो सकता है, लेकिन कोई बहुत मामूली पढ़ा-लिखा उसके प्रति सहज संवेदनशील हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि 'महान्' आलोचक संवेदनशील हों। यूनिवर्सिटियों के डॉक्टरों की जड़ता दर्शनीय और प्रदर्शनीय है। ज्ञान के अहंकार में अज्ञान के अन्धकार का कुछ ऐसा शुभ्र रूप हमें उनमें मिलता है, कि लगता है कला और साहित्य की छाती पर बैठे हुए ये टीले हैं।

ऐसे सौन्दर्य-क्षणों, ऐसे मनोवैज्ञानिक क्षणों से वंचित अथवा अल्प-समृद्ध, दरिद्र जो आलोचक है, वह अपने को चाहे जितना बड़ा समझे—साहित्य-क्षेत्र का अनुशासक समझे,—वह, वस्तुत:, साहित्य-विश्लेषण के अयोग्य है, कला-प्रक्रिया के कार्य में अक्षम है, भले ही वह साहित्य का 'शिखर' बनने का स्वाँग रचे, मसीहा बने।

आलोचक के लिए सर्व-प्रथम आवश्यक है अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान, जो निरन्तर आत्म-विस्तार से अर्जित होता है। खुद की घेरेबन्दी में रहने वाले कुर्सी तोड़ मसीहाओं के बूते की वह बात नहीं। मतलब यह कि कला की बहुत-सी समस्याएँ, केवल अज्ञान के कारण, पैदा की जाती हैं, जब कि असल में वे होती नहीं, हो नहीं सकतीं।

ऐसे लोगों के जो भी विश्लेषण और निर्णय होते हैं वे कलाकार की रचना-प्रक्रिया को बिना देखे-समझे होते हैं। वह आलोचना, जो रचना-प्रक्रिया को देखे बिना की जाती है, आलोचक के अहंकार से निष्पन्न होती है, भले ही वह अहंकार आध्यात्मिक शब्दावली में प्रकट हो, चाहे कलावादी शब्दावली में, चाहे प्रगतिवादी शब्दावली में।

उपर्युक्त जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बताई गई वह सामान्य जीवन में ही होती है। वह हमारे अन्तर्जीवन को समृद्ध करती है, और उसी समृद्धि का एक भाग बन जाती है। कलाकार के अन्तर्जीवन का भी वह एक भाग होती है।

संवेदनात्मक उद्देश्य इसी भाव-समृद्धि का एक अंग हैं और उसी से उद्गत होते हैं। लेखक के पूरे व्यक्तित्व से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुद्गत ये संवेदनात्मक उद्देश्य उसके अनुभवों का विशेष रूप से संकलन करते हुए उन्हें अपनी पूर्ति की दिशा में प्रवाहित कर देते हैं। यह पूर्ति, (लेखक-कलाकार के लिए) अभिव्यक्ति में होती है। साधारण जन की आत्मपूर्ति की दिशा भिन्न होती है; उनके लिए, वह, सूक्ष्म दृष्टि या मर्म-दृष्टि के रूप में, अवतरित होती है। और वह उसके संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान या जीवनानुभूति का अंग बन जाती है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित और आत्मपूर्ति की विशेष दशा में प्रवाहित यह अनुभव-पुंज, कल्पना द्वारा विस्तृत और मूर्तिमान हो उठता है, किन्तु, साथ ही प्रवाहशील भी। अनुभव-प्रवाह चित्र-प्रवाह में परिणत हो जाता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रक्रिया संवेदना और ज्ञान के योग से कल्पना-चित्रों को विभिन्न विधान करती हुई एक ओर बहा देती है। अथवा यों कहिए कि कल्पना का अपना लॉजिक तैयार हो जाता है। मन कल्पना की इस स्वाभाविक गति में घुलता हुआ और उसमें तन्मय होता हुआ, उसके संवेदनात्मक रस का पान करने लगता है। निःसन्देह यह सौन्दर्य-क्षण है, रस-क्षण है, जिसे कलाकार और सामान्य-जन दोनों प्राप्त करते हैं। जीवनानुभवों के ये सौन्दर्य-क्षण हैं, जिनमें कल्पना-चित्र स्वयं प्रातिनिधिक हो उठते हैं। इसे हम कलात्मक सूक्ष्म दृष्टि का क्षण भी कह सकते हैं अथवा जीवन के सारभूत यथार्थ का क्षण भी कह सकते हैं।

संवेदनात्मक उद्देश्यों का उत्पत्तिस्थल, उनका उद्गम-स्रोत आत्मचरित्रात्मक है। उनके सम्बन्ध-सूत्र कलाकार की मनोरचना से लेकर, उसके व्यक्तिगत इतिहास तक में समाये रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य मूलतः और सारतः आत्मचरित्रात्मक है, भले ही बाहर-बाहर से वह चाहे जितना वस्तुवादी क्यों न दिखाई दे। उसकी यह आत्मचरित्रात्मकता, मुख्यतः अभिव्यक्ति के लिए लाये जाने वाले अनुभवों के संवेदनात्मक महत्त्व-बोध में है। यदि लेखक के पास संवेदनात्मक महत्त्व-बोध नहीं है, या क्षीण है तो उन विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यक्ति क्षीण होगी।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देख-परखकर ही यह पहचाना जा सकता है कि लेखक किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। एक ओर यदि हम उन्हें देख लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान कर सकते हैं तो दूसरी ओर कलात्मक प्रभाव का विश्लेषण भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के सन्दर्भ के बिना नहीं हो सकता।

लेखक, जो कि अपनी संवेदनात्मक क्षमता से, साहित्य सृजन करता है, वह संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, परिचालित होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति का पैटर्न भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार बनाता है। दूसरे शब्दों में संवेदनात्मक उद्देश्य एक ओर आत्मचरित्रात्मक होते हैं तो दूसरी ओर वे एक विशेष प्रकार का कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिव्यक्ति का विशेष पैटर्न गूँथते हैं तो तीसरी ओर ये संवेदनात्मक उद्देश्य, अपने धक्के से हृदय में स्थित जीवन-अनुभवों अर्थात् ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान को जाग्रत और संकलित करके उन्हें अपनी दिशा में प्रवाहित करते हैं। जाग्रत अन्तश्चेतना में अर्थात् इस प्रक्रिया में कल्पना उत्तेजित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार अनुभवों के साकार चित्र प्रस्तुत करती जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवेदनात्मक उद्देश्यों का कार्य प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अन्तर्व्यक्तित्व की विशेषताओं और उसकी हलचलों से लेकर अभिव्यक्ति के अन्तिम पैटर्न तक होता है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य अन्तर्व्यक्तित्व और आभ्यन्तरीकृत जगत् का प्रतिनिधित्व करते हुए जाग्रत और संकलित अनुभवों को मनस्पटल पर एक के बाद एक मूर्तिमान करते हुए आगे बढ़ चलता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देखकर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व, रचना के अन्तर्गत जीवन-तत्त्वों को और उनकी अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। प्रयोगवादी कविता के संवेदनात्मक उद्देश्यों को न समझने के कारण ही, उसके सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैलाई गईं। उसे या तो राजनीतिक रूप से प्रतिक्रियावाद कहा गया या भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में उसकी आत्मा के प्रतिकूल। होना तो यह चाहिए था कि संवेदनात्मक उद्देश्यों को समझकर, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों को जाग्रत करने वाली जीवन-भूमि का विश्लेषण करते हुए उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की सहज मानवीयता—उन रचनाओं की सहज मानवीयता को हृदयंगम किया जाता। लेकिन इस प्रकार की कविताओं को एकदम असुन्दर, प्रतिक्रियावादी, विद्रूप या निषेधात्मक कहकर टरका दिया गया। आलोचकों का उद्देश्य इस काव्य-प्रवृत्ति को समझना नहीं था वरन् उससे संघर्ष करके उसे नष्ट कर देना था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगभग ऐसे ही उद्देश्य से परिचालित होकर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद का विरोध किया। उन्होंने जब छायावाद से समझौता भी किया तो उसे 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' कहकर छुट्टी पाई। लेकिन, यह नहीं देखा कि आखिर लेखक इस प्रकार की प्रणाली को क्यों अपनाना चाहता है, या यों कहिए कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति प्रणाली आखिर कवियों के लिए क्यों स्वाभाविक हो उठी।

कहने का तात्पर्य यह कि अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलते ही आलोचकों की नाड़ी छूटने लगती है। मुझे इस बात का गहरा सन्देह है कि इसका कारण यांत्रिक बुद्धि है। अपनी-अपनी थियरीज और सिद्धान्तों के कटघरे में किसी नई प्रवृत्ति को न फँसते देखकर उस नई प्रवृत्ति को ही निन्दित किया गया, न कि उन सिद्धान्तों को बदला अथवा उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब तक उनकी अपनी जो समझ थी, उसमें परिवर्तन किया। उन्हें अपने-अपने बौद्धिक-मानसिक ढाँचों की ज्यादा फ़िक्र थी, किसी नई प्रवृत्ति के जीवन्त तथ्यों की नहीं।

संवेदनात्मक उद्देश्य, विद्युत् की वह धारा है जो अन्तर-व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन-विधान करती है, कला-विधान करती है, अभिव्यक्ति-विधान करती है। आत्म-चरित्रात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य हृदय में स्थित जीवन्त अनुभवों को संकलित कर उन्हें कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए एक ओर प्रवाहित कर देते हैं। यह कला का प्रथम क्षण है, या कहिए सौन्दर्य-प्रतीति का क्षण है। यह क्षण सामान्य जन को भी प्राप्त होता रहता है।

किन्तु, कला का द्वितीय क्षण तब उपस्थित होता है जब लेखक में शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर, वह विषय-तत्त्वों को व्यक्त करने लगता है। यह क्षण दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो इसलिए कि अब शब्द-संवेदनाएँ और भाव-संवेदनाएँ दोनों एक-दूसरे से सन्तुलित होने लगती हैं, बल्कि इसलिए भी कि लेखक का मन दर्शक और भोक्ता—इन दो के बीच में केवल विभाजित ही नहीं होता वरन् अब दर्शक केवल निष्क्रिय नहीं रहता बल्कि सक्रिय हो जाता है और साथ ही वह विषय-तत्त्व के मनोरूपों को व्यक्त करने का प्रयास करने लगता है। संक्षेप में, अब यह दर्शक एक क्रियावान शक्ति बन जाता है। किन्तु, उसकी क्रिया मनोरूपों के सम्बन्ध में होने से एक विशेष परिस्थिति निर्मित हो जाती है। वह परिस्थिति इस प्रकार है।

न केवल अन्तर का द्विधा विभाजन होता है वरन् यह कि इस दर्शक मन को शब्दाभिव्यक्ति में देर लगती है, फलतः उसे संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार प्रवाहित होने वाले मनोरूपों की गति को थाम लेना या मन्द करना पड़ता है, उसे संयमित करना पड़ता है। इस बीच शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर अपना कार्य मनोनुकूल पूरा कर चुकती हैं कि इस बीच कभी-कभी सम्भवतः संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित मनोरूपों की गति ही लुप्त हो जाती है और रचित शब्दावली का भावार्थ भी पूरा नहीं हो पाता।

मेरा मतलब तटस्थता और तन्मयता से है। यदि दर्शक मनोरूपों की गतियों से इतना निर्लिप्त है कि वह शब्द-संवेदनाओं में खो जाता है और मनोरूपों की गति जड़ हो जाती है तो ऐसी निर्लिप्तता भी उसकी काम की नहीं होती, और यदि वह उन मनोरूपों की गतियों में पूर्णतः विलीन हो जाता है तो शब्द-संवेदनाओं के लिए अवकाश की हीनता के फलस्वरूप अभिव्यक्ति निर्बल अथवा दुरूह हो जाती है। अतएव उसे मनोरूपों की गतियों को प्रवाहित करने वाले संवेदनात्मक उद्देश्यों से एकाकार होकर, साथ ही उन मनोरूपों का मज़ा लेते हुए उनकी गतियों को आत्मसात करते हुए चलना पड़ता है। दूसरे शब्दों में उसे अनवरत रूप से एकीभूत स्थिति और द्विधा रूप स्थिति कायम रखनी पड़ती है।

किन्तु, केवल इतना ही नहीं होता। शब्द-संवेदनाओं और भाव संवेदनाओं की परस्पर तुलना से अंगीकृत अभिव्यक्ति के फलस्वरूप रचना का जो अंश तैयार हो जाता है वह स्वयं एक फोर्स, एक शक्ति बन जाता है और यदि अनुभवात्मक संवेदनाएँ (विषयभूत मनोधाराएँ) क्षणमात्र लुप्त भी हुईं, तब भी शब्दात्मक वह रचना-खण्ड स्वयं उसे अगला मार्ग सुझा देता है।

शब्द-संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए लेखक जाने-अनजाने अपनी मूल भाव-सम्पत्ति और मनोधारा में भी परिवर्तन करता रहता है। शब्द-संवेदनाएँ नवीन associations को जाग्रत कर देती हैं। फलतः वह मूल मनोधारा यदि इस प्रकार से इन associations को प्राप्त करके समृद्ध हो जाती है तो दूसरी ओर उसका—उस मनोधारा का स्वयं का मूल रूप स्वरूप बहुत-कुछ बदलता जाता है। यह महत्त्व की बात है। प्रारम्भिक स्फूर्ति ने जो तत्त्व-विधान और रूप-विन्यास किया था वह परिवर्तित होता रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धि का कार्य यहीं उपस्थित होता है। उसे कार्य-निर्वाह करना पड़ता है। मूल मनोधारा ने अपने आवेग में रूपमय तत्त्वों को लाकर खड़ा कर दिया, कल्पना को उद्दीप्त कर दिया और संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में उसे प्रवाहित कर दिया। किन्तु शब्द-साधना के समय नवीन भावात्मक अनुषंग नवीन अनुभव उपस्थित होते हैं। वे मूल्यवान् होने पर उन्हें जाने-अनजाने आत्मसात कर दिया जाता है। शब्द-संवेदनाएँ लगातार कार्य करती रहती हैं। उनकी चोट होती रहती है। मूल मनोधारा में बहुत-कुछ परिवर्तन अर्थात् संशोधन होता जाता है। यह संशोधन किस प्रकार का होता है।

असल में, शब्दाभिव्यक्ति के समय लेखक मनोधारा के अन्तर में और भी अधिक प्रवेश करता है। उसके लिए वह अधिकाधिक तत्त्व-साक्षात्कार का और आत्म-साक्षात्कार का काल है। एक प्रकार से वह उसके आत्म-निर्माण का भी काल है। शब्दाभिव्यक्ति तो केवल उसका एक माध्यम है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता पर यह निर्भर करता है कि कहाँ तक वह आगे बढ़ेगा। संवेदनात्मक उद्देश्यों की तीव्रता के अभाव में—अर्थात् प्रेरणा के अभाव में उसकी रचना बहुत आगे बढ़ नहीं पाती। वह खण्डित हो जाती है अथवा उसे जैसे-तैसे करके वह निवटा देता है, उसका तत्त्व—साक्षात्कार—आत्म-साक्षात्कार, छिछला और पतला, विरल और तुच्छ होता है।

किन्तु, लेखक के पास यदि उतनी प्राण-शक्ति है तो निःसन्देह अब तक निर्मित शब्दात्मक रचना की सहायता से अपना अगला कदम भी देख लेता है। जीवन-अनुभवों में डूबी हुई उसकी बुद्धि रचना के संवेदनात्मक उद्देश्य से एकाकार होकर आगे का पथ प्रशस्त करती है। फलतः काव्य-निर्माण होता चलता है। यह बुद्धि, संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार शब्द-योजना और अभिव्यक्ति-निर्माण में एक सम्पादक का संशोधक का कार्य करती है तो दूसरी ओर वह संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं को लक्ष्य में रखकर उनसे अनुप्राणित होकर आगे बढ़ती है। यह बुद्धि जीवन-तत्त्व में जीवन-यथार्थ में प्रवेश करने वाली बुद्धि है। वह एक साथ कई कार्य करती है। भाव-यात्रा में ठीक दिशा को वह सूचित करती रहती है, संवेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण जीवन-अनुभवों में सूक्ष्म दृष्टिफल को वह सामान्यीकरणों का रूप देती चलती है। तीसरी ओर अभिव्यक्ति-निर्माण में वह सम्पादक-संशोधक का काम भी करती है, अतएव वह रूप रचना में भी सहायक होती रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विधा-विभाजित मन की प्रक्रिया में तटस्थता नामक जो एक आत्म-स्थिति पैदा हो जाती है, वह तटस्थता नामक आत्मस्थिति एक क्रियावान शक्ति है, और क्रिया में गतिमान होने के लिए ही उपस्थित रहती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-भाषा और शैली-विज्ञान

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

आज का कवि, कविता को भाषा की ही एक विधा मानने लगा है और आलोचक भी यह स्वीकार करने लगा है कि कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करने की उसमें कोशिश की गई है कि साहित्यिक जगत्, बाह्य-जगत् की प्रतिच्छवि न होते हुए भी उससे असम्पृक्त नहीं और क्योंकि वह ठोस एवं यथार्थ है अतः उसका भी वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण संभव है। साहित्यिक एवं बाह्य-जगत् के अन्तर को समझना वस्तुतः वस्तुओं की 'आन्तरिक अन्विति' और उसके 'कार्य-फलन' को समझना है जिसे हम अभिव्यक्ति शैली के माध्यम से जान सकते हैं, कम-से-कम कविता में उसका पता लगाने का और कोई साधन नहीं।

"कविता, भाषा का ही एक विशेष रूप है"—इस कथन को दो सन्दर्भों में ग्रहण किया जा सकता है। एक तो यह कि कविता की भाषा के अतिरिक्त भी अपनी सत्ता है, वह 'स्वनिष्ठ' (ऑटोनोमस) है। पर साहित्य अगर शाब्दिक कला (वर्बलआर्ट) है, तो कविता को समझने का माध्यम भी भाषा ही है। उस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि कविता की भाषा का अध्ययन अपने में साध्य नहीं। वह साधन रूप ही है जो कविता को समझने और ग्रहण करने के लिए एक समर्थ माध्यम प्रदान करता है।

लेकिन इस 'माध्यम' को कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले माध्यम से भिन्न समझना चाहिए। उदाहरण के लिए चित्र-कला में प्रयुक्त होने वाले 'रंग' अथवा मूर्तिकला में माध्यम के रूप में ग्रहण किये जाने वाले 'पत्थर' की प्रकृति से भिन्न और कहीं अधिक विशिष्ट प्रकृति भाषा की है जो कविता में साधन रूप में प्रयुक्त होने के बावजूद भी 'साध्य' को बहुत दूर तक नियंत्रित-संचालित करती है। रंग और पत्थर तभी कलात्मक स्वरूप ग्रहण करते हैं जब वे कलाकृति में संश्लिष्ट हैं। कलाकृति से अलग वे सामान्य स्थूल उपादान मात्र हैं। अपने में न तो वे संस्कृति के अंग हैं और न परम्परा के वाहक। अतः रंगों की अपनी प्रकृति और पत्थरों की अपनी बनावट के वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले रसायन-शास्त्री या भूगर्भ-शास्त्री जब किसी कलाकृति का विश्लेषण करने चलते हैं तब वे भी रंगों और पत्थरों की बनावट और विशिष्टता ही बता पाते हैं, उनकी दृष्टि स्थूल-उपादान से आगे बढ़ ही नहीं पाती।

पर कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को अपनाया जाता है, उसकी स्थिति चित्रकला और मूर्तिकला में प्रयुक्त होने वाले रंगों और पत्थरों की स्थिति से भिन्न है। पहला तथ्य तो यह है कि कलाकृति से हटकर रंग और पत्थर, प्रवृत्त्यात्मक (डाइरेक्टेड) नहीं होते, वे अपनी ओर से कलाकार को 'निर्देश' नहीं देते। वे अपने प्रकृत-रूप में स्थिर एवं निष्क्रिय होते हैं। गत्यात्मक और सक्रिय बनाने का कार्य एकमात्र कलाकार करता है, अतः इन कलाकृतियों में जिस लय एवं संगीतात्मकता का हम अनुभव करते हैं, जिस गत्यात्मक और सक्रिय स्पन्दन की हमें अनुभूति होती है वह कलाकृति की आन्तरिक संरचना का परिणाम है। ठीक इसके विपरीत भाषा, यद्यपि कविता में माध्यम के रूप में ग्रहण की जाती है पर उसकी प्रकृति प्रवृत्त्यात्मक होती है, वह कवि को 'निर्देश' भी देती है। वह प्रकृत-रूप में स्थिर और निष्क्रिय न होकर गत्यात्मक और सक्रिय होती है। भाषा स्वयं में जीवन्त होने के कारण अपना विशिष्ट दबाव डालती है। कवि जब भाषा को माध्यम के रूप में अपनाता है तब उसे इस प्रवृत्त्यात्मक दबाव के साथ भाषा को स्वीकार करना पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा तथ्य यह है कि भाषा स्वयं संस्कृति का एक अंग और परम्परा का वाहक माध्यम है। अगर किसी देश का साहित्य उस देश की संस्कृति एवं परम्परा के साथ जुड़ा है तो उस साहित्य के माध्यम के रूप में प्रयुक्त भाषा का भी गहरा सम्बन्ध संस्कृति एवं परम्परा के साथ स्वयंसिद्ध है। भाषा संस्कृति का एक विशिष्ट अंग है। वह संस्कृति का स्थूल उपादान न होकर उसकी सक्रिय शक्ति है। भाषा और संस्कृति में एक अटूट सम्बन्ध है—इससे इनकार नहीं किया जा सकता, पर इसके आन्तरिक सम्बन्ध को स्थूल रूप में ग्रहण करने पर अनेक भ्रान्तियाँ फैलने की भी सम्भावना हो सकती है। उदाहरण के लिए, यह कथन सही है कि किसी भाषा को उसके बोलने वालों की संस्कृति से अलग कर अथवा किसी जातीय संस्कृति को उसकी भाषा के सन्दर्भ से काट कर सही ढंग से नहीं समझा जा सकता। पर इसके साथ यह कहना कि विभिन्न संस्कृतियाँ, विभिन्न भाषाओं की माँग करती हैं अथवा जितनी विभिन्न भाषाएँ होंगी उतनी ही भिन्न संस्कृति होगी—तर्कसंगत नहीं। भारतवर्ष स्वयं इसका उदाहरण है। यहाँ नितान्त असंबद्ध भाषाएँ, एक संस्कृति की पुष्टि करती हैं और यह भी देखा जा सकता है कि एक ही परिवार की दो सम्बन्धित भाषाएँ नितान्त भिन्न दो संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यद्यपि इंग्लैण्ड, अमरीका और आस्ट्रेलिया में एक ही भाषा (अंग्रेज़ी) बोली जाती है पर इसमें सन्देह हो सकता है कि इन देशों की संस्कृति एक नहीं।

एक अन्य आधार पर भी भाषा अन्य कला-क्षेत्रों के उपादानों से अपने को अलग कर लेती है। कलाकृति से अलग रहकर रंग और पत्थर स्थूल एवं अव्यवस्थित रूप में रहते हैं और किसी कलाकृति में उपादान रूप में प्रयुक्त होते समय भी 'कलात्मकता' रंगों और पत्थरों के आयाम में बँधी होकर भी उनके अपने गुणों से मुक्त रहती है। लेकिन कविता के माध्यम के रूप में जिस भाषा को कवि अपनाता है वह न तो स्थूल है और न अव्यवस्थित ही। भाषा अभिव्यक्ति के ध्वनि-स्तर पर भी विशेष व्यवस्था की माँग करती है और प्रतीक-स्तर पर भी विशेष व्यवस्था की अपेक्षा रखती है। अपनी इसी व्यवस्था के आधार पर एक भाषा अन्य भाषाओं से भिन्न होती है। दूसरी ओर 'काव्यात्मकता' न केवल भाषा के आयाम में बँधी होती है वरन् बहुत दूर तक भाषा की अपनी संरचना और अपने गुणों द्वारा नियंत्रित भी होती है। काव्यात्मकता अपने माध्यम से मुक्त होकर सिद्ध रह ही नहीं सकती क्योंकि काव्यात्मक संरचना पूरी तरह से भाषा में अन्तर्मुक्त होती है।

कविता में भाषा को 'काव्यात्मकता' के हेतु माध्यम के रूप में कवि अपनाता है तो 'काव्यात्मकता' अन्त तक अपने को अपने माध्यम से मुक्त नहीं कर पाती। कवि कविता की रचना करता है, वह अपने 'संसार' का सृजन करता है। पर यहाँ दो स्थितियाँ संभव हैं। गीतात्मक (लिरिकल) कविताओं में जिस 'संसार' का कवि सृजन करता है वह संभव है अनुभूति के किसी विशेष क्षण तक ही सीमित हो जिसको व्यावहारिक दृष्टि से 'स्पेस' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। और अगर सिद्धान्त के रूप में उसे 'स्पेस' मान भी लें तो वह ऐसे नुकीले बिन्दु पर केन्द्रित होती है जिसके आयाम को निश्चित नहीं किया जा सकता। एक दूसरी भी स्थिति हो सकती है जहाँ आयाम और वस्तुएँ 'स्पेस' का निर्माण करती हैं जहाँ कवि अपने 'संसार' का सृजन करता है—जैसे महाकाव्यों, गीति-नाट्यों आदि में।

दोनों ही स्थितियों में जहाँ अनुभूति नुकीले बिन्दु पर केन्द्रित होकर आयाम-मुक्त होती है और जहाँ अनुभवों के अपने नये संसार का सृजन होता है, भाषा का सम्बन्ध अनुभूति और अनुभवों के साथ बना रहता है। क्योंकि व्यक्ति की विशिष्ट-से-विशिष्ट अनुभूति भाषा के रंगों से मुक्त नहीं होती और दूसरी ओर भाषा, अनुभवों का रीति-पक्ष है। भाषा के माध्यम से ही हम अपने अनुभवों का साधारणीकरण करते हैं और इस साधारणीकरण के माध्यम से ही उसे दूसरे तक सम्प्रेषण करते हैं। अतः सामान्यीकृत अनुभवों से अलग हटे अनुभवों को भी हम जान-पहचान पाते हैं तो भाषा के ही माध्यम से। पर यह अवश्य है कि तब भाषा का स्वरूप सामान्य स्वरूप न होकर विशिष्ट हो जाता है। सामान्य से अलग हटकर जिस विशिष्ट भाषा का प्रयोग कवि करता है, वही भाषा की काव्यात्मक शैली कही जाती है। अनुभव के कथ्य-पक्ष और भाषा के रूप में उसके रीति-पक्ष के साथ जो लचीला पर अटूट सम्बन्ध है यह उसी का परिणाम है कि अनुभव के कथ्य-पक्ष की विशिष्टता उसके रीति-पक्ष में भी विशिष्टता लाने को बाध्य करती है। अनुभव के कथ्य पक्ष और उसके रीति-पक्ष का यह सम्बन्ध कलाकृति के माध्यम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में केवल भाषा में ही देखा जा सकता है। अन्य माध्यमों में उनके सम्बन्धों के बीच न तो ऐसा अटूट सम्बन्ध ही देखा जा सकता है और न ऐसा लचीला संयोग ही।

सच तो यह कि कथ्य और रीति-पक्ष के बीच पाये जाने वाले अटूट और लचीले सम्बन्ध ही कविता के आलोचकों से भाषा-वैज्ञानिक ज्ञान की माँग करते हैं। जब 'काव्यात्मकता' अन्त तक अपने को अपने माध्यम (भाषा) से मुक्त नहीं कर सकती और जब भाषा की अपनी व्यवस्था को समझने के लिए एक 'विज्ञान' है, तब यह तर्क-संगत है कि उस विज्ञान का प्रयोग काव्यात्मकता का पता लगाने और उसको समझने के लिए भी किया जाये।

•

इस प्रकार कविता की साहित्यिक आलोचना के साथ भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध है। भाषा के माध्यम से ही 'काव्यात्मकता' का पता लगाया जा सकता है और भाषा के अध्ययन का प्रत्येक क्षेत्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। पर यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि साहित्यिक आलोचना और भाषाविज्ञान एक-दूसरे के क्षेत्र को काटते भले ही हों और वे एक-दूसरे के लिए पूरक ही क्यों न हों, वे लक्ष्य-भेद के कारण अपने अलग क्षेत्र को निर्दिष्ट करते हैं। कविता को समझने और काव्यात्मकता का पता लगाने में भाषा-विज्ञान सहायक हो सकता है पर 'कविता' या 'साहित्य' अपनी संरचना को लेकर स्वतंत्र (ऑटोनोमस) है।

आलोचना और भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध को लेकर दो अतिवादी दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। पहले मत के अनुसार कविता की आलोचना वस्तुतः वहाँ से शुरू होती है जहाँ भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन अपनी सीमा-रेखा खींचता है। इस मत के मानने वालों में कविता की भाषा-वैज्ञानिक समीक्षा की उपयोगिता के अनुपात में विभिन्नता मिल सकती है— पर विचार-रूप में मूलतः वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'काव्यात्मकता' का पता मात्र भाषा-वैज्ञानिक पद्धति से नहीं लगाया जा सकता। उदाहरण के लिए **रेने वेलेक**[1] के अनुसार शैली-विज्ञान कविता की संरचना को समझने में सहायक हो सकता है, उसकी संघटना के विश्लेषण में वह मदद दे सकता है, पर वह आलोचना का एक अंग है, पूरी साहित्यिक आलोचना नहीं। शैली-विज्ञान कविता की उस संरचना, संघटना, 'नॉर्म' और कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है जो 'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रहता है, पर कविता की आलोचना का मुख्य धर्म मूल्यों का अन्वेषण है।

अपने इसी समीक्षात्मक लेख में एक दूसरे स्थल पर उनका कहना है कि भाषा-विज्ञान कविता के क्षेत्र में 'ध्वनियों' एवं 'छन्दों' के अध्ययन में ही मुख्य रूप से सहायक है और कविता की वास्तविक समीक्षा उस बिन्दु से प्रारम्भ होती है जब भाषा-विज्ञान का यह अध्ययन समाप्त हो जाता है अर्थात् एक सीमा-रेखा तक पहुँचने के पश्चात् कविता की आलोचना, भाषाविज्ञान की पहुँच के बाहर चली जाती है।

यह ठीक है कि पहले भाषा-वैज्ञानिकों ने कविता के ध्वनि-पक्ष एवं छन्दों का ही विश्लेषण किया और तत्सम्बन्धी अध्ययन को वैज्ञानिकता प्रदान की। पर अन्यत्र यह दिखाया जा जा चुका है कि भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन ने कविता की केवल ध्वनियों का ही विश्लेषण भी किया है। वे ध्वनियों के माध्यम से कविता के 'अन्तर्टोन' का भी संकेत देते हैं, साथ में अर्थ के स्तर पर 'गौण' अर्थ का भी पता लगाते हैं जो 'काव्यात्मकता' के सन्दर्भ में 'प्रमुख' अर्थ बन जाता है।

रेने वेलेक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि शैली-विज्ञान, कविता की उस सरंचना, संघटना, 'नॉर्म' और कार्यफलन का विश्लेषण करने में सक्षम है जो 'मूल्यों' को अपने भीतर बाँधे रहता है। पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मूल्यों की अपनी सत्ता कविता में कविता की संरचना, संघटना, 'नॉर्म' या कार्यफलन के बाहर संभव है? क्या मूल्यों का पता इनकी जानकारी के बिना पाया जा सकता है? अगर मूल्यों का सम्बन्ध कविता से है और उसकी परिणति गुणात्मक प्रकृति से सम्बद्ध है तब इन मूल्यों की चर्चा कविता की संघटना और कार्यफलन की जानकारी के अभाव में याटच्छिक ही होगी। ऐसी स्थिति में आलोचना का स्वरूप व्यवस्थित हो ही नहीं सकता। फिर पहले यह संकेत किया जा चुका है कि 'मूल्य' अथवा 'गुण' वस्तु की अपनी संरचना और कार्यफलन का ही परिणाम हो सकता है।

यह सच है कि भाषा-विज्ञान, विज्ञान की पद्धति को अपनाने के कारण विशेष वस्तु की संरचना, संघटना और कार्यफलन तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखता है, और इसके सन्दर्भ में वस्तु की सभी गुणात्मक सम्भावनाओं की ओर संकेत देता है पर 'गुणों' और 'मूल्यों' के यादृच्छिक एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्यन्तिक रूप को अपने सीमा-क्षेत्र से बाहर रखता है। अतः कविता के विश्लेषण के लिए जिस पद्धति को वह स्वीकार करता है, वह उसकी कार्य-प्रणाली के अनुरूप, 'मूल्य निरपेक्ष' ही होता है।

रूसी विद्वान् **विनोकुर**[2] का यह मत है कि कविता की भाषा अपनी विशेष संरचना के फलस्वरूप भाषा-विज्ञान की परिधि से बाहर निकल जाती है और वह जिन समस्याओं को हमारे समक्ष लाती है भाषा-विज्ञान के माध्यम से उसका समाधान नहीं ढूंढ़ा जा सकता। विनोकुर के मतानुसार जिन व्याकरणिक नियमों एवं व्यवस्था के द्वारा भाषा का बोल-चाल का रूप बँधा होता है उससे कहीं भिन्न व्यवस्था कविता की भाषा की होती है। कविता में प्रयुक्त होने वाली भाषा का कार्यफलन, सामान्य भाषा के कार्यफलन से भिन्न होता है और वह कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त माध्यम के कार्य-फलन के समरूप होता है। विनोकुर की इस मान्यता की पुष्टि कोझिनोव ने अपने लेख "क्या संघटनात्मक काव्य-शास्त्र संभव है?" में की है। उनके अनुसार कविता, भाषा से भिन्न 'संघटना' की माँग करती है।

विनोकुर अथवा कोझिनोव[3] के कथन पर दो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। एक, कविता के माध्यम के रूप में प्रयुक्त 'भाषा' कला के अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त माध्यम के अनुरूप होती है। इस विषय पर प्रारम्भ में ही दिखलाया जा चुका है कि ऐसी मान्यता भ्रामक है। दूसरी आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि भाषा-विज्ञान का क्षेत्र केवल भाषा के बोल-चाल के रूप का ही परीक्षण नहीं है। भाषा का प्रत्येक रूप, उसकी प्रत्येक विधा उसके अध्ययन-क्षेत्र के भीतर आती है। अगर 'भाषा' और उसकी 'बोली' दोनों का अध्ययन भाषा-विज्ञान कर सकता है, अगर व्यक्ति की 'स्पीच' और समाज की 'भाषा' को वह अपने भीतर समेट सकता है और अगर बोलचाल की घरेलू भाषा और तकनीकी विषयों पर लिखे गये शोध-प्रबन्धों की भाषा दोनों को समान भाव से अपने अध्ययन का विषय बना सकता है, तब यह सवाल उठाया जा सकता है कि भाषा के साहित्यिक रूप या कविता की भाषा का ही अध्ययन उसके क्षेत्र के बाहर कैसे है?

इससे किसे इनकार हो सकता है कि कविता में प्रयुक्त भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन सामान्य बोलचाल की भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन से भिन्न होता है। पर सवाल व्यवस्था एवं कार्यफलन की विभिन्नता का नहीं है। सवाल तो इसका है कि भाषा-विज्ञान कविता में प्रयुक्त भाषा की व्यवस्था एवं कार्यफलन का विश्लेषण कर सकता है या नहीं। जिस विश्लेषणात्मक पद्धति को भाषा-वैज्ञानिक अपनाता है, उस पद्धति का प्रसार काव्यात्मक भाषा के क्षेत्र तक संभव है या नहीं। चोम्स्की के व्याकरणिक स्तर-भेद की धारणा की चर्चा करते हुए अन्यत्र यह दिखलाया जा चुका है कि भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रसार काव्यात्मक भाषा तक करना संभव है। यहाँ इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि जब यह कहा जाता है कि कविता भाषा के सामान्य प्रयोग से अलग हटी भाषा का ही विशेष रूप है तो उसका तात्पर्य यह नहीं कि सामान्य से अलग हटे काव्यात्मक भाषा-रूप किसी भी व्यवस्था के नियंत्रण से बाहर हैं अर्थात् कवि को पूरी छूट है कि वह भाषा का मनमाना प्रयोग करे। काव्यात्मक भाषा, भाषा के 'नॉर्म' की व्यवस्था की तुलना में अधिक लचीली (फ़्लेक्सिबल) और व्यापक होती है, पर उसके लचीलेपन की भी एक सीमा होती है, उसकी व्यवस्था की व्यापकता की भी एक परिधि होती है, जिसके बाहर जाने पर काव्य-भाषा के नियमों के अतिक्रमण के रूप में काव्य-प्रयोग पाठकों के मन में खटक जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य-भाषा की भी अपनी व्यवस्था होती है, उसके अपने 'कार्यफलन' होते हैं और वे भाषा के विशेष रूप की विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन हैं। अतः उसका विश्लेषण भाषा-विज्ञान के सीमा-क्षेम के भीतर ही है। कहने के लिए तो यह भी कहा जा सकता है कि काव्यात्मक भाषा की इस विशेष व्यवस्था एवं कार्यफलन की विशिष्टता का पता भी हम तभी पाते हैं जब हम इसे सामान्य भाषा की व्यवस्था के 'नॉर्म' एवं कार्यफलन के सन्दर्भ में रखकर उसका विश्लेषण करते हैं।

कविता और भाषा-विज्ञान के सम्बन्धों को लेकर दूसरे अतिवादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले विद्वानों के अनुसार कविता की आलोचना और व्याख्या भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से करनी होगी तब कविता को साहित्य का अंग न मानकर केवल भाषा का ही एक रूप मानना होगा। कविता की भाषा इस दृष्टि-कोण के अनुसार स्वयं अपने में साध्य होती है। इस विचार को मानने वालों में **रेव्जिन**[4], **तोपोरोव**[5], **सोलसपोर्ट**[6] आदि विद्वान् हैं। उदाहरण के लिए सोल सपोर्टा कविता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति और भाषा के अन्य रूपों—यथा, गद्य अथवा सामान्य बोलचाल की भाषा के सम्बन्धों की चर्चा उठाते हुए पहले ही दो मोटे विभाग कर लेना चाहते हैं। पहला वर्ग उन भाषा-सम्बन्धी कला-रूपों का है जो भाषा से सम्बद्ध होने के कारण भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर आते हैं। दूसरा वर्ग उन कला-रूपों का है जो भाषा से सम्बद्ध न होने के कारण उसके बाहर हैं, यथा, संगीत, चित्रकला आदि, जिसे वह 'कला' की संज्ञा देते हैं। इस विभाजन के बाद कविता के भाषा और कला के बीच के सम्बन्धों की चर्चा उठाते हुए तीन स्थितियों की ओर वे संकेत देते हैं—

१. कविता भाषा है अर्थात् कविता का क्षेत्र पूर्णतः भाषा-क्षेत्र की अपनी सीमा के भीतर है, अतः वह भाषा का उपांग है। इस तरह भाषा-विज्ञान की परिधि के भीतर ही कविता की आलोचना सम्भव है।

२. कविता भाषा नहीं है। वह कला का उपांग है, अतः वह भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर है।

३. कविता भाषा और कला दोनों ही क्षेत्रों को काटने वाली विधा है, अर्थात् उसका कुछ अंश कला के अन्तर्गत और कुछ भाषा की सीमा के भीतर आता है और इस प्रकार वह एक साथ दो विभिन्न क्षेत्रों का सदस्य है।

इन तीनों सम्बन्धों के बीच भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के रूप में सपोर्टा पहले सम्बन्ध को प्राथमिकता देना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार अन्य दोनों स्थितियों में आलोचना को अपने भाषा-वैज्ञानिक दायित्व एवं कार्यक्षेत्र से बाहर जाना पड़ेगा। अगर आलोचक भाषा-वैज्ञानिक है तो उसे कविता को भाषा का उपांग मानना ही होगा। उनकी यह विवशता भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से निकले निष्कर्ष और साहित्यिक अनुभूति के फलस्वरूप प्राप्त सहजोपलब्ध अर्थ के बीच दिखाई पड़ने वाली असंगतियाँ हैं। अगर भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्ष सहजोपलब्ध अर्थ के विपरीत हैं तब हम निष्कर्षों की वैज्ञानिकता पर ही शंका उठाने लगेंगे। उनके अनुसार वैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष जब हमारे अन्तर्ज्ञान के विपरीत जाता दिखाई पड़ता है तो प्रायः हम अपने विश्लेषण को ही सुधारने या बदलने की ओर प्रवृत्त होते हैं। शायद ही कभी हम अन्तर्ज्ञान की सच्चाई पर शंका उठाते हों। अतः भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के लिए यही उचित है कि वह कविता के भाषा और कला के बीच के सम्बन्धों में पहली स्थिति को अपनाए और यह मानकर चले कि सभी कविताएँ, भाषा के ही रूप हैं पर भाषा के सभी रूप कविता नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त सपोर्टा अपने विवेचन में तीन और मान्यताओं की ओर संकेत देते हैं। वाक्य-गठन-सम्बन्धी विवरण और विश्लेषण की ओर आलोचक को अर्थ-विश्लेषण के पहले प्रवृत्त होना चाहिए क्योंकि वितरण-सम्बन्धी विवरण को अधिक सटीक और वैज्ञानिक ढंग से दिया जाना संभव है। दूसरा, शैली-विज्ञान, भाषा-विज्ञान के ज्ञान पर आधारित है क्योंकि बिना व्याकरण के सन्दर्भ के शैली का निरूपण ही नहीं किया जा सकता। अन्तर है तो केवल इतना कि जब व्याकरण मूलतः नियम-निर्देशात्मक (प्रि-डिक्टिव) होता है वहाँ शैली-विज्ञान का लक्ष्य विवरणात्मक और वर्गीकरणात्मक (क्लासीफिकेटरी) रहता है। तीसरा, कविता अगर 'नॉर्म' से अलग हटी हुई भाषा है, तब कविता में यह स्थिति दो ढंगों से आती है। एक ओर तो कविता की भाषा 'नॉर्म' की तुलना में अतिरिक्त नियमों का अपने ऊपर आरोपण करती है, इसका उदाहरण छन्द या तुक-निर्माण में देखा जा सकता है। दूसरी ओर कविता की भाषा, 'नॉर्म' की तुलना में कहीं अधिक स्वच्छन्द होती है और इस प्रकार कुछ सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती देखी जा सकती है; उदाहरण के लिए, 'पेड़ फुसफुसाते हैं', अथवा, 'हवा सीटी बजाती है' ऐसे वाक्य 'नॉर्म' के नियमों का अतिक्रमण करते हैं।

सपोर्टा द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं पर दो आधारभूत आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि वे 'वस्तु' की प्रकृति को विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा नियंत्रित करना चाहते हैं। अतः विश्लेषणात्मक प्रणाली की अपनी सीमा भी उनके लिए वस्तु की प्रकृति की सीमा बन जाती है। भाषा या कविता प्रकृत स्वरूप में क्या है—यह एक प्रश्न है और भाषा-विज्ञान अथवा काव्यशास्त्र उसको कहाँ तक जान पाता है, या उसकी प्रकृति से उस सीमा तक परिचित हो सकता है—यह सर्वथा दूसरा प्रश्न है। 'वस्तु' विभिन्न कालों में अपने आधारभूत रूप में एक रह सकती है पर उसके विश्लेषण की रीति विकसित होती रहती है। फलतः वस्तु के प्रति ज्ञान बढ़ सकता है, उसको और सही ढंग से जाना जा सकता है। भाषा-विज्ञान और काव्यशास्त्र का इतिहास स्वयं में इसका उदाहरण है कि एक वस्तु को देखने की दृष्टि और उसके विश्लेषण की प्रणाली में विकास हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है न कि उस वस्तु का; उदाहरण के लिए, किसी एक निश्चित काल में बोले जाने वाले संस्कृत-भाषा के रूप को ही लें अथवा कालिदास की रचना 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को देखें। एक निश्चित काल की संस्कृत भाषा और विशेष कृति 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' मूल रूप में वही है, पर हमारी विश्लेषणात्मक प्रणाली के विकसित होने के फलस्वरूप उनकी मूल प्रकृति के ज्ञान में हमारी वृद्धि हुई है न कि उस वस्तु की मूल-प्रकृति में। और अगर यह तथ्य सही है तो निश्चय ही वस्तु की मूल प्रकृति, विश्लेषणात्मक प्रणाली को नियन्त्रित करेगी न कि प्रणाली वस्तु को पारिभाषित करने में सक्षम होगी।

जब सपोर्टा यह कहते हैं कि कविता के अध्ययन में भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण की पहली माँग यह है कि भाषा-वैज्ञानिक यह स्वीकार करे कि कविता भाषा का ही एक रूप है और इसके अतिरिक्त वह जो भी है वह उसके लिए त्याज्य और अग्राह्य है, तो वस्तुतः वे विश्लेषण की सीमा को ही कविता की सीमा मान बैठते हैं। वैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है—यह सीमा, न तो कविता की सीमा है, क्योंकि कविता की मूल-प्रकृति विश्लेषणात्मक प्रणाली से अलग अपनी सत्ता रखती है और न यह अध्ययन की प्रणाली की ही सीमा मानी जा सकती है क्योंकि प्रणाली का विकास सम्भव है, और उसका प्रसार भी।

कविता के सन्दर्भ में जब सपोर्टा भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली से प्राप्त निष्कर्षों और अन्तर्ज्ञान के फलस्वरूप जाग्रत बोध में असंगति की चर्चा उठाते हैं तब यह भूल जाते हैं कि अगर अन्तर्ज्ञान से जाग्रत बोध के सही-गलत होने की बात उठाई जा सकती है, तो प्रणाली के वैज्ञानिक-अवैज्ञानिक होने का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। विश्लेषणात्मक निष्कर्ष और अन्तर्ज्ञान को लेकर चार स्थितियाँ हो सकती हैं—

१. प्रणाली वैज्ञानिक है पर अन्तर्ज्ञान गलत।
२. प्रणाली अवैज्ञानिक है पर अन्तर्ज्ञान सही।
३. प्रणाली वैज्ञानिक है और अन्तर्ज्ञान सही।
४. प्रणाली अवैज्ञानिक है और अन्तर्ज्ञान भी गलत।

इसमें अन्तर्विरोध की समस्या पहली दो स्थितियों में ही मुख्य रूप से उभरती है और इन दोनों स्थितियों में उनका निराकरण सम्भव है। उदाहरण के लिए अगर प्रणाली वैज्ञानिक है अर्थात् भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्ष सही है और कविता-पाठ के अन्तर्ज्ञान से उत्पन्न बोध गलत है, तो उस बोध को गलत सिद्ध किया जा सकता है और पाठकों में बोध की सही दिशा उत्पन्न की जा सकती है। अन्तर्ज्ञान से प्राप्त बोध का सीधा सम्बन्ध पाठकों के ज्ञान की पूर्व-पीठिका और कविता के सन्दर्भ के साथ रहता है। उसके ज्ञान की पूर्व-पीठिका का विकास अगर उस स्तर पर कर दिया जाए, जिसको वैज्ञानिक विश्लेषण अपनाता है तो इसमें सन्देह नहीं कि कविता का सन्दर्भ उस ज्ञान के आधार पर नया बोध प्रदान करेगा जो भाषा-वैज्ञानिक निष्कर्षों के समरूप होंगे। एक ही कविता का पाठ स्कूल के बच्चे भी करते हैं, विश्वविद्यालय के छात्र भी और पढ़े-लिखे सहृदय व्यक्ति भी, पर उनके अन्तर्ज्ञान से उत्पन्न बोध भिन्न होते हैं। काव्य-शास्त्र की एक समस्या यह भी है कि वह पता दे कि किसी कविता का उचित बोध या मर्म क्या है ? अगर भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण इस दिशा में कुछ सहायता दे सकता है तो वह उसकी अपनी उपलब्धि तो होगी ही, काव्य-शास्त्र को अन्तर्ज्ञान से हटाकर वैज्ञा-निकता की ओर लाने में सहायक भी सिद्ध होगी।

पर यह भी सम्भव हो सकता है कि जिस प्रणाली को भाषा-वैज्ञानिक, वैज्ञानिक समझता हो, वह ज्ञान के व्यापक सन्दर्भ में अवैज्ञानिक हो अथवा उसकी प्रणाली विकसित न होने के कारण सत्य के रूप दो निश्चित पक्षों की ओर ही संकेत देने में समर्थ हों जिसे वह सत्य का पूर्ण-रूप मान बैठे। उस स्थिति में क्या यह उचित न होगा कि प्रणाली का विकास और प्रसार किया जाए, अधिक-से-अधिक पक्षों का ज्ञान प्राप्त किया जाए। अभी तक अगर भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली कविता के एक-दो पक्षों के विवेचन तक ही सीमित है, अथवा अर्थ-विज्ञान को समझने की प्रणाली अगर विकसित न होने के कारण अधूरी है अतः वाक्य-गठन पर ही अधिक आग्रह रखती है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि कविता को उसी सीमा तक बाँधकर रखा जाए, जहाँ तक उसकी प्रणाली सीमित करती है। कहने का तात्पर्य यह कि 'कविता' के क्षेत्र की अपनी सम्भावना एक वस्तु है, और उसके अध्ययन, विश्लेषण के क्षेत्र को प्रणाली के अनुरूप सीमित करने का सवाल दूसरा है। सिद्धान्त-रूप में कविता की परिभाषा अपनी सम्भावना के अनुरूप होनी चाहिए और व्यवहार पक्ष में उसके अध्ययन-क्षेत्र की परिधि विश्लेषणात्मक प्रणाली की अपनी स्थिति के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए। इसके साथ ही व्यवहार-पक्ष का प्रयत्न यह भी होना चाहिए कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह सिद्धान्त पक्ष के पूरे सीमा-क्षेत्र के अध्ययन-विश्लेषण के लिए अपनी प्रणाली का विकास-प्रसार करे।

●

मोटे तौर पर अगर हम यह मानकर चलें कि कविता का अध्ययन जब हम कला के अन्य क्षेत्रों—संगीत, चित्र आदि की उपलब्धियों के सन्दर्भ में करते हैं, उस समय वह 'काव्य-शास्त्र' के अन्तर्गत आता है और जब हम भाषा की सामान्य प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में उसका विश्लेषण और विवेचन करते हैं, उस समय वह 'शैली-विज्ञान' के क्षेत्र में आता है, तब एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि काव्य-शास्त्र और शैली-विज्ञान के बीच अपने सम्बन्ध क्या हैं ? क्या काव्य-शास्त्र और शैली-विज्ञान, दो विभिन्न एवं असम्बद्ध क्षेत्र हैं अथवा एक ही वस्तु (कविता) को देखने की मात्र दो विभिन्न दृष्टियाँ हैं ? दूसरे शब्दों में कहें तो यह पूछा जा सकता है कि क्या विभिन्न 'लक्ष्यों' के कारण ये दोनों क्षेत्र एक-दूसरे से अलग हैं अथवा लक्ष्य तो एक है, पर उनकी परीक्षण-प्रणाली भिन्न हैं अतः वे दो निर्दिष्ट क्षेत्र हैं ?

इस प्रश्न को लेकर विद्वान् एकमत नहीं दिखाई देते। रेने वेलेक-कोझिनोव अथवा सोल सपोर्टा रेविज़न आदि विद्वान् 'शैली-विज्ञान' को मात्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र की वस्तु समझते हैं और इस आधार पर कि काव्य-शास्त्र और भाषा-विज्ञान की अध्ययन-प्रणाली के साथ-साथ उनके लक्ष्य भी भिन्न हैं, काव्य-शास्त्र और शैली-विज्ञान को ज्ञान के दो अलग-अलग विषय घोषित करना चाहते हैं। विद्वानों का एक दूसरा समुदाय है जो शैली-विज्ञान को केवल भाषा-विज्ञान की वस्तु नहीं मानता। इन विद्वानों के अनुसार काव्य-शास्त्र और भाषा-विज्ञान के सम्मिलित सहयोग से आलोचना की एक नई प्रणाली विकसित हो सकती है जो एक ओर 'काव्यात्मकता' का विश्लेषण-परीक्षण भी करेगी और उसकी प्रणाली भी वैज्ञानिक होगी। उनके अनुसार 'शैली-विज्ञान' के रूप में कविता के विश्लेषण की जो नई पद्धति विकसित हो रही है वस्तुतः वह अपने स्वरूप एवं प्रकृति में इसी सम्भावना पर आधारित है। **एडवर्ड स्टेंकविक्ज** के अनुसार भाषा-वैज्ञानिक जो अपने क्षेत्र में वस्तुवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ सिद्ध हुआ है वह एक साहित्यिक आलोचक को भी उसके सिद्धान्त-क्षेत्र में गहरी दृष्टि और विश्लेषणात्मक परीक्षण में वैज्ञानिक पद्धति दे सकता है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि भाषा-वैज्ञानिक को यह मालूम हो कि उसकी परीक्षण-सामग्री किन तथ्य-समूहों पर आधारित है। इस जानकारी के बिना उसका काव्य-भाषा का अध्ययन परम्परा से चले आ रहे भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण से आगे नहीं बढ़ सकता। अगर भाषा-वैज्ञानिक और काव्य-समीक्षक के सहयोग को फलप्रद बनाना है तब यह आवश्यक है कि भाषा-वैज्ञानिक काव्य-रूपों एवं उसकी परम्परा से सम्बन्धित सभी प्रश्नों से भली-भाँति परिचित हो और काव्य-समीक्षक को भी आधुनिक भाषा-विज्ञान की अपनी प्रगति, उसके द्वारा अपनाई जा रही नवीनतम पद्धति और इस क्षेत्र की उपलब्धियों का सही ज्ञान हो।"[७]

रोमन याकोब्सन शैली-विज्ञान को भाषा-विज्ञान का ही एक अंग मानते हैं, पर ध्यान रहे कि उनके भाषा-विज्ञान का क्षेत्र सामान्य रूप में मान्य भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है। उनके भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर न केवल अकाव्यात्मक (कैजुअल) वाक्य आते हैं वरन् 'काव्यात्मक' (नॉन-कैजुअल) वाक्य भी उसी सीमा-क्षेत्र के भीतर हैं। उनके अनुसार काव्य-शास्त्र को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर निकालने का प्रयत्न करने वाले वे भाषा-वैज्ञानिक है जो भाषा-विश्लेषण की तथ्य-सामग्री के रूप में केवल अत्यन्त व्यवस्थित अकाव्यात्मक वाक्यों को स्वीकार करते हैं अथवा जिनके मत के अनुसार अध्ययन की सीमा केवल व्याकरण-क्षेत्र की परिधि तक सिमटी रहती है, या जो अर्थ को केवल वस्तुओं के सूचक-कार्यफलन तक बाँधकर रखते हैं बिना यह जाने कि भाषा के अन्य कार्यफलन भी हो सकते हैं। उनके मत के अनुसार यह ठीक है कि किसी भी एक भाषा को व्यवहार में लाने वालों के सामाजिक वर्ग के लिए भाषा एक ही होती है, लेकिन इस एक भाषा की व्यवस्था के भीतर कई उपव्यवस्थाएँ होती हैं। हर उप-व्यवस्था भाषा-संघटना का एक निश्चित 'पैटर्न' प्रदान करती है और एक भाषा के बीच पाये जाने वाले 'पैटर्न' और 'सब-पैटर्न' में एक निश्चित सम्बन्ध होता है तथा हर पैटर्न, भाषा के एक निश्चित कार्यफलन का परिणाम होता है।

भाषा-विज्ञान का कार्य-क्षेत्र, भाषा की प्रत्येक संघटना का पता लगाना है, 'पैटर्न' और 'सब-पैटर्न', सबकी खोज करना है और उसके सन्दर्भ में उन सभी कार्य-फलन का विश्लेषण करना है जो भाषा के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पैटर्न' 'सब-पैटर्न' के साथ जुटा होता है। कविता में भाषा के जिस 'पैटर्न' या 'सब-पैटर्न' को हम पाते हैं उसकी अपनी विशिष्टता होती है और इस विशिष्टता को हम 'सब-पैटर्न' के साथ उसके कार्य-फलन को जोड़कर जान सकते हैं। भाषा-विज्ञान अगर भाषा के भीतर पाये जाने वाले सभी 'पैटर्न' एवं 'सब-पैटर्न' तथा तज्जनित कार्य-फलन को अपना अध्ययन-क्षेत्र स्वीकार करना है तब कविता को उसके सीमा-क्षेत्र से बाहर नहीं किया जा सकता।

अपने लेख 'भाषा-विज्ञान और काव्य-शास्त्र' के निष्कर्ष-रूप में उनका कहना है—"अगर कवि रैंसम का यह कथन सही है (और वह सही है) कि 'कविता, भाषा का ही एक रूप है' तब भाषा को अपनी अध्ययन-सामग्री बनाने वाले भाषा-वैज्ञानिक को अपने कार्य-क्षेत्र के भीतर कविता को भी स्वीकार करना ही होगा। इस सम्मेलन ने भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि अब वह समय हमसे काफी पीछे छूट गया है जब भाषा-वैज्ञानिक और साहित्य के इतिहासकार काव्य-संघटना-सम्बन्धी प्रश्नों को टाल जाया करते थे।…अगर अभी भी कुछ आलोचक ऐसे हैं जो काव्य-शास्त्र की चर्चा को भाषा-विज्ञान की सामर्थ्य-शक्ति के बाहर समझते हैं तब मैं व्यक्तिगत रूप से इसमें विश्वास रखता हूँ कि काव्यात्मक असक्षमता को भूल से स्वयं भाषा-विज्ञान की ही सीमा समझा जाने लगा है। यहाँ पर उपस्थित प्रायः सभी व्यक्ति यह अनुभव कर रहे हैं कि भाषा के काव्य-फलन के प्रति बधिर भाषा-वैज्ञानिक और भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषा वैज्ञानिक प्रणाली से अपरिचित साहित्य-शास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।"[८]

जहाँ तक काव्य-शास्त्र और भाषा-विज्ञान के अन्तस्सम्बन्धों का प्रश्न है, याकोब्सन के अनुसार संघटनात्मक स्तर पर काव्य-शास्त्र, भाषा-विज्ञान का एक अभिन्न अंग है। जिस प्रकार चित्रकला की विवेचना का सम्बन्ध चित्रों की संघटना से सम्बन्धित रहता है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र का सम्बन्ध शाब्दिक संघटना की समस्याओं के साथ रहता है और शाब्दिक संघटना के अध्ययन का मूल विज्ञान भाषा-शास्त्र है, अतः काव्य-शास्त्र भाषा-विज्ञान का अपना (विशिष्ट) एक अंग है।

लेकिन साथ में काव्य-शास्त्र मूलतः इस प्रश्न को लेकर भी चलता है कि वह **कौनसे तत्त्व हैं जो शाब्दिक सन्देश (मेसेज) को कला की वस्तु बना देते हैं?** जब काव्य-शास्त्र को इस सन्दर्भ में कला के अन्य क्षेत्रों से 'व्यवच्छेदक दृष्टि' के आधार पर ग्रहण किया जाता है अर्थात् जब यह देखने का प्रयास किया जाता है कि शाब्दिक-कला के रूप में ग्रहीत कविता, कला के अन्य क्षेत्रों अथवा अन्य शाब्दिक व्यवहार (वर्बल बिहेवियर) से किस आधार पर भिन्न है तब निश्चय ही साहित्यिक क्षेत्र में उसका एक प्रमुख स्थान बन जाता है।

भाषा और साहित्य के प्रसिद्ध सोवियत मर्मज्ञ **विनोग्रादोव** के अनुसार काव्य-शास्त्र को मात्र भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में रखना असंगत होगा। कला-शैली की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा की सबसे बड़ी कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि कविता में गुणात्मक स्तर पर दो नितान्त भिन्न सामाजिक कार्य-फलों का वह अभिन्न संयोग होता है अर्थात् भाषा और साहित्य, गुणात्मक स्तर पर दो भिन्न क्षेत्र हैं, सामाजिक कार्य-फलन की दृष्टि से भी ये दो तत्त्व हैं पर कविता की विशेषता इसी में है कि इन दो नितान्त भिन्न तत्त्वों को वह अपनी संघटना में एक साथ अन्तर्निहित किए रहती है। उनके अनुसार जब हम भाषा के सन्दर्भ में शैली की चर्चा उठाते हैं, तब भाषा-शैली होने के कारण उसका यह पक्ष 'भाषा-विज्ञान' के भीतर आता है और जब हम साहित्य के व्यापक सन्दर्भ में शैली की बात करते हैं, तब उसका दूसरा पक्ष सामने आता है जिसे 'साहित्यिक शैली' कहा जा सकता है जो भाषा-विज्ञान का नहीं वरन् साहित्य का अपना क्षेत्र है। ये दोनों शैलियाँ—भाषा एवं साहित्य, अपने सम्मिलित सहयोग और कार्य-फलन के अपने निजी संतुलन के परिणामस्वरूप 'कला-शैली' को जन्म देती हैं। काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत जब कला-शैली की चर्चा उठाई जानी चाहिए तब उनके अनुसार उसमें भाषा और साहित्य, दोनों ही शैलियों का विश्लेषण होना अपेक्षित है। अतः काव्य-शास्त्र शैली के सन्दर्भ में मात्र भाषा-विज्ञान की वस्तु नहीं, उसके कुछ पक्ष उससे अलग भी हैं और कविता के विवेचन में इन दोनों पक्षों को अलग रखना अनिवार्य है।[९]

अपने विवेचन में विनोग्रादोव यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि भाषा और साहित्य शैली के अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप आविर्भूत 'कला-शैली' का स्वरूप क्या है? फिर **स्पिट्जर** के मत का खण्डन तो वह करते हैं पर यह प्रतिपादित नहीं कर पाते कि जिसे वह 'साहित्य-शैली' कहते हैं उसे कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सन्दर्भ में भाषा के माध्यम से समझाया जाना संभव है अथवा नहीं। अगर भाषा के आधार पर समझना सम्भव नहीं तब उसे भाषा-शैली के सीमा-क्षेत्र से बाहर रखना ठीक है, पर अगर भाषा की अपनी व्यवस्था एवं आन्तरिक संघटना के आधार पर उसे परखना और जानना सम्भव है तब कहीं ऐसा तो नहीं कि उनके द्वारा स्थापित साहित्यिक शैली भाषा की आन्तरिक संघटना के विशिष्ट कार्य-फलन का ही परिणाम है।

झिरमुन्स्की के अनुसार कला-शैली को भाषा के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। कविता की कला-शैली का सम्बन्ध, कवि की जीवन-दृष्टि और उसके भाव-जगत् के साथ होता है जो यद्यपि शब्दों के माध्यम से तो व्यक्त होता है पर शब्दों की ही परिधि में ही सिमटा नहीं होता। कविता शब्दों के पार जाकर समाधीकृत बौद्धिक प्रत्ययों से ऊपर उठकर अबौद्धिक जगत् की सृष्टि करती है ?[१०]

अगर विनोग्रादोव और झिरमुन्स्की की बात मान भी ली जाए, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कविता में जिस भाषा का प्रयोग होता है अथवा अपने माध्यम को कविता जिस रूप में अपनाती है और उसके सहारे जिस 'अबौद्धिक कथ्य' अथवा 'भावजगत् की जीवन-सृष्टि' को वह व्यक्त करती है, उसके बीच कोई अन्तरंग सम्बन्ध नहीं। यह तो कहा जा सकता है कि बोलचाल की सामान्य भाषा 'अबौद्धिक कथ्य' या 'जीवन-दृष्टि' का माध्यम बनने में समर्थ नहीं। कविता की भाषा 'काव्यात्मक' भी तो इसीलिए है कि वह बोलचाल की इस अक्षमता को अन्य साधनों से दूर करती है, अपनी सम्भावनाओं का प्रसार करती हुई वह एक असामान्य स्तर पर असामान्य कथ्य को भी अन्तर्भुक्त कर लेती है। जिस कारण से भाषा की सामान्य स्थिति असामान्य हो उठती है उस कारण की ओर संकेत भाषा की असामान्य स्थिति देती है। सवाल तो इसका है कि भाषा की असामान्य स्थिति और उस असामान्य स्थिति में पहुँचाने वाले कारण (कविता में—'अबौद्धिक कथ्य' और भावजगत् की जीवन-दृष्टि) के बीच के सम्बन्धों की प्रकृति क्या है ? क्या इन सम्बन्धों की प्रकृति को अनुसन्धान का विषय बनाना सम्भव है ? 'अबौद्धिक कथ्य' तक भाषा की सामान्यीकृत प्रकृति का सहारा लेते हुए पहुँचा जा सकता है।

कविता के 'अबौद्धिक कथ्य' का पता अगर कविता ही देती है तो निश्चय ही कविता जिस माध्यम से उसे अपने भीतर सँजोती है, उस माध्यम का विश्लेषण ही सँजोई गई वस्तु को सही दिशा में समझने में सहायक होगा। स्पिट्ज़र के अनुसार "यह कहने के बजाय कि कविता **शब्द-निर्मित** नहीं होती और कविता में शब्द अपने अर्थ से मुक्त होकर, बौद्धिक-प्रत्यय के पार जाकर लयात्मक प्रत्यय का सृजन करते हैं, मैं यह कहना चाहूँगा कि कविता **शब्द-निर्मित** ही होती है और उन शब्दों का अर्थ भी उसमें **'स्थित'** रहता है। लेकिन कवि की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा, जो काव्य-संघटना को एक समग्र दृष्टि के लयात्मक प्रत्यय में बाँधता है, इन शब्दों एव उसमें स्थित अर्थ को बौद्धिक प्रत्यय के पार ले जाकर लयात्मक प्रत्यय तक पहुँचा देती है। और यह भाषा-शास्त्र के अध्येता का कार्य है कि वह इस तथ्य का विश्लेषण करे कि निर्देशित रूपान्तरण की प्रक्रिया क्या है। कविता के अबौद्धिक पक्ष भाषा-वैज्ञानिक आलोचक के हाथों में अपनी सत्ता खो नहीं देते अथवा उनके हाथों उनका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसके ठीक विपरीत वह कवि के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए कार्य करेगा (यह बात दूसरी है कि वह कवि की स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखेगा) और धैर्यपूवक विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेते हुए उस पथ को ढूंढ़ने का प्रयत्न करेगा जो बौद्धिक से अबौद्धिक की ओर कविता को ले जाता है और जिस दूरी को कवि अपनी एक छलाँग में ही तय कर लेता है।[११]

कहने का तात्पर्य यह है कि अगर यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि कविता 'अबौद्धिक कथ्य' और 'भाव-जगत् के सत्य' को लेकर चलती है तब भी उसे पाने और समझने का रास्ता शब्द और उसमें निहित अर्थ का ही है। शैली-विज्ञान, कविता के इस 'अबौद्धिक कथ्य' और 'शाब्दिक प्रत्यय' के सम्बन्धों का ही विश्लेषण प्रस्तुत करता है और यह देखने का प्रयत्न करता है कि शाब्दिक प्रत्यय का रूपान्तरण किन स्थितियों में और किन माध्यमों द्वारा 'अबौद्धिक कथ्य' में हो जाता है। विश्लेषण की इस प्रक्रिया का आधार वहाँ भाषा के विभिन्न कार्य-फलन और काव्य-भाषा की अपनी संघटना होते हैं और ये दोनों मूलतः भाषा-विज्ञान के क्षेत्र के भीतर आते हैं, अतः शैली-विज्ञान को भाषा-विज्ञान का ही एक अंग माना जा सकता है, जहाँ विश्लेषणात्मक प्रणाली,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा-वैज्ञानिक है, पर जिसकी विश्लेषणात्मक सामग्री भाषा का सामान्य रूप न होकर उसका विशिष्ट, साहित्यिक पक्ष होता है और जहाँ भाषा के उस विशेष कार्य-फलन को केन्द्र बनाया जाता है जिसके सहारे कवि शब्दों के साथ बँधे बौद्धिक-प्रत्यय का रूपान्तरण अबौद्धिक कथ्य में करने में समर्थ सिद्ध होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1 Rene' Wellek : 'From the Veiwpoint of Literary Criticism', (closing statement), 'Style in Language', Ed. by Thomas A. Sebeok, New York—London (1960) p. 408-9.

२. ग० ओ० विनोकुर, रूसी भाषा-सम्बन्धी लेखों का संकलन (रूसी में), मास्को (१६५६), पृ० २५१-३।

३. व० कोभिनोव, 'क्या संघटनात्मक काव्यशास्त्र सम्भव है' (रूसी में) साहित्यिक समस्याएँ, ६ (१६६५), पृ० ८२-१०७।

४. ई० रेव्जिन : 'कलात्मक रचनाओं के संघटनात्मक अध्ययन के लक्ष्य' (रूसी में), साहित्यिक समस्याएँ, ६ (१६६५), पृ० ७३-८७।

५. व० न० तोपोरोव : 'भाषा-विज्ञान और काव्य-शास्त्र की समीक्षा' (रूसी में), रूपवादी (टाइपोलाजिकल) विश्लेषण, मास्को (१६६२), पृ० २६४।

6. Sol Saporta : 'The Application of Linguistics to the Study of Poetic Language', Style in Languages, p. 82-93.

7. Edward Stankiewiez : 'Linguistics and the Study of Poetic Language', Style in Language, p. 69-81.

8. Roman Jakobson : 'Linguistics and Poetics', Style in language, p. 350-377.

६. व० व० विनोग्रादोव : 'शैली-विज्ञान'—काव्य-भाषा के सिद्धान्त, काव्य-शास्त्र (रूसी में), मास्को (१६६३), पृ० १६४-२००।

१०. व० म० भिरमुन्स्की : गेटे और वायरन की काव्य-रचना, (रूसी में), मास्को में आयोजित साहित्यिक कृतियों के शैली-सम्बन्धी सम्मेलन में पढ़ा गया शोध-पत्र, मास्को (१६६१), पृ० २६।

11. Leo Spitzer : 'Three Poems on Ecstacy', Essays on English and American Literature, Ed. by Anna Hakher, Princeton (1962), p. 141-42.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रेषणीयता : कुछ कथन

धर्मेन्द्र गोयल

१. साहित्य, कला अथवा अन्य सामाजिक व्यापार बहु-व्यवित प्रसंग में। उपलब्ध हैं 'सम्प्रेषण' एक साधारण प्रक्रिया है जो संस्कृति के इन सभी विविध तत्त्वों में अनिवार्य है।

२. जरूरी नहीं कि सारी सम्प्रेषण-विधियाँ भाषा की अभिधामूलक विधि के अनुरूप ही हों। कुछ लक्षणा, व्यंजना में अथवा उनसे भी बाहर हो सकती हैं। सम्प्रेषण की जिस चर्चा को लक्ष्य करके यह कथन गढ़े जा रहे हैं, उस बहस में वस्तुपरक अथवा विवरणात्मक भाषा की चर्चा से कोई सरोकार नहीं है। भाव, राग, संवेदना, अनुभूति (जो वस्तु-जगत् के सपाट तथ्यों से कुछ जटिल हैं) के कथ्य किस प्रकार कहाँ तक साहित्य की विधाओं या साहित्य-जैसी दिखने वाली कृतियों में सम्प्रेषित हो सकते हैं ? गूढ़ता, व्यक्ति-संवेदना का 'अवाच्य' अथवा 'अनिर्वचनीय' रूप अनुभूति की जीवनी का सहज अंग है। किन्तु क्या इस जीवनानुभूति का सौष्ठव, निखार और सुनिश्चित रूपायन तथा मूर्त संवेदनाओं में पुनर्निर्माण भाषा की शक्तियों (जो कि रूढि, प्रयोग-विलास, विभिन्न अलंकारों के नियोजन और अन्य तोड़-मरोड़ हैं) के माध्यम से कृति में सफलतापूर्वक अवतरित किया जा सकता है? अथवा इस सम्प्रेषण की सीमाएँ हैं ? और यदि सीमाएँ हैं भी, तो क्या वे स्वयं भाषा की शक्ति (अथवा अन्य माध्यम की) सीमा हैं, अथवा उस विशेष अनुभूति की अनुकृति करने वाली रचना-प्रक्रिया की तथ्यमूलक सीमा हैं ? यह प्रश्न विचारणीय है। इसको ध्यान में रखकर ही नीचे के कथन पढ़े जाएँ तो अच्छा हो।

३. सम्प्रेषण के कई विविधधर्मी आयाम साहित्य-विश्लेषण में संकेतित हैं। कृति की सर्जनात्मक एकता भी उसी को ध्यान में रखते हुए काफी संश्लिष्ट समझी जानी चाहिए। उसकी संयोजना अनमेल स्तर के कई तत्त्वों (भाषा, स्तर, भाव, प्रतीक, बिम्ब, बोध आदि) को अपने कथ्य के अनुरूप एक कृति को ढालने में संलग्न पाई जाएगी। कृति 'कथ्य' की विशिष्टता एवं चारुता को अवतरित करने में समर्पित होती है। कहाँ तक यह समर्पण सफल सम्प्रेषण कर पाता है, उक्त कृति के मूल्यांकन द्वारा जाना जाता है। यह तो सहज ही स्पष्ट है कि कृति का समूचा सम्प्रेषण एक-स्तरीय नहीं होता, और प्रायः एकाएक भी नहीं हो पाता, यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं। किसी सुहृद अथवा रसविद को प्रथम प्रतिक्रिया में ही कलाकृति के सभी आयाम एकाएक चमत्कृत करते देखे जाते हैं, किन्तु इस प्रकार का चरम मार्मिक रसास्वादन प्रायः कम होता है। ऐसी स्थिति में प्रायः जो भ्रामक निष्कर्ष सिद्ध समझे जाते हैं कि कला सम्प्रेषण वस्तुनिष्ठ नहीं होता, अथवा रुचि-सापेक्ष होता है, दूसरे शब्दों में स्वयं कलाकृति व्यक्तिनिष्ठ सत्य को प्रतिपाद्य मानती है, अथवा असम्बोधित होती है आदि—गलत हैं, उनकी गलतियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न मैं अपने बाकी कथनों में करूँगा।

४. साहित्य का संप्रेषण वक्तव्य पर केन्द्रित कभी भी नहीं होता। परन्तु सभी कृतियों में (कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य) विवरण वाक्य और वक्तव्य प्रयुक्त किए जाते हैं, किन्तु उनकी स्थिति सहज दैनंदिन भाषीय कथनों से तुलनीय नहीं होती। उन कथनों की सत्यता साधारण तथ्यमूलक युक्ति से कथाचित् सिद्ध या असिद्ध करना हास्यास्पद लगे। मैं समझता हूँ बच्चों को छोड़कर कोई भी दूसरा पाठक साहित्य को संसार की घटनाओं का विवरण न समझता होगा। इसी प्रकार रचना-प्रक्रिया केवल रोचक और मुहावरेदार गद्य या परम्परागत शब्द-अनुशासन द्वारा लयबद्ध पद्य, छंद और ऐसी अन्य टकसाली कसरतों के साथ भी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घपलाई जा सकती । पाठ्यपुस्तकीय अथवा तथाकथित प्राध्यापकीय समीक्षा के आलोचना-व्यापार में इस प्रकार की वर्गणा, तुलनाखानापूरी, हदबन्दी व्यापक मात्रा में पाई जाती है, वह सब उक्त आलोचना की असमर्थता, कृत्रिमता और सीमा का ही ज्ञापन करती है। किन्तु 'शब्द' की अर्थ-सम्पदा को हानि पहुँचाने के लिए यह तथाकथित अकादमिक आलोचना ज़िम्मेदार है, तो यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि छद्म, कुण्ठित और रुग्ण वृत्तियों का अजूबा सजाना मात्र ही साहित्यिक प्रगति का एकमात्र दायित्व नहीं है। यह देखा जाता है कि जीवन के हर क्षेत्र की भाँति साहित्य में भी भाँडों, ठेकेदारों, किराए के टट्टुओं और भोंडे नक्कालों से छुटकारा आसान नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं मानना चाहिए कि कलात्मक सम्प्रेषण सदा दूर की कौड़ी होता है और वस्तुतः रचना व्यर्थ के जाल की एक रोचक मुखौटा मात्र होती है, जिसके माध्यम से सनसनीखेज उन्माद, बकवास और रुग्ण मनोवृत्तियाँ व्यक्ति के छिपे भागों से निकलकर फट पड़ना चाहती हैं। शायद साहित्य जैसी चीज़ों में इस प्रकार के उन्मादग्रस्त और रुग्ण मनोभाव भी आ जाते हों, किन्तु 'साहित्य' इनके कारण नहीं होता, इनके होते हुए भी सम्भव होता है। प्रलाप, काम-उद्दीपन (पोर्नोग्राफी) की तिजारती भाषा में प्रस्तुत सन्निपात और 'साहित्य' में जिसे तमीज़ करने की शक्ति न हो, उसे साहित्य पर वक्तव्य देने का क्या कोई अधिकार हो सकता है? आज हमारे लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

५. असम्प्रेषण, अवाच्य अथवा भाषा का संकट किसी रचनाधर्मी को तभी सालता है, जब उसके स्वतःनिर्वाचित माध्यम की पूर्वगठित रूढ़ियाँ (मुहावरा, व्याकरण, छन्द, बिम्ब) उसे जकड़ी हुई लगें। प्रत्येक स्वस्थचित्त सर्जनशील कृतिकार पुनरावृत्ति और ड्रिल से न केवल अलग होता है, बल्कि अपनी कृति में प्रयोग से ही अपनी जिजीविषा कलात्मक अभिव्यंजना में चरितार्थ करता है। यह अभिव्यक्ति रचना-व्यापार के प्रतीक, बिम्ब, मुहावरों और सुचारु संगठनों के निर्माण में सतत संलग्न होती है। कृति की शक्ति और औचित्य इन तत्त्वों को आन्तरिक सौष्ठव नियोजन और एकता प्रदान कर सकने में होता है। कृति का जीवन्त सत्य कृतिकार के अनुभूत कथ्य को नए आयामों पर सम्प्रेषित करता है। इस प्रक्रिया में कलात्मक उपलब्धि तभी होती है, जबकि यह पूरी प्रक्रिया एक सौजन्यपूर्ण सहजता में उपस्थित हो सके। कृ के माध्यम से अनुभूत कथ्य अपनी पारदर्शी अभिव्यक्ति सुहृद तक पहुँचाने के लिए सम्प्रेषण के आयाम प्रशस्त क है। नए खोजी के जीवन-वृत्त से कला-शृंखला बँधी होती इसके विपरीत स्थितियों में केवल परम्परा स्वीकृत फार्मू पर रियाज़ से महारत हासिल की जा सकती है, पर किस्म की मेहनत, रियाज़, ड्रिल दकियानूस सड़ाँध भले कला नहीं है। ड्रिल चाहे फिर भरत के नाट्यशास्त्र प्रस्थापनाओं पर हो, अथवा काव्यप्रकाश की काव्य-प भाषाओं या और किसी फार्मूले पर···। किन्तु नवीनता प्रलाप, आक्रोश, अधकचरे उन्माद का पर्याय नहीं है। भा विह्वलता, असन्तुलन और रागात्मक तीव्रता जीवन में देखी जाती है। कला और साहित्य हमारी नियति न हो हमारी स्वयं की सृष्टि है जो मूढ, असन्तुलित प्रतिक्रिया सृष्टि नहीं होती। यह भी पहचाना जाए तो बात बराबर रहे

६. साहित्य और कला-समीक्षक की यह बुनियादी जिम्मेदारी होती है कि अपनी विधा में उपलब्ध कृतियों नूतन अर्थ-प्रकारों की संवेदनशील व्याख्या दे। रचना प्रस्तुत कला-रूढ़ियों को अनावृत करे। सृजन की अनुभूति और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों को स्पष्ट करे। कृति में उपस्थि प्रयोगों (बिम्ब-योजना, स्वर-विधान, लयात्मकता अथ छन्दहीनता) को निरखे-परखे और पूरी सहानुभूति से उस कलात्मक मंतव्य को पहचानकर उसकी सफल-असफल अभि व्यक्ति पर निर्णय दे। आलोचक कम-से-कम सुहृद तो हो ही कुछ सीमा तक उससे अधिक, विस्तृत प्रतिक्रिया करने में य वह कुशल हो, तो बेहतर है। समीक्षक को सतही वक्तव्यों सिद्धान्तों और प्रचार के बेबुनियाद तूफानों से लड़ने की शक्ति अपने में पानी चाहिए। नैतिक साहस, संवेदनशीलता, कृ के प्रति समर्पण-भाव, वस्तुनिष्ठ व्याख्या और कृति की रचना वृत्ति से सौन्दर्य की अनुभूति पाने की उत्कट जिज्ञासा भी समीक्षक की निजी रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं। इस दृष्टि पूर्णतः प्रामाणिक समीक्षक हो सकना टेढी खीर है, किन्तु यदि कोई ऐसा हो, तो भी कोई विशेष कला-कृति इतनी विशिष्ट हो सकती है कि उसकी अभिव्यक्ति की जटिल गहराई उससे भी अछूती रह जाए। उसमें कोई भी प्रतिक्रिया न हो सके। किन्तु ऐसे समीक्षक को भी ऐसी कला-कृति की जीवन्तता, वस्तुनिष्ठ सत्यान्वेषणा एवं मार्मिक मन्थन के बा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सम्भवतया कोई आशंका नहीं होगी। पूर्ण सम्प्रेषण के लक्ष्य को पाने के लिए रसवन्त कला प्रतिक्रिया द्वारा कलात्मक अनुभूति को निजी अनुभूति में पुनर्जीवित करना होता है, तो यह प्रयास कभी-कभी आंशिक प्रतीतियों के होने के कारण असफल हो जाता है। कोई-कोई कला-कृति एक पूरे सम-कालीन युग में अनपहचानी रह जा सकती है, किन्तु उसकी ऐसी चुनौती को कला-समीक्षक बिना पहचाने नहीं रह सकते।

७. प्रत्येक सृष्टि इस प्रकार कला-कृति में एक नया अर्थ-आयाम उजागर करने का मन्तव्य रखती है। नई ज़मीन तोड़-कर हमारी बँधी-रुकी अनुभूति को, जीवनी को, नए अंकुर और रूपों से सजाती है। कई कलाकार अपनी कृति की परम नवीनता का उद्‌घोष यह कहकर करते हैं, कि वे जो करते हैं वह असम्प्रेषणीय है, असम्बोधित है और पूर्णतया 'अवाच्य' है। ऐसे कथन यदि पूरी ज़िम्मेदारी से लिए जायें तो ही विचारणीय हैं, यदि केवल पाठ-पुस्तकीय पाठकों-समीक्षकों को तिरस्कृत करने के मुखौटे हैं, तो इनका कोई महत्त्व नहीं है। जब यह बात पूरी सच्चाई से मानी जाती है तब इनके ऐसे कथनों के घपले को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। उम्मीद है कि स्वयं कलाकार इन पर विचार करे तो सहायता मिले। सम्भवतया कलाकृति के असम्प्रेषणीय होने के दावे के पीछे यह भयानक भय होता है कि सभी पाठक जाने-अनजाने कृति से वक्तव्य, कथन अथवा परिभाषाएँ पाने की आशा रख रहे हैं। हम पिछले कथनों में स्पष्ट कर चुके हैं कि ऐसी हास्या-स्पद भूल आज के सुहृद पाठक में अनिवार्यत: सोचना परिहास ही तो हो, तथ्य नहीं है। किन्तु कलाकृति बिना कथन बने भी सार्थक सम्प्रेषण ज़रूर है, उसका अनुभूति-लाघव, संयोजन, बहु-गुणशीलता प्रतिक्रिया के द्वारा पुनर्निर्मित होकर अपने प्रथम सहचारी अनुभूत भावों, सत्य अथवा मंतव्य से सादृश्य प्राप्त कराने में ही निहित है, यदि ऐसा कुछ भी नहीं है, तो निरर्थक तत्त्वों के वर्ग और कृति में अन्तर सम्भव न हो सकेगा। रूढ़ि, व्याकरण, छंद, घिसे-पिटे मुहावरे को तोड़ना तथा प्रयोग, प्रतीक और अन्य नर-आयामों को पुरस्कृत करना 'असम्बोधन' अथवा 'निरर्थकता' का पर्याय नहीं है। अपनी परम्परा के प्रति खीझ को व्यक्त करने के लिए कृतिकार को केवल आक्रोश के नाते प्रलाप नहीं करना चाहिए, कम-से-कम अभिधामूलक दावों में।

८. कलाकृति सदा वैशिष्ट्य-धर्मा होती है, किन्तु उसमें एक सफल संरचनात्मक संतुलन और आन्तरिक गठन भी होता है, चाहे हमारे साधारण साक्ष्य से वह कितना ही विसंगतिपूर्ण या विरूप क्यों न लगे। इसलिए कोई कृति 'विरूपता से विरूपता तक' ही कभी बन्दी नहीं हो सकती। कला-अवयव और रूढ़ियाँ हमारी अनुभूतियों के रूप-उद्‌घाटन के, हमारी सृष्टि-मूलक कल्पना के स्वतंत्र तथ्य हैं, परन्तु यह तत्त्व स्वयं अपने अवमूर्तन के सफल होने पर वस्तुनिष्ठ सम्प्रेषण के लिए सौंदर्य-सृष्टि करते हैं। इन्हें केवल विरूपता, अराजकता अथवा अचेतन कुण्ठा से प्रस्तुत बाह्य अनुशासित घटनाओं से घपलाना न कलात्मक जीवन को समझना है और न कृति के आन्तरिक स्वातंत्र्य को।

९. इस सम्बन्ध में यदि 'असम्बोधन' और 'अकथ्य' के फतवेबाज़ धीरज से पिछले कथन को पढ़ सके हों, तो मुझे उनसे एक और संक्षिप्त अनुरोध करना है कि क्या उन्होंने स्वयं निजी वैयक्तिक अनुभूति की विशिष्टता को उसके जटिल ताने-बाने में समझने का कभी प्रयास किया है? यदि वे करते रहे हैं, तो उन्हें यह स्पष्ट पहचानना चाहिए कि कोई एक अनुभूति यदि पुनर्निर्मित न की जाये तो केवल एक क्षण के बाद स्वयं अनुभवकर्ता द्वारा भी पहचानी नहीं जा सकती? कलाकृतियाँ बार-बार कम-से-कम उनके रचने वालों को सर्जक मानसिकता की सही याद दिला जाती हैं, नहीं तो आप अपनी रचना के पाठक स्वयं आप भी नहीं हो सकते। जब क्षणिकवादी ने कहा कि आप एक नदी में दो बार नहीं उतरते—शिष्य ने कहा, "महाशय एक बार भी नहीं।" अस्तु।

१०. कला-जैसी संरचनाओं का लालित्य-बोध आदि कम-से-कम रचयिता को यदि मिलता है तो वह भी इसीलिए कि उक्त संरचना में प्रस्तुत अवयव अपनी योजना और विशेष गठन में पुनर्निर्मित किए जाकर चीन्हे जा सकते हैं, और यदि ऐसी चीन्ह भी नहीं मिल पाती, तो कला-मंतव्य ही लुप्त हो जायेगा, और इस खण्डित यथार्थ-स्थिति को यदि कोई असम्प्रेषणीय यथार्थ माने तो मुझे किसी आपत्ति की गुंजाइश नहीं होगी।

११. लेकिन क्या आज के 'असम्बोधन' के फ़रमाबरदार निजी वैयक्तिकता की चीन्ह छोड़ गये हैं? उन्हें अपने अनुभूत की विशिष्टता का क्या कोई आज भान नहीं है? यदि है, तो उन्हें जानना चाहिए कि उनका असम्प्रेषण का जेहाद केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी रुग्ण पक्षाघाती परम्परा के प्रति आक्रोश की प्रतिक्रिया-मात्र न होगा, बल्कि समस्त कलात्मक अनुभूति की रचना को नकार देगा। कविता सयत्न, सचेत, अनुभूति की परख, चुनाव और प्रयोजन के अनुरूप प्रयोग, प्रतीक और भाषा को गढ़ने से बनती है—की जाती है—ऐसा परम वैयक्तिक कवि भी मानता पाया जाता है, परन्तु यदि एक सीमित अनुभूत स्थिति से उबर उठ सकने के समस्त व्यवधान-साधन ही असाध्य हो जायें तो अनुभूति का साहचर्य एवं नैरन्तर्य भी असाध्य हो जाएगा। धीर विवेचन उन्हें यह दिखला सकता है, कि सम्प्रेषणीयता का दायरा, कथ्य, किसी एक विशेष शिल्प, फार्मूलों, रूढिगत कला, अभिप्रायों, प्रतीकों तक सीमित नहीं है। इन दो वर्गों को नासमझी के कारण आपस में घपलाना नहीं चाहिए। अवाच्य "केवल अवाच्य है साहित्य नहीं।" मौन और शब्द का तनाव सम्प्रेषण का ही औज़ार है, दुरूह रुग्णता का विज्ञापन नहीं।

१२. यदि 'कृति' सार्थकता का कोई भी दावा न करे, यदि 'रचना' और चेतनाविहीन 'घटना' में कोई अन्तर ही न बचा हो, और स्वयं रचयिता को यदि रचना होने के पश्चात् उक्त अनुभूत मानसिकता और 'कृति' में कोई सादृश्य न दिखलाई पड़े, अथवा कलाकार स्वयं कृति में अपने आत्म-समर्पण को न पहचान पाता हो, तभी—केवल तभी उसे अपनी कृति को 'असम्बोधित' कहने का पूरा अधिकार है। इसके पहले यदि वह यह सब नहीं मानता तो उसके ऐ… वक्तव्य मिथ्या अहं के रुग्ण आवेग से अधिक कुछ नहीं है।

१३. यदि कोई व्यक्ति ऐसा हो (या ऐसे भोग रहा हो) तो पहले तो वह कभी भी स्वयं नपे-तुले वक्तव्य देने… स्थिति में नहीं होगा और यदि ऐसी मनःस्थिति को को… व्यक्ति प्राप्त हो चुका हो उसके प्रति मानसिक उपचार… आवश्यकता को साधारण बुद्धि से साधारण जन पहचाने… किसी को भी क्षुब्ध होने की कम-से-कम कोई सहज युक्ति… दिखाई नहीं पड़ती।

१४. इस दृष्टि से यदि आज चलने वाली बहस को… सम्प्रेषण-केन्द्रित समझने का प्रयास किया जाए तो इन सा… फ़तवों और तेवरों के पीछे आत्म-प्रचार और लंगी मार… साहित्य-जैसी चीज़ की तिजारत करने की प्रवृत्ति ही अधि… मिलेगी। बौनी कविता, अकविता—अगीत नया-गीत, अ… कहानी आदि-आदि यदि कुछ कलात्मक सर्जन कर रहे हैं तो… उसे मनवाने के लिए 'असम्बोधित' होने की धमकियाँ ब… कानी घुड़कियों से अधिक नहीं लगतीं—"या तो मुझे य… अभी, साहित्य-विभूति कहो, पूजो, नहीं तो खुट्टी…हाँ…" क्या समीक्षा द्वारा ऐसी रचनाओं का मूल्यांकन किया जा… सकता है? इस प्रश्न पर मैं कुछ भी कहना, प्रस्तुत कथनों में… प्रासंगिक नहीं समझता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'साधारणीकरण' का द्वन्द्वन्याय

रमेश कुंतल मेघ

मध्यकालीन विश्वदृष्टिकोण में ही स्वयुगीन कला और धर्म, समाज और संस्कृति की कुंजी निहित है। यह दृष्टिकोण आधिभौतिक (मेटाफ़िज़िकल) था। सांख्य दर्शन में एक ओर तो सत्कार्यवाद एवं परिणामवाद के कारण कार्यकारण के भौतिक अक्ष खुलते हैं, तथा दूसरी ओर भूत (मैटर) या त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण द्वन्द्वन्याय की भी झाँकी मिलती है। अतः साधारणीकरण के प्रवर्तक भट्टनायक (नवीं या दसवीं शताब्दी) का द्वन्द्वन्याय आधिभौतिक भौतिकवाद (मेटाफ़िज़िकल मैटीरियलिज़्म) का प्रतिभास कथन है। भट्टनायक ने सांख्यदर्शन के प्रतीकों एवं पारिभाषिकों का इस्तेमाल भी किया है।

चक्राक या रेखाक विकास को मानने वाला हमारा मध्यकालीन विश्वदृष्टिकोण देश एवं काल-संभूत विश्व के प्रत्यक्षज्ञान अथवा प्रभा पर विश्वास नहीं रखता। उसके अनुसार इस विश्व का संदर्शन एक अन-देशिक (non-spatial) एवं अन-कालपरक (non-temporal) स्वयं प्रकाश्यज्ञान अथवा प्रज्ञा के द्वारा ही हो सकता है। अतः वह काल की क्रमिकता एवं परिवर्तन के धर्मों के बजाय **महाकाल की नित्यता,** और शरीर एवं जगत् की अशुद्धि के बजाय **आत्मा की शुद्धता** की भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। अतः यह विश्वदृष्टिकोण अपरिवर्तनशील एवं निर्वैयक्तिक रूपों (फार्म्स) की तलाश करता है। अपरिवर्तनशील रूपों का यह बोध अगर थोड़ा-बहुत परिवर्तन स्वीकार भी करता है तो वह 'विवर्त', 'माया' या 'भ्रम' के बोध से संचालित होता है। यह परिवर्तन ('दोष') किसी गुण के कम होने या बढ़ने का ही कार्यकारणरहित 'उन्मेष' (उपक्रम) देता है। इसके अलावा इस परिवर्तन का कारण भी आविभौतिक संघटना (फ़ेनामेना) होती है। वह हमारी चेतना पर आरोपित **अलौकिक चैतन्य** या 'ब्रह्म' हो गया है। यों कार्यकारण परम्परा में हम सत्कार्यवाद—असत्कार्यवाद—स्वभाववाद—विवर्तवाद—अनेकांतवाद आदि भी पाते हैं, किन्तु इनमें से कुछ कार्य एवं कारण का अन्वेषण करते हैं, तो कुछ सत् (यथार्थता) एवं असत् (इल्यूज़न) का। इस तरह मध्यकालीन कार्यकारण न्याय दो पक्षों में बँट जाते हैं।

साधारणीकरण में अपरिवर्तनशील एवं निर्वैयक्तिक रूपों की तलाश हुई है। मूलतः व्यक्तिवाचक संज्ञा को जाति-वाचक संज्ञा या भाववाचक संज्ञा के बोध में बदल देना ही इस खोज का पहला चरण है। साधारणीकरण में विशेषण और क्रियाविशेषण का रूपान्तर नहीं होता। क्रियाएँ और संज्ञाएँ ही विशिष्ट (पर्टीकुलर) से वैश्वक (यूनीवर्सल) हो जाती हैं। यह भाषिकीय रूपांतर नाट्य के माध्यम से होता है। अतः सबसे पहले हम सप्रसंग नाट्य के रूप (फार्म) एवं विषयवस्तु (कांटेंट) का निर्धारण करेंगे।

द्वन्द्वन्याय में ये एक कोटि (केटेगरी) में आते हैं। विषयवस्तुओं के तत्त्वों के व्यवस्थापन (arrangement) की पद्धति ही 'रूप' है जिससे एक ऐसा अन्तर्संगठन कायम होता है जो नाट्य का अस्तित्व कायम रखता है।

विश्व के बाह्य रूप (external form) में एक नाट्य-विश्व का आंतरिक रूप (internal form) गठित होता है। विश्व के देश-अक्ष को हम रंगमंच में, तथा काल-अक्ष को कार्य-व्यापार में विन्यस्त पाते हैं। अतः लौकिक बाह्य जगत्

१. इसके दार्शनिक तथा नैतिक निरूपण के लिए देखें: 'भट्टनायक का सौंदर्यदर्शन : आधुनिक दृष्टि', र० कु० मेघ, "परिषद पत्रिका" (पटना), अप्रैल, १९६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भिन्न एक दूसरा प्रस्तुत जगत् निर्मित होता है। इस जगत् में तात्कालिकता (immediacy) ही सर्वप्रधान है । इस तात्कालिकता के कारण नाट्य का काल (Time) विलक्षण हो जाता है अर्थात् इस काल का प्रवाह तेज होता है (अर्थात् कई वर्षों की घटना कुछ घंटों में समाप्त की जाती है); तथा **नियंत्रित** भी होता है (अर्थात् नाटककार की इच्छा और कथा के प्रयोजनों के अनुसार ही कार्य-व्यापार घटता है।) इसी तरह इसके देश (Space) का विधान रंग-संग्रह एवं वेशभूषादि द्वारा किया जाता है। अतः नट एक विशिष्ट देश एवं विशिष्ट काल में संकुचित हो जाता है। रंगमंच में मानव-मात्र की सृष्टि (नट द्वारा) होती है और रंगमंच के तीन आयामों वाले अन्तराल में पात्र एवं कार्यव्यापार **साक्षात्** जीवित रहते हैं। रंगमंच के ये भौतिक स्वगुण (प्रापर्टीज़) हममें एक तनाव पैदा करते हैं : बाहर तीन आयामों वाले लौकिक जगत् (यथार्थता) बनाम रंगमंच में तीन आयामों वाले रचित जगत् (भ्रान्ति या इल्यूज़न) के कारण। फलतः लौकिक जगत् के सामाजिक के एवं नाट्य-जगत् के नट के बीच विलक्षण अन्तर्विरोध (कांट्रेडिक्शन) उत्पन्न होते हैं। यह नाट्य-जगत् हमेशा **वर्तमान काल** में उपस्थित रहता है और रंग-व्यापार **प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने** चलता है। केवल नाट्य ही एक ऐसी कला है जिसकी सृजन-प्रक्रिया का परिपूर्ण चक्र हमारे सामने **प्रकटतया** विकसित होकर समाप्त होता है। इसका परिणाम तादात्म्य (आइडेंटिटी)[1] तथा संघर्ष (स्ट्रगल) के अन्तर्विरोध में मिलता है। एक ही समय में हमारे लौकिक काल एवं नाट्य-काल के बीच सह-अस्तित्व है, एक ही समय में पात्र एवं नट का अन्तर्संधान है तथा एक ही स्थिति में यथार्थता एवं भ्रम का अन्योन्याश्रय है। नाट्य-बोध की स्थिति में इनका सह-अस्तित्व रहता है। किन्तु यहाँ मूर्त तादात्म्य (कांक्रीट आइडेंटिटी) नहीं होता, बल्कि स्व-कल्पित तादात्म्य (फेन्सीड आइडेंटिटी) की स्थिति है। यहाँ स्वकल्पित रूपान्तर ही होता है। मार्क्स ने ऐसे स्वकल्पित तादात्म्य में तथाकथित चिरंतन आकर्षण (अर्थात् 'लोकोत्तरा-ह्लाद') की चर्चा भी की है (दे० "ऑन कांट्रेडिक्शन", पृ० ६१, १९५२)। यह तादात्म्य हमेशा अस्थायी, क्षणिक, सापेक्ष्य और शर्तों से बँधा होता है। इस तादात्म्य में उक्त विपरीतों की ऐसी ही एकता होती है। अतः पात्र में नट का अन्तर्विलयन और नट में पात्र-रूपता का समावेश रहता है। इसी नाट्य-भूमि पर भट्टनायक तादात्म्य का सामना करते हैं।

स्वकल्पित तादात्म्य के साथ संघर्ष (स्ट्रगल) की कोटि आती है। यहाँ नट एवं पात्र के बीच अविरोधी (non-antagonistic) अन्तर्विरोध रहता है जिसे चेतनता की विशिष्ट अवस्थिति में, साधारणीकरण के द्वारा, सुलझाया जाता है। नाट्यसृष्टि का चरित्र सामाजिक होता है, किन्तु रसास्वाद का चरित्र वैयक्तिक। अतः नट एवं सहृदय के बीच भी अन्तर्विरोध उपस्थित होता है। नाट्य में संघर्ष की कोटि कार्यव्यापार से गुँथी होती है। सहृदय अपेक्षाकृत विश्रांत (rest) स्थिति में होता है, तथा नट प्रत्यक्ष अनु-करणात्मक परिवर्तन (change) में लिप्त रहता है। सहृदय इस गतिशील परिवर्तन का अपनी चेतना में आयत्तीकरण करता है। किन्तु इस आयत्तीकरण में विरोधत्व (antago-nism) है। यह आयत्तीकरण कार्य के बजाय उसके भावकत्व द्वारा होता है। इस विरोधत्वपूर्ण संघर्ष (ऐंटागोनिस्टिक स्ट्रगल) में नट का अस्तित्व तो शेष रहता है लेकिन वह निर्वासित (alienate) होकर उसका सारतत्त्व (ऐसेंश) विशिष्ट के बजाय वैश्वक हो जाता है। अतः नट के निर्वासन (alienation) का संघर्ष पात्र एवं सामाजिक के बीच होता है। पात्र पृष्ठभूमि में रहकर भी पुनः अपने वैश्वक एवं अमूर्त आद्यबिंब के साथ आच्छादन करता है। तथापि मूल केन्द्र नट होता है। अतः साधारणीकरण में 'नट' का प्रश्न ही उभर आता है। किन्तु नट कारण (Cause) के अलावा उप-चार (pretex) भी हो जाता है। किंवा भट्टनायक ने उसे ऐसा ही बनाने का इरादा किया है।

विशिष्ट (पर्टीकुलर) नट को किस तरह अमूर्त भाव रूप में रूपान्तरित किया जाए ? भट्टनायक के पास नाट्य-माध्यम की कुछ सम्भावनाएँ हैं। नाट्य-माध्यम तो प्रत्यक्ष पर आश्रित है और इसका केन्द्र 'ज्ञान' है। भरत से लेकर श्री शंकुक तक इस समस्या को 'ज्ञान' के वृत्त में सुलझाते रहे। नाट्य में वृत्ति, धर्मी, प्रवृत्ति, रंगसंग्रह, गान एवं संगीतादि देश एवं काल की विशिष्टता को उभारते हैं। नट और अनु-करण (अभिनय), तथा रंगमंच और नाट्य-कौशल की उप-

१. इस पूरे लेख में 'तादात्य' का तात्पर्य अद्वय अवस्था न होकर एक तत्त्व का दूसरे विरोधी तत्त्व में तथा दूसरे तत्त्व का पहले विरोधी तत्त्व में सह-अस्तित्व एवं अन्तराश्रय है। यह बात ध्यातव्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि हम एक परिपूर्ण (Total) वैश्वक (यूनिवर्सल) कोटि प्राप्त कर लें। नट के भी तो अपने मुद्रात्मक **प्रयोजन** (जेस्चरल मोटिफ) तथा वेशभूषा-परक **बिंब** होते हैं। अतः ये पूर्ववत् विशिष्ट बने रहते हैं। ये विलक्षण ही रहते हैं, 'साधारण' नहीं। भट्टनायक ने पहले तो 'ज्ञान' का केन्द्र छोड़ा; फिर शब्द एवं रूप की इकाई खंडित की; फिर रूप को छोड़कर अधिकांशरूपेण शब्द को ही ग्रहण किया; और, अन्ततः, ज्ञान के बजाय 'भाव' को केन्द्र में प्रतिष्ठित कर दिया। मानो यह **"जानबूझकर-ज्ञान-का-स्थगन"** है। केवल शब्दार्थ को आमूल आधार बनाकर ही वे साधारणीकरण की प्रक्रिया निवेदित कर पाये। लेकिन 'रूप' [स्टेज, वेशभूषा, नट] के साक्षात् उपस्थित रहने पर यह अन्तर्विरोध तब भी नहीं सुलझ पाया। 'शब्द' के साथ-साथ 'रूप' को भी लेने पर यह प्रश्न सुलझ सकता था। ऐसा क्यों हुआ? नाट्य की गति (motion) के रूप में जो विशिष्ट अन्तर्विरोध हैं उन्हें भट्टनायक नहीं समझ सके। वे केवल श्रव्य तत्त्वों का भावन करा सके, और न चाहकर भी क्रमशः दृश्य तत्त्वों को छोड़ते गए। इसी तरह वे नट बनाम पात्र के द्वैत को सुलझाने से भी भागते रहे, जबकि श्रीशंकुक के लिए यही जबर्दस्त चुनौती थी।

इस नई परिस्थिति को समझने के लिए हमें पुनः नाट्य-रूप का अन्वेषण करना होगा; और इसके बाद हम पुनः विशिष्ट (पर्टीकुलर) बनाम वैश्वक (यूनिवर्सल) के सवाल को उठाएँगे।

भट्टनायक के पहले समाज-रूप-रंगमंच (Stage-as-Society) था। भट्टनायक ने सामाजिक-रूप-रंगमंच (Spectator-as-Society) का आहरण किया। बर्तोल्त ब्रेख्त को भी अपने कुछ नाट्यों के रूपत्व में परिवर्तन करते वक्त ऐसे ही कुछ अन्तर्विरोधों का सामना करना पड़ा था। सामाजिक के और समाज के दर्पण में परिवर्तन होने पर हमेशा आस्था (faith) तथा विचारधारा (ideology) के तनाव आते हैं। भट्टनायक को भी नैतिक आस्था और अद्वैत-वादी विचारधारा के तनाव झेलने पड़े थे। वस्तुतः इन्हीं दोनों सामाजिक तनावों का परिणाम ही साधारणीकरण की धारणा का उन्मेष है। रंगमंच के पहले पक्ष का हम निरूपण कर चुके हैं जिसके अन्तर्गत नट, वैयक्तिक तादात्म्य तथा संघर्ष आते हैं। दूसरे पक्ष में नाट्य दो स्तरों की भ्रान्ति को प्रतिबिम्बित करता है। इसका निरूपण भी हम कर चुके हैं। स्तर के दुहरेपन के कारण आंशिक अनुभव रंगमंच में तथा शेष सहृदय में बँट जाता है; और सहृदय रंगमंच के दर्पण के 'परे' या 'पीछे' भी संक्रमण करता है। इस संक्रमण में वह अपने अन्तर्लोक में पहुँचता है जहाँ नट की तरह बिना सहकर्मी (non-participant) बने हुए भी वह (सहृदय-साक्ष्य) आनन्दबोध से प्रभावित होता है। यह संक्रमण नाट्य की गति का ही एक विलक्षण रूप है क्योंकि दृश्यविधान और आंगिक-वाचिक-आहार्य अभिनय उसमें एक मनस्तात्त्विक दूरी (psychical distance) उत्पन्न कर देते हैं। इसके अलावा रंगमंच की यथार्थता समाज में संस्थित न होकर दर्शक में संस्थित होती है। रंगमंच की इस यथार्थता को वह आस्था (faith), या हठात् विश्वास (make-belief), या दोनों के द्वारा स्वीकार करता है। अतः वह पहले बाह्य जगत् का निषेधायन (negation) करके नाट्य-जगत् को प्राप्त करता है, और [साधारणीकरण के द्वारा] नाट्य-जगत् का निषेधायन करके अपने अन्तर्जगत् का विपुल विकास करता है। सम्पूर्ण नाट्य-सृष्टि में भी इसी तरह मूल चरित्र, नाटकीय पात्र और नट क्रमशः निषेधित होकर मानव-चरित्र की वैश्वक कोटि प्राप्त करते हैं। भट्टनायक आन्तरिक अन्तर्विरोध (internal contradiction) का निराकरण तो थोड़ा-बहुत कर देते हैं किन्तु रंगमंच और नट के बहिर्गत अन्तर्विरोधों (external contradictions) को नहीं सुलझा पाते। इस बात को हम पहले भी दूसरे ढंग से कह चुके हैं। सहृदय-रूप-रंगमंच को लेने के कारण वे नट एवं पात्र का तादात्म्य कर देते हैं। रंगमंच में नट का अधिनायकत्व होता है। अतः उसमें परिवर्तन की आन्तरिक कल्पना करके ही भट्टनायक गुणात्मक परिवर्तन कर डालते हैं : दृश्य (अभिधा) को भाव (भावना) में बदलकर। मात्रा का गुण में यह रूपान्तर एक छलांग (leap) द्वारा होता है। इस रूपान्तर में प्रत्यक्ष के बजाय भावरूप ऐंद्रियिक तथ्यांक (Sense-data) पर आग्रह हो जाता है। यहाँ उनकी विचारधारा भी सक्रिय है क्योंकि सांख्यदर्शन में गुण अनुभूतिपरक है, जबकि ध्वनिकार उन्हें धर्मरूप मानते हैं। अतः भावकत्व की अतिरिक्त विलक्षणताओं का कारण 'गुण' हैं। अतः प्रत्यक्ष का स्थान भाव-बिंब ले लेता है।

रूपान्तर को विशिष्ट-वैश्वक इसकी कोटि के अन्तर्विरोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा कुछ अधिक समझा जा सकता है। एक प्रमेय (object) के अन्तर्गत ये दोनों पक्ष उपस्थित होते हैं और इनमें अन्तस्सम्बन्ध भी होते हैं। विशिष्ट वैश्वक हो जाता है तथा वैश्वक विशिष्ट। किन्तु इस परिवर्तन में अन्य बाह्य-तत्त्वों के भी सम्बन्ध जुड़े होते हैं; जैसे, संवाद की भाषा में दोष, गुण, अलंकार और अभिनय में वेशभूषा, दृश्यविधान आदि की बहिर्मुखी भूमिका होती है। ये बाह्य तत्त्व हमारी चेतना में मनस्तात्विक दूरी (psychical distance) उत्पन्न करते हैं। ये विशिष्ट स्थिति (Specific circumstance) की तरह हैं। नट और भाव-सम्बन्धों का विशिष्ट ज्ञान प्रसारित होते हुए मनुष्य तथा अमूर्त भावों का वैश्वक ज्ञान भी बन सकता है अगर प्रमाता एक जैसे कई प्रमेयों के विशिष्ट गुणों का ज्ञान प्राप्त कर चुका है। साधारणीकरण की स्थिति में प्रमाता विशिष्ट से सामान्य का ज्ञान प्राप्त करता है तथा अप्रत्यक्ष नाटककार सामान्य से विशिष्ट का। प्रमेय के मानवीय सामान्य गुणों का ज्ञान उसके विशिष्ट गुणों के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि नाट्य की उत्पादक शक्तियाँ मानवीय विभावानुभावादि हैं और उनका प्रभाव रस है, अतः विशिष्ट ज्ञान सामान्य की ओर अग्रसर हो सकता है। हम इस वस्तु को कई वस्तुओं से अन्तस्सम्बन्धित करके यह सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि नाट्य के रस-चक्र में भाव एवं स्थायीभाव का चक्राक क्रम मूलवासना की निरपेक्षता में परिणत होता है, अतः राम 'मानवत्व' में, और राम-सीता की रति 'कान्ताभाव' में रूपान्तरित हो सकती है। साधारणीकरण में विभावादि सामान्य हो जाते हैं अर्थात् आलम्बन अपने व्यक्तिगत धर्म को छोड़कर सामान्य धर्म के रूप में साधारण धर्म के साथ उपस्थित होता है।

साधारणीकरण अहं (I) की दशा न होकर माम् (me) की दशा है। इसी वजह से सामाजिक पर भावन होता है। एक प्रकार से अगर **भावकत्व** आलम्बन का सम्बन्धात्मक साधारणीकरण है; तो अगले चरण में, **भोगकृत्व** सामाजिक का गुणात्मक साधारणीकरण। वस्तुतः साधारणीकरण में प्रमेय या वस्तु के प्रति उद्बुद्ध होने का धर्म परिपूर्ण होता है जिससे द्रव्यरूपता तो नहीं, किन्तु संवेदनशीलता (इन्द्रियों का गुण) तीव्र रहती है। त्रिगुणात्मक सांख्य के अनुसार 'यह राम है' का ज्ञान भावना द्वारा 'यह वह है' में परिणत होता है। अतः भाव के उपर्युक्त 'स्वकल्पित तादात्म्य' वाले व्यापार को ही 'भावकत्व' की संज्ञा दी गई है। इस भावकत्व के दो परिणाम निकलते हैं : (i) अब शकुन्तला न तो मूल पात्र है, न ही रंगमंच की अभिनायिका। अब वह 'कान्तामात्र' है। इससे विभाव (कारण) की समस्या नहीं उठती और 'ताटस्थ्य'-दोष (अर्थात् कारण-कार्य का द्वैत) दूर हो जाता है। (ii) अब शकुन्तला का स्थायीभाव कान्ता-जाति का स्थायीभाव हो जाता है—अर्थात् निजत्व बोध नहीं रहता। इस तरह आत्मगत दोष दूर हो जाता है। फलतः भावकत्व का प्रयोजन ताटस्थ्य एवं आत्मगत दोषों को नहीं उठने देना ही है। यहाँ भट्टनायक ने जिस सूक्ष्म बिन्दु को पकड़ा है वह विभावादि तक का साधारणीकरण है। भरत से श्रीशंकुक तक विभावादि विशिष्ट (पर्टीकुलर) तथा स्थायी-भाव वैश्वक (यूनिवर्सल) रहते थे, किन्तु उन्होंने भावकत्व के साधारणीकरण व्यापार द्वारा सभी को वैश्वक शृंखला में पुह दिया। स्पष्ट है कि इसका परिणाम नट और पात्र के द्वैत को भुलाने में निकला। फिर तो नाट्यमाध्यम का भी अति-क्रमण किया गया, क्योंकि श्रीशंकुक कृत्रिम विभावादि का **अनुकरण** मानते थे, लेकिन भट्टनायक ने साधारणीकरणात्मना विभावादि का **भावन** प्रतिपादित किया। (अतः सामाजिक एवं नट के बीच के निज मोह-संकट का निवारण हुआ; और सामाजिक की लोक एवं नाट्य दशा के बीच रजोगुण की समाप्ति एवं सत्त्वगुण का उदय हुआ।) इस तरह यह सम्पूर्ण ढाँचा नाट्यविशिष्टता और नट-विशिष्टता का अतिक्रमण करने की ओर अग्रसर होता है। किन्तु विशिष्ट-वैश्वक का यह अन्तर्विरोध एक नया विरोध (antagonism) प्रस्तुत करता है जिसकी ओर शायद अभी तक ध्यान नहीं दिया गया। कहा जाता है कि साधारणीकरण हमें 'शकुन्तलात्व-विशिष्ट' से 'कान्तात्व-सामान्य' की भूमि पर ले आता है। किन्तु तब चरित्र-चित्रण की क्या महत्ता रही? अगर हम नट के अभिनय को केवल कौशल में ही बाँधकर छुट्टी पाने का उपक्रम करें तो पात्र के **चरित्र** की विशिष्टता कहाँ जायेगी? अतएव 'कान्तात्व-सामान्य' के बजाय द्वंद्वात्मक 'कान्तात्व-विशिष्ट' ही होना चाहिए। हम तो यही पाते हैं कि एक ओर तो रंगसंग्रह एवं चतुर्विध अभिनय के क्षेत्र में साधारणीकरण केवल अंशरूपेण (शब्द के सन्दर्भ में) लागू हुआ है तथा दूसरी ओर सामान्यत्वपूर्ण-वैशिष्ट्य (universalized particular) की भी उपेक्षा हुई है। अतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषेधायन के द्वंद्वन्याय और विशिष्ट-सामान्य की कोटि के आधार पर साधारणीकरण की यही तस्वीर प्रकट होती है जिसमें त्रुटियों का कारण आधिभौतिक विश्वदृष्टिकोण है।

अन्त में एक बात शेष रहती है। साधारणीकरण की अनिवार्यता का उद्गम नाट्य-यथार्थता की अपेक्षा एक नैतिक समस्या है। इस दृष्टि से हम सामाजिक अमल (Social practice) के पहलू को बखूबी समझ सकते हैं।

साधारणीकरण की धारणा मिथक (Myth) और जादू (Magic) के परिवृत्त में उद्भूत हुई। सीता और पार्वती जैसी दिव्य एवं पूज्य अर्थात् मिथकीय कान्ताओं के प्रति सामाजिक में सहज रतिभाव, तथा हनुमान जैसे देवता के अतिमानवीय एवं अलौकिक अर्थात् जादुई कार्यों के प्रति आश्चर्य को वे नाट्य की किसी भी सम्भावना (possibility) से नहीं जोड़ सके। उनके लिए, और उनके युग के लिए, उक्त दोनों स्थितियाँ यथार्थ, सत्य और पुनीत थीं। यही नहीं, उनके साथ धार्मिक नैतिकता जुड़ी थी। हम भली-भाँति जानते हैं कि मध्यकालीन समाज में मिथक और जादू तथा धर्म अन्तस्सम्बन्धित थे। इनका सम्बन्ध कर्मकाण्ड (ritual), आस्था (faith) और नैतिकता (morality) से था। मिथकीय प्रत्यक्षीकरण में हमेशा भावावेग रहता है। मिथक और जादू के मॉडल प्रकृति न होकर समाज हैं। अतः हनुमान के अतिप्राकृतिक कार्यों में सुरक्षा, स्वतंत्रता तथा प्रकृति-विजय का बोध निहित हुआ; और शिव या राम की रति में दिव्यपवित्रता की मर्यादा निवेदित हुई। अतः एक ओर नैतिक आदर्शों को तथा दूसरी ओर अन्धविश्वासों को नाट्यचक्र में समन्वित करने की समस्या उठी। यह समस्या इसलिए जटिल हुई कि यहाँ स्वयं पात्र देवी-देवता हो गये। अन्यथा मानवीय पात्रों को लेकर पुण्य कर्म, त्रिवर्ग सिद्धि, सन्धि-प्रकृति-व्यापारपंचकों के द्वारा नाट्य के रचनागठन (structure) को भी मध्यकालीन विश्वदृष्टिकोण में ढाला ही जा चुका था। नये सामाजिक व्यवहार या अमल ने सिद्धान्त के सामने एक बदला हुआ सामाजिक दर्पण रखा। न तो नाटक में दिव्य पात्रों को वर्जित किया जा सकता था, और न ही सामाजिक को रसास्वाद अर्थात् स्थायीभावरति या आश्चर्य के बोध से वंचित किया जा सकता था। नैतिक अनौचित्य नाट्य-संसार में अनुचित नहीं था क्योंकि मिथक का ही अभिनय हो रहा था। यहाँ नट के पुनीत होने की बात मानी जा सकती थी (पात्र तो पुनीत थे ही)। तब तक समाज में नट का पेशा पुरोहित के यज्ञ की तरह पुनीत नहीं रह गया था। अतः या तो मिथकीय पात्र मनुष्य बनें, या फिर सामाजिक साधक बनें। सामाजिक के साधक बनने का भी सामाजिक वातावरण नहीं था क्योंकि भट्टनायक ब्रह्मकारणवादी के बजाय सत्कार्यवादी थे। अतः एक ही रास्ता खुला : मिथकीय पात्रों को मानवीय बनाओ और सहृदयों को शुद्ध करो (अर्थात् उनके **मोह** एवं **संकट** का निवारण कराओ)। फलतः आलम्बन से उसके व्यक्तिगत धर्म छुड़वा दिये गए। अतएव अब मिथकीय पात्रों एवं जादुई घटनाओं का चरित्र उदात्तीकृत सामाजिक और सामान्य हो गया; तथा रसास्वाद के व्यक्तिगत चरित्र का भी निवारण हो गया। सामाजिक व्यवहार की आवश्यकता ने सौन्दर्यतात्त्विक स्थिति का यह नया आयाम सहसा ही खोल दिया। और, इस नये मुक्ति-धर्म आयाम का नामकरण 'साधारणीकरण' किया गया। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि इस प्रक्रिया में निषेधायन (निगेशंस) हुए। पात्र और नट, नट और सामाजिक तक यह प्रक्रिया चली। अन्ततः स्वकल्पित तादात्म्य (fancied identity) कायम हुआ; तथा विशिष्ट-वैश्वक के अन्तर्विरोध का भी निराकरण हो गया। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले ये, बस, फैलाव

कान्ता

पहले ये, बस, फैलाव—
उदास—उदास—फैलाव—
और दबा-दबा-सा गुलाबीपन;
दूसरे :
सुर्ख सिकुड़न-गुंथा
बेताब फैलाव—
अजीब
रंगों का समूह—
और समूह में एक रंग,
और उस एक रंग में
बे-रंग;
दो आकाश : दरारों वाले :
धूप और अंधेरे के लिए आतुर।
किन्तु न धूप
सिमट कर फैली,
न फैल कर गाढ़ हुआ
अँधेरा—
बस, आकाश
खो बैठा
अपनी नीलम सहजता :
मैं जीती रही थी
अब तलक
दोहरा संसार !!

फिर उसी उदास फैलाव के लिए,
अनजाने
चले पाँव
कभी धूप के पीछे-पीछे,
कभी
अँधेरे के समानान्तर।
सलवटें पड़ी रहीं, फिर भी।
आती रही
सिर्फ़, एक अंतः गंध
दूर से :
पाटने की दरारें.....

कशमकश में यों, खो गये
दोनों भी संसार
आधे-आधे।
और उन्हें जीती हुई मैं
पूरने की कोशिश में।
भीतर : सब तीतर-बीतर :
बे-मौसम ओलों में, यकायक, जैसे,
अपना मौसम पा गया
पतझार
धरती पर बिछता, छा गया
आकाश तक—
मोहक
रेतिल पीलेपन में।
और समूचा पतझार भी नहीं।
झूठ गया
दूसरे में ज्यादा
पहला संसार—

पटीं नहीं दरारें,
और हो गयीं सपाट—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बूंद-बूंद झरी
उनकी सीली, घुटती हवा में
अन्तःगंध :

मैंने समझा,
मृत्यु ने दिया छू
यातना भोगते सत्य को समर्पित होता
वह दूसरा संसार ।

हर बार, मगर,
एक-न-एक धुंधला छोड़ निशान
तमाम मेरी कोशिशें करता रहा
नाकाम

वह
आधे से आधे का आधा भाग—
अपनी-अपनी दरारों के साथ, सहज,
थोड़ा-सा अलग-अलग लगे दीखने
दो आकाश—

अब
सब तरफ पानी,
और पानी में सिर्फ़ धूप,
या, सिर्फ अँधेरा;
कोई एक अकेली नीलम सहजता नहीं,
बस सकें जहाँ
दोनों भी
साथ-साथ—

मैं कसे रही गंध
फिर भी—

थोड़ा-सा अलग-अलग दो आकाश
पहले खिंचे
अनझिल लिये आतुरताएँ,
फिर डूबे
पानी में :

तैरता उभरा
आधे से कुछ ज्यादा
एक नयी पीड़ा की धारे हुए सिकुड़न
अपने फैलाव में

मेरा पहला संसार—
दूसरे को जिलाता हुआ
बार-बार—

किन्तु निस्सीम समय ।
—यों ही क्षण-क्षण
दूसरे को देते जीवन,
स्वयं छूते मृत्यु—
अब अपने प्रति प्रतिबद्धता में—
पूर जाएगा पहला संसार
किसी दिन
(शायद, मेरे बाद ।)

एक नया संसार होकर—
बस, उदास-उदास फैलाव में
गुलाबीपन की दाब सहेजता
एक मिल जाएगा नीलापन और
ताजा राख का—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक मूल्य

यशदेव शल्य

नीति की न्यूनतम परिभाषा 'कर्त्तव्याकर्त्तव्य का क्षेत्र' यह दी जा सकती है और 'कर्त्तव्य' का अर्थ 'उचित कर्म' किया जा सकता है। 'कर्म' के अन्तर्गत शारीरिक के अतिरिक्त मानसिक का भी समावेश किया जा सकता है—मनसा, वाचा, कर्मणा शुभ करने का उपदेश बहुत पुराना है। अपने इस न्यूनतम रूप में यह परिभाषा निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो सकती है, यद्यपि कुछ लोग इसमें 'मानसिक' का, 'भाव-विचार' का, समावेश नहीं करना चाहेंगे। इस परिभाषा की कठिनाइयाँ उस समय उत्पन्न होती हैं जब हम 'उचित' और 'कर्म' शब्दों के अर्थों पर विचार करना आरम्भ करते हैं। किन्तु तब भी कुछ दूर तक इनके अर्थों की व्याख्या में विना विवाद के आगे बढ़ा जा सकता है—ज्ञात प्राणियों में केवल मनुष्य के व्यवहार या क्रियाओं को ही 'कर्म' कहा जा सकता है, अन्य किसी प्राणी की क्रिया को 'कर्म' नहीं कहा जा सकता, और 'उचित' या 'अनुचित' विशेषण केवल 'कर्म' के साथ ही प्रयुक्त हो सकते हैं, अन्य क्रियाओं या व्यवहारों के साथ नहीं। इस वात में भी सब सहमत होंगे कि मानव की सब क्रियाएँ 'कर्म' नहीं होतीं और परिणामतः वे 'उचित-अनुचित' भी नहीं होतीं।

परिभाषा की यह सहमति इससे तनिक भी आगे नहीं जाती, यहाँ तक कि इस बारे में भी सहमति नहीं है कि क्रियाओं का क्या गुण उन्हें 'कर्म' बनाता है। वास्तव में जितनी सहमति हमने देखी है उतनी भी प्रकट रूप से ही है, वास्तव नहीं है, क्योंकि 'उचित' और 'कर्म' की अधिकांश अर्थापत्तियाँ 'कर्म' को 'क्रिया' से भिन्न नहीं करतीं। तो भी संभवतः प्रकट स्तर पर सब यह स्वीकार करेंगे कि "साभिप्राय घटित क्रिया कर्म है," जहाँ 'साभिप्राय' का अर्थ है ज्ञान और प्रयोजन के साथ। इस परिभाषा की कुछ कठिनाइयाँ हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे, किन्तु तव भी इस परिभाषा को स्वीकार किया जा सकता है। यह परिभाषा पाशव क्रियाओं तथा मनुष्य की अनेक क्रियाओं को 'कर्म' के वाच्य क्षेत्र से निकाल देती है। किन्तु 'ज्ञान और प्रयोजन' पद को जिस अर्थ में सामान्यतः स्वीकार किया जाएगा, हम यहां उस अर्थ में इसका प्रयोग नहीं कर रहे हैं। सामान्यतः इसका अर्थ होगा, क्रिया के लक्ष्य का ज्ञान और लक्ष्य-सिद्धि के साधनों का ज्ञान आदि। किन्तु, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह गुण क्रिया को पर्याप्त रूप से कर्म का स्तर नहीं देता। इसलिए 'ज्ञान' से हमारा अर्थ यहाँ 'क्रिया का क़र्ता होने के बोध' से है।

इस प्रकार से 'मानव कर्म करता है' का अर्थ है कि वह अपनी क्रियाओं का साक्षी होता है। क्रिया का यह साक्षित्व—कर्तृत्वाभिमान—उसे कर्ता के पद पर प्रतिष्ठित करता है, उसे "क्रिया के साधन मात्र" से "क्रिया के लिए उत्तरदायी" बनाता है।

एक अर्थ में 'उत्तरदायित्व' शब्द भ्रामक हो सकता है। 'उत्तरदायी' का अर्थ हो सकता है पुरस्कार और दण्ड का अधिकारी। किन्तु यह अर्थ सही नहीं है क्योंकि दण्ड और पुरस्कार, प्रस्तुत अर्थ में कर्त्ता को कर्त्ता से इतर कोई देता है। इस अर्थ की पुष्टि सामाजिक दण्ड-नियमों अथवा प्रशंसा-निन्दा से भी मिलती है, जिनका पात्र केवल कर्त्ता अथवा उत्तरदायी को ही समझा जाता है, अवोध को नहीं, कर्मवाद की भी कुछ व्याख्याओं में यही धारणा निहित है। किन्तु वास्तव में यह सही नहीं है, क्योंकि उत्तरदायित्व केवल अपनी क्रियाओं के साक्षित्व से ही आता है, क्रिया का यह साक्षित्व कर्त्ता से अपने को व्याख्यायित करने की माँग करता है, जिस व्याख्या के सन्दर्भ में निरूपित होकर कर्म 'उचित' के विशेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मंडित होता है और उससे भ्रष्ट होकर 'अनुचित' के विशेषण से। सामाजिक या दैविक दण्ड और पुरस्कार कर्तृत्वाभिमान (मैं कर्त्ता हूँ) के अर्थ-बोध से उत्पन्न उत्तरदायित्व के एक प्रकार से विपरीतार्थक हैं, क्योंकि ये व्यक्ति पर बाहर से उत्तरदायित्व लादते हैं, जैसे मानिये ढोर के खेत में जा घुसने पर उसे डंडा मारा जाता है। किन्तु इसे एक दूसरे अर्थ में भी समझा जा सकता है—व्यक्ति जबकि इस अर्थ-बोध में समर्थ है, वह प्रायः ही या तो इस ओर देखता ही नहीं, अथवा देखकर उसका अर्थ समझने में असमर्थ रहता है, अथवा अर्थ जानकर भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता, उस अवस्था में उससे अधिक अनुभवी, अधिक विज्ञ **सामाजिक अतिव्यक्ति** अपने इस बोध का आरोपण उस पर करता है। इस प्रकार से यद्यपि सामाजिक पुरस्कार और दण्ड कर्तृत्वाभिमान की वैयक्तिक चेतना की असामर्थ्य को पूर्वकल्पित करते हैं किन्तु स्वयं ये इसी अर्थ-बोध के परिणाम होते हैं। ये सामाजिक पुरस्कार और दण्ड भी इस अर्थ में सामाजिक नहीं होते कि ये सामाजिक सम्बन्धों के निर्देशक होते हैं, क्योंकि ये अत्यन्त निभृत वैयक्तिक आदर्शों और मूल्यों के भी पुरस्कारक होते हैं; ये इस अर्थ में सामाजिक होते हैं कि इनका अधिष्ठान सांस्कृतिक कर्तृत्वाभिमान में होता है।

'कर्म' के इस अर्थ में, 'औचित्य-अनौचित्य' उसके अर्थ के घटक हैं, अर्थात् कोई कर्म ऐसा नहीं हो सकता जो उचित या अनुचित नहीं हो; अथवा कहें, जिस क्रिया को उचित या अनुचित नहीं कहा जा सकता उसे कर्म नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टि से 'उचित' और 'अनुचित' शब्द 'सत्य' और 'असत्य' के समान हैं जो ज्ञान-विषयों के अर्थ-घटक होते हैं। विषयों का सत्यासत्यत्व एक निश्चित कसौटी पर पूरा उतरने में है। इस प्रकार से कसौटी या प्रतिमान प्रकट रूप से विषय-बाह्य होते हैं। किन्तु वास्तव में कसौटियाँ या प्रतिमान विषय-बाह्य नहीं होते, विषय अपनी उत्पत्ति के साथ ही अपने सत्यासत्यत्व की कसौटी को भी जन्म देता है। उदाहरणतः 'यह मेज़ है' ज्ञानात्मक निर्णय है और मेज़ इसमें विषय है, अब यह निर्णय सत्य है यदि यह प्रस्तुत 'मेज़ होने' की कसौटी को सन्तुष्ट करता है। यह कसौटी मेज़ के विषय-बोध की घटक है, उससे पृथक् नहीं है। यदि इस कसौटी को बदल दिया जाय तब इस विषय का स्वरूप भी बदल जाएगा। उदाहरणतः वैज्ञानिक कसौटी और पौराणिक कसौटी भिन्न-भिन्न होती हैं और परिणामतः उनके विषय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। (जैसा कि 'पौराणिक मनोवृत्ति' और 'प्राकृतिक विज्ञान' अध्यायों में निरूपित विषयों के स्वरूप से देखा जा सकता है।)

इसी प्रकार से कर्मों के लिए भी—कर्मों के औचित्य-अनौचित्य की कसौटी इस अर्थ में प्रत्येक कर्म से बाह्य होती है कि प्रत्येक कर्म को उस कसौटी को सन्तुष्ट करना होता है, किन्तु तब भी वह उसकी घटक होती है, क्योंकि कर्म ही इस कसौटी को जन्म देता है और कसौटी-भेद के साथ कर्म में स्वरूप-भेद हो जाता है। उदाहरणतः 'चौर कर्म' अथवा 'असत्य-भाषण' के अनौचित्य की कसौटी 'लोभ' अथवा 'कामुक वृत्ति' के अनौचित्य से भिन्न है, प्रथम में कर्ता अपने को अन्य कर्ताओं के बीच पाता है जबकि दूसरे में कर्ता का कर्म अन्य कर्ताओं को प्रभावित नहीं करता, जब तक कि यह कर्म मानसिक स्तर तक ही रहता है। संभवतः यह कहा जाए कि कोई ऐसा कर्म नहीं है जो अन्यों को प्रभावित नहीं करता। यदि कोई ऐसा कहता है तो वह 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में कर रहा है, उसके अनुसार यदि मैं एकान्त वन में रहता हूँ तो भी मेरे विचार मेरे व्यक्तित्व को प्रभावित करेंगे और मेरा व्यक्तित्व विश्व की समग्रता में एक अंश होने के कारण विश्व की समग्रता को प्रभावित करेगा। 'प्रभाव' का यह अर्थ यहाँ अप्रासंगिक है, क्योंकि एक तो यह केवल कर्म की ही विशेषता नहीं है और दूसरे, कर्ता अपने ऐसे कर्मों के औचित्य को अन्य कर्ताओं के परिप्रेक्ष्य में नहीं आँकता। यदि मैं अत्यन्त भीरुता के कारण अपने लोभ को कभी चौर-कर्म में परिणत नहीं कर पाता, अथवा यदि मैं अपने धन से निरन्तर अपनी जिह्वा को सन्तुष्ट करने में प्रवृत्त रहता हूँ, तो कम-से-कम कुछ अवस्थाओं में, मेरे कर्म के औचित्य की कसौटी अन्य कर्ताओं के मध्य मेरे कर्तृत्व से निर्धारित नहीं होती, किन्तु तब भी ये कर्म 'उचित' अथवा 'अनुचित' होते हैं।

कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो 'औचित्य' या 'अनौचित्य' के सन्दर्भ में घटित हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। उदाहरणतः मेरा कला-कर्म उचित है, किन्तु यह कुशल या अकुशल भी है। कर्म की ये दो अत्यन्त भिन्न प्रकार की कसौटियाँ हैं और परिणामतः 'एक' कला-कर्म अत्यन्त भिन्न दो विषयों के रूप में रचित होता है। 'उचित'-'अनुचित' केवल कर्तृत्वाभिमान का प्रसंग है, अर्थात् क्रिया के कर्ता के अर्थ-बोध के प्रतिमान पर परखे जाने का।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कर्तृत्वाभिमान' या 'कर्ता का अर्थ-बोध' पद का अर्थ 'नैतिक मूल्य' और 'उचित' के स्वरूप को समझने के लिए आधारभूत है। सब क्रियाएँ लक्ष्य-परक होती हैं, अर्थात् इनका जन्म अपेक्षामूलक होता है और उस अपेक्षा के सन्तोषजनक विषय अथवा वस्तु अथवा अवस्था की प्राप्ति के साथ क्रिया पर्यवसित हो जाती है। लक्ष्यपरकता ही 'क्रिया' को 'घटना' से अलग करती है। इस लक्ष्यपरकता में कोई चेतनता या लक्ष्य का विचार होना आवश्यक नहीं है, निद्रित अवस्था में खुजलाना तक एक क्रिया है। कुत्ते का रोटी की खोज में इधर-उधर घूमना भी क्रिया ही है और एक प्रकार से निद्रा में खुजलाने और भूख लगने पर भोजन खोजने में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, क्योंकि भूख और खुजली दोनों स्वतोजात अपेक्षाएँ हैं और ये दोनों अपने सन्तोष के लिए चेतनता की अपेक्षा नहीं करतीं। वास्तव में यह कहना कठिन है कि कुत्ता भोजन खोजते हुए उस अवस्था से कुछ मूलतः भिन्न अवस्था में होता है जिसमें कि वह निद्रा में खुजलाते हुए होता है। इनमें यह तारतम्य शरीर-वैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं है बल्कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी है—दोनों अवस्थाओं में कुत्ते की चेतना प्रस्तुत वृत्ति में निहित होती है! अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि जागृत अवस्था में वह एक वृत्ति में पूर्णतः निहित नहीं होती, किन्तु यह सुषुप्तावस्था में भी एक ही वृत्ति में निहित होनी आवश्यक नहीं है। मुख्य बात यह है कि स्वतः इन अपेक्षाओं के स्वरूप में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। मानवीय क्रियाएँ पाशव क्रियाओं से कुछ भिन्न होती हैं। खुजलाई आदि की क्रिया मनुष्य और पशु में एक ही स्तर की होती है, किन्तु मनुष्य में भूख और भोजन के बीच का व्यवधान मानसिक दृष्टि से बहुत दीर्घ है। यह व्यवधान, कुछ अवस्थाओं को छोड़ कर, अपेक्षा को इच्छा का रूप दे देता है। अपेक्षा जब ज्ञान-विषय बनती है और अपेक्षित के रुचिर-अरुचिर भाव-संयुत बिम्ब को जन्म देती है तब यह इच्छा बनती है। इस प्रकार से 'अपेक्षा' और इच्छा' में एक गम्भीर अन्तर है। यह अन्तर मनुष्य को आवश्यकतानुसार शरीर-क्रिया को रोकने की सामर्थ्य देता है। इस सामर्थ्य के कारण ही मनुष्य अविहित कार्य—क्रिया—करने पर दंड का भागी समझा जाता है। किन्तु तब भी यह अन्तर मौलिक अन्तर नहीं है, इनमें जटिलता का अन्तर कहा जा सकता है, क्योंकि कुत्ते को भी शरीर-क्रिया में प्रवृत्त होने से रुकना सिखाया जा सकता है। आंग्ल-अमरीकी मनोवैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक 'मूल्य' को 'तरजीह' या 'अभिरुचि' का ही पर्याय समझते हैं, उस अवस्था में उनका मानव-मन सम्बन्धी निष्कर्षों को मूषिकों पर प्रयोग के आधार पर स्थिर करना उचित ही है। इस प्रकार से, इच्छापूर्ति-मूलक मानवीय क्रियाएँ क्रिया के स्तर से ऊपर नहीं उठ पातीं।

कर्म विशिष्ट रूप से मानवीय, या कहें पाशवोत्तर, स्थिति है। इसका स्रोत आत्मसाम्मुख्य है। आत्म या अभिमान (ज्ञाता या कर्ता के रूप में "मैं" का बोध) न केवल ऐन्द्रिय विषय ही नहीं है, बल्कि बौद्धिक विषय भी नहीं है, यह विशिष्ट रूप से मूल्य-विषय है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह प्रज्ञानात्मक (कोग्नीटिव) नहीं है, यह उतना ही प्रज्ञानात्मक है जितने अन्य विषय, यद्यपि यह केवल विरले लोगों को या विरले क्षणों में ही, स्फुट प्रत्यक्ष के समान दुर्निवार रूप से प्रस्तुत होता है। किन्तु भिन्न प्रकार का विषय होने से इसके अर्थाभ्युपगम (अर्थ के घटक तत्त्व) भिन्न प्रकार के होते हैं, जिस प्रकार से "गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र" के अर्थाभ्युपगम "मेज़" से भिन्न प्रकार के होते हैं। कर्तृत्वाभिमान का अर्थाभ्युपगम "अपने अस्तित्व की सार्थकता की जिज्ञासा" है। इसका प्रामाण्य इस प्रश्न के ऐसे समाधान में है जो विशिष्ट रूप से इस प्रश्न के अनुरूप हो। जब इसका समाधान "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत" दिया जाता है तब इस प्रश्न का अर्थ ग़लत समझ लेने के कारण, क्योंकि घृत भूख या जिह्वा को तो संतुष्ट करता है जीवन की सार्थकता की माँग को नहीं। किन्तु ऋण लेकर घी पीने का यह परामर्श उत्तर इस प्रश्न का ही है, क्योंकि प्रश्न यह नहीं है कि भूख या आस्वाद-वासना कैसे तृप्त की जाय। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि यह उत्तर "घी पीने का परामर्श" नहीं है, उत्तर यह है कि "जीवन का स्वरूप शरीरात्मक है।" किन्तु यह उत्तर भी प्रश्न को ठीक न समझने का परिचायक ही होगा, क्योंकि प्रश्न यह नहीं है कि जीवन का द्रव्य रूप क्या है ('जीवन' शब्द के किसी भी अर्थ में) अथवा कि जीवन किस द्रव्य से निर्मित है बल्कि यह कि इस विशिष्ट विषय—अभिमान—की क्या व्याख्या है, किस पदावली में यह समझा जाय।

उपर्युक्त परामर्श का एक और अर्थ भी हो सकता है कि इस विषय (कर्तृत्वाभिमान) के अर्थ की माँग भ्रामक है, यह उस चीज़ की माँग है जो है ही नहीं, शुभ लोकोत्तर अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतमोत्तर अन्वेष्य का कुछ अर्थ नहीं है, क्योंकि है तो केवल दृश्यमान, है तो केवल लोक। यह उत्तर ठीक प्रश्न का है, किन्तु भ्रान्त उत्तर है।

अभिमान रूप यह विषय उतना ही ठोस रूप से है जितना कुछ भी अन्य। विषय के होने का प्रामाण्य विषय स्वयं है। हमने कहा, यह विषय मूल्यात्मक है, अर्थात् इसकी रचना सत्यात्य के सन्दर्भ में न होकर उचित-अनुचित और चरितार्थ-अचरितार्थ के सन्दर्भ में होती है। मूल्य द्रव्य या गुण न होकर ऐसी अवस्था है जो न है और न **नहीं है**, यह है नहीं क्योंकि यह प्राप्त अवस्था नहीं है, यह **होने योग्य** अवस्था है, यह **नहीं है**, ऐसा भी नहीं, क्योंकि अन्वेषण उसे लक्ष्य कर अग्रसर होता है; यह हो जाने के लिए है। इसलिए चार्वाक जब कहते हैं कि यह असत् वस्तु की माँग है, तब वे इस भ्रम में हैं कि मूल्य सत् की माँग होती है। यह क्रिया के लक्ष्य को और कर्म के लक्ष्य को धपलाना है। मूल्य अन्वेषक के वह होने की माँग है जो वह (अन्वेषक) नहीं है, और क्योंकि यह अवस्था अपने हो जाने के रूप में प्राप्तव्य है इसलिए वह कहीं विद्यमान नहीं होती।

इससे मूल्य-प्रत्यक्षवादियों (जैसे मूर)[3] की भूल भी देखी जा सकती है। मूर शुभ या उत्तम को वस्तु का गुण मानते हैं, यद्यपि अप्राकृतिक प्रकार का गुण। यह गुण उसी प्रकार से गम्य होता है जैसे प्राकृतिक गुण, यद्यपि यह इन्द्रियगम्य नहीं होता। यद्यपि मूर गम्यता के इस स्वरूप को परिभाषित नहीं करते किन्तु वे इसमें कोई सन्देह नहीं रहने देते कि यह गुण प्रत्यक्षगम्य (अतीन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य) है। किन्तु 'उत्तम', 'शुभ' आदि वस्तुओं के विशेषण ही नहीं होते, ये कर्मों के विशेषण भी होते हैं। और वास्तव में, उपयुक्त रूप से ये कर्मों के ही विशेषण होते हैं। 'उत्तम' या 'शुभ' विशेषण जब वस्तुओं के साथ भी प्रयुक्त होते हैं तब केवल कर्म की प्रतिफल वस्तुओं के साथ ही ये प्रयुक्त होते हैं। 'सुन्दर' शब्द यद्यपि प्राकृत वस्तुओं के साथ भी प्रयुक्त होता है, किन्तु यदि यह माना जाय कि यह वस्तु-गुण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, तब यह ऐसे प्रयोगों में मूल्यार्थक नहीं होता। मूल्य के अर्थ में 'सुन्दर' शब्द विशेषण के रूप में नहीं संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होना उपयुक्त है। इस प्रकार से 'सौन्दर्य मूल्य है' का अर्थ है "सौन्दर्य चरितार्थ्य है"। कर्तृत्वाभिमान इस मूल्यात्मक सौन्दर्य को ही कलाओं के माध्यम से, और अन्य विभिन्न प्रकार से, चरितार्थ करता है।

•

कांट ने 'कर्तव्य' को 'सार्वभौमिक उत्तरदायित्व' कहा है। किन्तु उसने इस सार्वभौमिकता की जैसी व्याख्या की है वह कसौटी को बाहरी भी बना देती है और अप्रयोज्य भी। 'सत्य बोलना' यह कर्तव्य है और इस प्रकार से, उसके अनुसार, "सार्वभौमिक उत्तरदायित्व है।" 'सार्वभौमिक उत्तरदायित्व' का अर्थ है "सबके लिए सब समय कर्तव्य"। यह क्यों उत्तरदायित्व है ? कांट का उत्तर होगा, क्योंकि यह विवेकशील संकल्प (रैशनल विल) का विधान है। यह प्रतिपादन कांट के इस प्रतिपादन के साथ रखने पर कि "संसार में कुछ शुभ नहीं है सिवाय शुभ संकल्प के," कांट हमारी स्थापना के बहुत निकट प्रतीत होते हैं; किन्तु तब भी वे सत्य-भाषण को, और इसी प्रकार से अन्य कर्तव्यों को अनिवार्य कर्तव्यों के रूप में स्थापित करते हैं और इस प्रकार से ये कर्तव्य आकारिक सिद्धान्त का रूप लेते हैं, जो संकल्प के विधान न होकर स्वतंत्र अनिवार्यताएँ हो जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण मैं एक उदाहरण से करूँगा—पत्रिका के सम्पादक के रूप में मेरा कर्तव्य है कि मैं समीक्षा के लिए प्राप्त पुस्तकों की समीक्षा निष्पक्ष व्यक्तियों से करवाऊँ। एक बार एक लेखक ने अपनी पुस्तक भेजते हुए मेरे से अनुरोध किया कि मैं उसकी दी गई समीक्षक सूची में से किसी के पास वह पुस्तक समीक्षार्थ भिजवा दूँ। मैंने उसे इन्कार कर दिया, जबकि मैं अन्यथा स्वयं बहुत बार पुस्तक-लेखक से पूछ लेता हूँ कि उसकी पुस्तक किसे समीक्षार्थ भिजवा दी जाय। अब यहाँ मेरे कार्य में प्रकट विरोध है, और कहा जा सकता है कि इस प्रकार से मैं विधान की सार्वभौमिकता का खंडन करता हूँ। किन्तु यह ठीक नहीं है। यदि मैं आकारतः ये दो विरुद्ध क्रियाएँ एक ही प्रयोजन की सिद्धि—निष्पक्ष और उत्कृष्ट समीक्षा प्राप्त करना—के लिए करता हूँ तब मैं वास्तव में विवेकशील शुभ संकल्प के विधान का पालन करता हूँ, और वास्तव में ये दो विरोधी क्रियाएँ तब गम्भीरतर स्तर पर एक ही कर्म हो जाती हैं। यही बात "सत्य-भाषण" के लिए भी है : सत्य-भाषण क्या है ? यदि यह केवल विश्वासानुसार यथाभूत तथ्य का भाषण मात्र है तब यह सापेक्ष दृष्टिकोण से यथारूप चित्र बनाने जैसी क्रिया है, और परिणामतः यह न उचित है न अनुचित है। कर्तव्य के रूप में सत्य-भाषण अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिल मन:स्थिति को पूर्वापेक्षित करता है। "असत्य भाषण" का अनौचित्य कर्ता के इस बोध से उत्पन्न होता है कि यह कर्म उसकी अपनी आदर्श-प्रतिभा को खंडित करता है, यह उसे स्थिति-विशेष का सामना करने के अयोग्य और अतएव भीरु प्रमाणित करता है। यदि स्थिति-विशेष में असत्य-वादन से यह आदर्श-प्रतिभा खंडित नहीं होती तब असत्य-वादन अकर्तव्य नहीं है। यहाँ स्वभावतः उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में नहीं कहा जा रहा है जो उस जटिल मनःस्थिति के अयोग्य हैं जो उत्तरदायित्व की पूर्वापेक्षा है। असत्य-भाषण के औचित्य और अनौचित्य के दो उत्कृष्टतम उदाहरण हमें महाभारत से मिलते हैं—कृष्ण अनेक बार असत्य-भाषण करने पर भी योगिराज रहे और युधिष्ठिर एक बार असत्य-भाषण से ही अपना उत्कर्ष खो बैठे थे, और उनका रथ, जो उनके निरपवाद सत्य-भाषण के कारण भूमि से चार अंगुल ऊपर रहता था, पृथ्वी पर आ गया। युधिष्ठिर का उत्कर्ष समाप्त होना वास्तव में उनकी अपनी प्रतिभा का अपने सम्मुख खंडित होना था, इससे वे अपने स्वयं के सम्मुख अपराधी घोषित हो गये। यह उनके उस द्वन्द्व और आत्म-ग्लानि से स्पष्ट है जो 'नरो वा कुंजरो वा' कहने में प्रकट हुई।

जैसा कि हमने कहा, असत्य-भाषण से उस व्यक्ति की प्रतिभा भी खंडित नहीं होती जिसकी प्रतिभा आदर्श के उन्नत बोध से मंडित नहीं है, अथवा कहें, जिसके कर्तृत्वा-भिमान का अर्थ स्फुट नहीं हुआ है, किन्तु कृष्ण की प्रतिभा भी खंडित नहीं हुई थी, जब कि वे योगिराज थे— अर्थात् जबकि उनके कर्तृत्वाभिमान का अर्थ स्फुटतम था। यह इसलिए खंडित नहीं हुई क्योंकि उन्होंने अपने संकल्प को पूर्णतः विवेक में प्रतिष्ठित किया था। जो अपने संकल्प को विवेक में प्रतिष्ठित कर सकता है उसका संकल्प पूर्णतः आत्म-विधायक होता है, वह किसी सिद्धान्त के आकार में नहीं बँधता। कांट ने विवेक-जनित स्वातन्त्र्य को स्वीकार करके भी आकार के बंधन को उसके ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया। यही कारण है कि शिलर कांट के प्रतिपादन की अर्थापत्ति निकालते हैं कि "जो अपने पड़ोसी से प्यार करता है वह उसके प्रति कर्त्तव्य-पालन नहीं कर सकता" और इसके विपरीत कार्नर कहते हैं कि "कांट का वास्तव अभिप्राय था कि कोई पड़ोसी से, और मानवता से भी, घृणा करते हुए भी उसके प्रति कर्तव्य-पालन कर सकता है।"[४] कांट की ये दोनों ही व्याख्याएँ इस बात की द्योतक हैं कि कांट केटेगोरीकल इंपेरेटिव को आकारिक अनिवार्यता के अर्थ में ही देखते हैं और उसे विवेकशील संकल्प के ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु पड़ोसी के प्रति मन में प्रेम रखना उतना ही कर्तव्य है जितना उसका हित करना, कर्तृत्वाभिमान के लिए दोनों बराबर कर्म हैं, कर्त्तव्य-बाध केवल **प्रेमवश** होने में है, क्योंकि उसमें स्वातंत्र्य, जोकि कर्तृत्व की पूर्वापेक्षा है, बाधित होता है। यहाँ "सहानुभूति" का रूप देखना उपयोगी होगा। "सहानुभूति" एक नैतिक वेदना है, वेदना होने से यह संवेगात्मक ही है किन्तु तब भी उनसे मूलतः भिन्न है। यह भेद इसके प्रभाव में ही नहीं है अपने निजी गुण में भी है। यह दूसरे के दुःख से जन्य ताप है, यह पर-दुःख को अपने में स्थापित करना है, और दुःख का कारण अपने में न होने से यह दुःख उन्मोचन करता है। यह ताप-रहित प्रकाशोपम होता है।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि 'पड़ोसी से प्रेम करने' और 'पड़ोसी का हित करने' को एक ही स्तर पर नहीं रखा जा सकता, एक प्रकार से 'पड़ोसी से घृणा करने' को अकर्तव्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अकर्तव्य उसी कर्म को कहा जा सकता है जिसे करने से कर्ता अपने को रोक सकता हो। यदि मेरे मन में पड़ोसी को देखकर घृणा उत्पन्न होती है तब मैं उसे उत्पन्न होने से रोक नहीं सकता, केवल उस ओर से तत्काल के लिए ध्यान हटा सकता हूँ। यह प्रश्न मूर ने उठाया है और इसे कर्तव्य से भिन्न करने के लिए "आदर्श कर्तव्य" कहा है, जबकि बाह्य कर्म को "वास्तव-कर्तव्य" कहा है।[५] किन्तु यह भेद भ्रामक है, मैं पड़ोसी से घृणा करते हुए भी जो उसके हित में प्रवृत्त होऊँगा वह इस बोध से कि पड़ोसी का हित करना उचित है, अर्थात् मैं घृणा से प्रेरित कर्म का बाध करूँगा; यह बोध अधिक उन्नत स्तर पर ले जाने पर मैं अपनी घृणा का भी निरास कर सकता हूँ, क्योंकि पड़ोसी के प्रति घृणा जिस कारण से हुई है, मैं जैसे ही उस कारण को और अपने को एक-दूसरे परिप्रेक्ष्य में देखूँगा वैसे ही यह कारण घृणा-जनक नहीं रहेगा। कृष्ण जब अर्जुन को सब कर्मों को भगवत्-समर्पण करने को कहते हैं तब यह इस परिप्रेक्ष्य के परिवर्तन की माँग ही है, वहाँ वे मूर से उलट 'वास्तव अकर्तव्य' करने का परामर्श देते हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आदर्श अकर्तव्य' से उपरत होने को कहते हैं। जैसे ही अर्जुन दुर्योधन आदि को विराट् के ग्रास के रूप में देख लेता है, उसकी ग्लानि जाती रहती है, क्योंकि अब वह घृणा से मुक्त हो गया है।

किन्तु तब भी मूर का कथन इस सीमा तक ठीक है कि एक विशिष्ट भाव जब उत्पन्न होता है उसके पूर्व मैं उसके निरोध में समर्थ नहीं होता हूँ, क्योंकि उत्पन्न होने से पूर्व उसका निरोध नहीं हो सकता। बाह्य कर्म का निरोध इसलिए हो सकता है क्योंकि उससे पूर्व उसके लिए प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस प्रवृत्ति को भौतिक क्रिया में परिणत होने से रोका जा सकता है। किन्तु कठिनाई यह है कि मूर इस सीमा से आगे नहीं देखते। ऐसी मनोवृत्ति इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि कर्त्ता स्वातन्त्र्य में सम्यग्रूप से अधिष्ठित नहीं होता, उसकी यह असामर्थ्य उसे उसके कर्तव्य से वंचित करती है। यदि वह पर्याप्त सजग है तो उसे इसके परिणाम-स्वरूप आत्मग्लानि होना स्वाभाविक है, उस अवस्था में वह आत्म-शोधन करेगा और भविष्य में वैसी वृत्ति का जन्म उसमें नहीं होगा—यदि मैं अपने साथी के दोषों को अज्ञान का परिणाम देखता हूँ तब मुझे उससे घृणा के बजाय सहानुभूति उत्पन्न होगी, यदि तब भी मुझमें उससे घृणा उत्पन्न होती है तब समझिये कि मैंने इस विवेक का ग्रहण नहीं किया है, केवल मुझे शब्द-ज्ञान हुआ है।

वास्तव में बाह्यकर्म और आन्तरवृत्ति में जैसा भेद मूर ने किया है वह भी उतना ठीक नहीं है—स्वप्न में तो इन दो में कोई अन्तर रहता ही नहीं, उत्कट संवेग की स्थिति में भी यह नहीं रहता। उत्कट संवेग की स्थिति में अपनी शरीर-क्रिया को रोकने का अर्थ है संवेग की उत्कटता पर वश करना और इस प्रकार से विवेक को संवेग के ऊपर स्थापित करना।

●

हमने औचित्य-अनौचित्य का स्रोत कर्तृत्वाभिमान (कर्ता के आत्मार्थ-बोध) को कहा। इसका अर्थ है कि **यदि कोई अपने कर्म को उस अर्थ की कसौटी पर परखता है जिसमें वह अपने को परिभाषित करता है, तो वह अपने कर्म को उचित के सन्दर्भ में देखता है, अन्यथा नहीं।** उदाहरणतः उपर्युक्त संवेग-जन्य शरीर-क्रिया को लें, यदि मैं इसका निरोध इसलिए करता हूँ कि क्रोध के वशीभूत होना मेरे आत्मार्थ के प्रतिकूल है तब मैंने निरोध औचित्य के संदर्भ में किया, किन्तु यदि मैं यह निरोध इसलिए करता हूँ कि इसके कारण मुझे दण्ड का भाजन होना पड़ेगा, तब मैंने निपुणता अथवा व्यावहारिकता के सन्दर्भ में किया। अधिकांशतः हम अपने कर्म इस दूसरे सन्दर्भ में करते हैं। वास्तव में इनका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है और ये वैयक्तिक लाभ के ऐसे सूत्र हैं जो समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के हितार्थ निरूपित होते हैं। सूक्तियों में ऐसी नीति का ही उपदेश रहता है, पंचतंत्र में भी ऐसी नीतियों का ही निरूपण है। **एक प्रकार** से सामाजिक दंड-व्यवस्था भी हमें ऐसा कर्म-कौशल सिखाने के लिए ही होती है, क्योंकि कोई कार्य इसलिए दण्डनीय होता है क्योंकि वह कार्य अन्ततः व्यक्ति के भी अहित में होता है, चौर-कर्म इसलिए दण्डनीय नहीं है कि यह कुकर्म है, बल्कि इसलिए दंडनीय है क्योंकि यह क्रिया उस व्यवस्था को भंग करती है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए, स्वयं चोरी करने वाले के लिए भी हितकर है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक नीति-विधान मूल्यात्मक नहीं होते, इसका अर्थ केवल यही है कि वे नहीं भी हो सकते। चौर-कर्म का उपर्युक्त सन्दर्भ व्यावहारिक नैपुण्य का सन्दर्भ है, किन्तु जब क के चोरी करने पर ख, ग, घ आदि उसकी निन्दा करते हैं तब यह कर्म नैतिक औचित्य के सन्दर्भ में निरूपित होता है, क्योंकि उस समय यह इसकी निन्दा ऐसे कर्म के रूप में करते हैं जिसमें कर्ता उससे अपेक्षित अर्थ से भ्रष्ट पाया जाता है, अथवा कहें जो कर्म सांस्कृतिक कर्तृत्वाभिमान के प्रतिकूल पाया जाता है। इसमें सार्वजनिक लाभ का विचार मानक नहीं होता, सिवाय उन अवस्थाओं के जिनमें स्वयं यह लाभ ही कर्तृत्व के अर्थ का निर्धारक होता है। उदाहरणतः बौद्ध धर्म के उदय के बाद सहस्रों व्यक्तियों का छोटी आयु में ही संन्यासी बनना, राजपूत स्त्रियों का सामूहिक रूप से आग में जलना आदि अनेकानेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनका सामाजिक व्यवस्था या सार्वजनिक लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं है, इनका सन्दर्भ एकमात्र सांस्कृतिक कर्तृत्वाभिमान—संस्कृति का आत्मार्थ बोध—है। जब चौर-कर्म की निन्दा में यह तर्क भी दिया जाता है कि "यदि सब ऐसा करने लगें तो सामाजिक व्यवस्था कैसे रहेगी", तब भी यह मूल्यानुवाद ही होता है, क्योंकि "सामाजिक व्यवस्था भंग करना" मूल्य का वैपरीत्य है, जब तक कि इसका किसी अन्य महत्तर मूल्य से अतिक्रमण नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार से सामाजिक सन्दर्भ में व्यवहार की परीक्षा अधिकांशत: मूल्यात्मक दृष्टि से ही होती है, किन्तु यह सन्दर्भ वैयक्तिक सम्बन्धों का अथवा व्यक्तिगत जीवन का ही होता है। सामूहिक व्यवहार की परीक्षा दुर्भाग्यवश मूल्यात्मक दृष्टि से नहीं होती। उदाहरणत: राजा, सरकार अथवा राष्ट्र के लिए कोई कर्म उचित-अनुचित नहीं माना जाता, केवल निपुण-अनिपुण अथवा उपयोगी-अनुपयोगी माना जाता है। राजा के लिए राज्य का लाभ अथवा अपने राष्ट्र का लाभ उसके कर्म का प्रमापक माना जाता है। यह वास्तव में अत्यन्त जटिल प्रश्न है और इसके विस्तार में हम नहीं जाना चाहेंगे, किन्तु कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जब इस क्षेत्र में भी नैपुण्य के ऊपर मूल्य की प्रतिष्ठा की गई। अशोक और गांधी इसके दो उज्ज्वलतम उदाहरण हैं. लेनिन का रूस में साम्यवादी सरकार स्थापित करने पर ज़ारों द्वारा अपहृत विदेशी प्रदेश उन देशों को लौटाना इसका एक अन्य उदाहरण है। किन्तु अशोक और महात्मा गांधी सम्भवत: दो ऐसे विलक्षण उदाहरण हैं जिन्होंने सामूहिक कर्म को पूर्ण रूप से औचित्य के सन्दर्भ में प्रतिष्ठित किया।

●

औचित्य का स्रोत कर्तृत्व के अर्थ-बोध को कहने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नैतिक निर्णय विषयनिष्ठ होते हैं। किन्तु हमारी स्थापना से यह किसी प्रकार से अर्थापतित नहीं होता। वास्तव में विषयिनिष्ठ-विषयनिष्ठ शब्दों का प्रयोग अधिकांशत: इनको समझे बिना होता है, परिणामत: इस प्रसंग को लेकर बहुत घपला है।

"विषय" क्या है? इसका सहज उत्तर मन में आता है, मेज़, कुर्सी, पुस्तक जो मेरे सम्मुख दिखाई दे रहे हैं, ये विषय हैं। अर्थात् ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत वस्तुएँ विषय हैं। किन्तु इस परिभाषा को थोड़ा ध्यान से देखने पर इसकी अपर्याप्तता स्पष्ट हो जाएगी: ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत मेज़, कुर्सी, पुस्तक आदि नहीं होते, वर्ण-गन्ध-आस्वाद-ध्वनि आदि होते हैं। वर्ण-गन्ध आदि भी विषय हो सकते हैं, किन्तु मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत वर्ण-गन्ध आदि विषय नहीं हो सकते। "आकाश की नीलिमा" में नीलिमा विषय है, किन्तु इसका विषयत्व वर्ण की प्रत्यक्षता में नहीं है, यद्यपि प्रत्यक्षता इसके विषयत्व की एक घटक है, इसका विषयत्व "उन सब देखने वालों को नील दिखाई देने की सम्भावना में" है "जिनकी दृष्टि निर्दोष" है। इस परिभाषा में "सम्भावना" और "निर्दोष" शब्द समस्यात्मक हैं। किन्तु हम इस प्रश्न के विस्तार में जाए बिना कह सकते हैं कि "सम्भावना" का अर्थ है "आकाश का वह गुण जो प्रत्यक्षातिक्रामी है, जो प्रत्यक्षगत नहीं होता" और "निर्दोष दृष्टि" का अर्थ है "वह दृष्टि जो वर्ण को अधिकांश देखने वालों के अनुरूप देखती है।" यह परिभाषा अत्यन्त स्थूल है, इसको सूक्ष्म विस्तार से हम अगले अध्याय—प्राकृतिक विज्ञान—में देखेंगे। प्रस्तुत प्रयोजन के लिए उपरोक्त परिभाषा पर्याप्त है। अब इस परिभाषा से स्पष्ट है कि ऐन्द्रिय विषयों का विषयत्व अतीन्द्रिय है—यह सर्जनात्मक मन का आक्षेप है जो प्रत्यक्षों को विषयत्व प्रदान करता है। इसके बिना वर्ण आदि विशुद्ध रूप से 'व्यक्तिगत' अथवा कहें 'विषयिनिष्ठ' रहते हैं। यह रचना-तत्त्व उन नियमों के रूप में व्यक्त होता है जो किसी निर्णय के युक्त-अयुक्त होने की कसौटी बनाते हैं। युक्तता के जितने सन्दर्भ होते हैं उतने ही प्रकार के विषय होते हैं, इस प्रकार से प्रत्यक्षगत विषय एक प्रकार के विषय हैं और धार्मिक, नैतिक, भाषीय अन्य अनेक प्रकार के। ये सब बराबर विषय हैं। किन्तु एक सन्दर्भ के अन्तर्गत भी नियम अथवा कसौटी एक ही प्रकार की होना अनिवार्य नहीं है, वे अनेक प्रकार की हो सकती हैं, अनिवार्यता केवल इस बात में है कि एक कसौटी स्वीकार करने पर एक ही प्रकार के निर्णयों की युक्तता अर्थापन्न होगी। उदाहरणत: प्रत्यक्षगत विषय वैज्ञानिक कसौटी पर और पौराणिक कसौटी पर रचित होते हैं,[६] और अन्यान्य दूसरी कसौटियों पर भी रचित हो सकते हैं।[७] इन कसौटियों के वैभिन्न्य से इन विषयों की विषयनिष्ठता का खण्डन नहीं होता, क्योंकि विषयनिष्ठता की कसौटी केवल सार्वजनिकता नहीं है। विषयनिष्ठता की कसौटी वे अर्थमूलक अभ्युपगम होते हैं जो तत्सम्बन्धी निर्णयों को युक्त अथवा अयुक्त बनाते हैं—ज्ञान-विषयों को सत्य या असत्य और नैतिक विषयों को उचित या अनुचित। ये अर्थाभ्युपगम नियत होने पर निर्णयों का औचित्य-अनौचित्य या सत्यता-असत्यता नियत रहते हैं और सबके लिए समान रूप से स्वीकार्य होते हैं। किन्तु स्वयं अर्थाभ्युपगम नियत नहीं रहते, एक सन्दर्भ में ये अनेक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए बुद्ध और कन्फ्यूशियस के नैतिक औचित्य के सन्दर्भान्तर्गत अर्थाभ्युपगम भिन्न-भिन्न थे, हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के भी अर्थाभ्युपगम (घटक अर्थ) भिन्न-भिन्न हैं, अर्थात् हिंदू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति में भाग लेने वाला एक व्यक्ति और मुस्लिम संस्कृति में भाग लेने वाला एक व्यक्ति अपने कर्मों की व्याख्या और विनियोग भिन्न-भिन्न अभ्युपगमों के प्रसंग में करते हैं। किन्तु इन दोनों के कर्मों के औचित्य पूर्ण रूप से विषयनिष्ठ हैं, क्योंकि ये औचित्य व्यक्तिगत रुचि और सुविधा से निर्धारित नहीं होते।[८]

ये अर्थाभ्युपगम सहज लब्ध भी हो सकते हैं और प्रतिपादित भी हो सकते हैं। मनुष्य जैसे ही मानवता का स्तर प्राप्त करता है, वह कर्तृत्वाभिमान का साक्षात् करता है—व्यक्तिशः या जातीय समग्रता में। समाज की आदिम अवस्थाओं में वैयक्तिक व्यक्तित्व का स्फुट बोध नहीं रहता, इसलिए कर्तृत्वाभिमान का साम्मुख्य भी जातीय समग्रता में ही होता है, अथवा कहें—जातीय कर्तृत्वाभिमान का ही साम्मुख्य होता है। उस समय इस विषय—कर्तृत्वाभिमान—के अभ्युपगम पूर्णतः सहज-लब्ध होते हैं। पीछे सांस्कृतिक विकास-क्रम में, कुछ विलक्षण चेतना-सम्पन्न व्यक्ति इन अभ्युपगमों के विरुद्ध विद्रोह कर नए अभ्युपगमों का प्रतिपादन करते हैं, जो अन्यों के लिए सहजलब्ध हो जाते हैं।

अभ्युपगमों को इस प्रकार से स्वतःसिद्ध और औचित्य को इस प्रकार से सापेक्ष मानने के विरुद्ध आपत्ति की जा सकती है कि इसके अनुसार सब अभ्युपगम बराबर स्तर के हो जाएँगे और परिणामतः किन्हीं स्थापित अभ्युपगमों के विरुद्ध विद्रोह यादृच्छिक हो जाएगा। उदाहरणतः बुद्ध द्वारा हिन्दू कर्तृत्वाभिमान के स्थापित रूप को चुनौती की क्या युक्तता होगी सिवाय इसके कि वे इसके स्थापित रूप से असन्तुष्ट थे, अथवा कि उन्होंने जिस कर्तृत्वाभिमान का साम्मुख्य किया उसके अभ्युपगम भिन्न थे?

इसका अंशतः उत्तर होगा कि उनकी अन्य कोई युक्तता नहीं है सिवाय इसके कि उन्होंने भिन्न परिप्रेक्ष्य में औचित्य के सन्दर्भ को देखा था। किन्तु यह केवल अंशतः ही सही है, यद्यपि अंशतः सही यह अवश्य है। किन्तु इसके शेषांश को समझने के लिए प्रश्न की गहराई में और नीचे उतरना होगा।

कर्तृत्व-बोध अथवा मूल्यात्मक कर्म-चेतना जबकि अपने चरितार्थन के लिए अनेक अभ्युपगमों का आश्रय लेती है, यह अपने अर्थ का सदैव स्पष्ट अथवा सम्यक् ज्ञान नहीं रखती। आत्मार्थ का सम्यक् ज्ञान जबकि प्रामाण्य-दृष्टि को भी अत्यधिक मात्रा में ही प्राप्त होता है, मूल्यात्मक दृष्टि के लिए यह ज्ञान अत्यधिक दुर्लभ है। निस्सन्देह यह ज्ञान अनेक अभ्युपगमों द्वारा चरितार्थ हो सकता है, किन्तु इन अभ्युपगमों का अपना तर्क सदैव हमें पूर्णतः ज्ञात नहीं होता, और बहुत बार अभ्युपगम भी भ्रान्त हो सकते हैं। उदाहरणतः बुद्ध और ईसा के अभ्युपगम एक ही नहीं थे, किन्तु दोनों में कर्तृत्व-दृष्टि की ओर सम्यग्ता समान थी, राजाशाही और प्रजातंत्र के अभ्युपगम एक ही नहीं हैं, किन्तु दोनों में कर्तृत्व-दृष्टि की सम्यग्ता-असम्यग्ता की बराबर सम्भावनाएँ हैं, यद्यपि प्रजातंत्र समग्र अनुभव के अधिक समृद्ध स्तर की पूर्वापेक्षा करता है। अब, प्रजातंत्र बोध के जिन अभ्युपगमों पर प्रतिष्ठित है उसकी सम्यतम दृष्टि हम गांधीवादी राज्य-व्यवस्था में और गांधीवादी राजनीतिक आचार-संहिता में पाते हैं, किन्तु गांधीजी से पूर्व यह किसी ने नहीं देखा था, और न उनके बाद किसी ने उसे स्वीकार करने का साहस दिखाया।

कर्तृत्व-दृष्टि बहुत बार भ्रान्त भी होती है, और इसके भ्रान्त होने की सम्भावनाएँ उससे कहीं अधिक रहती हैं जितनी प्रामाण्य-दृष्टि के, क्योंकि कर्म का सम्बन्ध हमारे वासना-आवेगमय जीवन से कहीं अधिक घनिष्ठ है, जितना कि प्रामाण्य का। यह सम्बन्ध इतना निकट और घनिष्ठ है कि बहुत-से विचारक मूल्य-दृष्टि को, जिसमें कर्तृत्व-दृष्टि एक भाग है, वासना और आवेग-मूलक ही मानते हैं। किन्तु जितना ही निकट का सम्बन्ध इनमें है उतना ही वैपरीत्य इनके स्वरूप में है। प्रामाण्य सन्दर्भ के अर्थाभ्युपगम वासना-मूलक भी हो सकते हैं (पौराणिक प्रामाण्य-दृष्टि वासना-मूलक ही है) और यदि क्रिया-कारित्व के बौद्ध सिद्धान्त को माना जाय, तो सभी प्रामाण्य-दृष्टियाँ वासनामूलक ही हैं। किन्तु मूल्य-दृष्टि अथवा कर्तृत्वाभिमान का बोध अर्थतः वासना का प्रतिषेधक है, क्योंकि स्वातंत्र्य कर्तृत्व-बोध की सम्यग्ता की पूर्वापेक्षा है। उदाहरणतः, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में नैतिक दृष्टि, अन्य बातों के अतिरिक्त, स्वार्थ-त्याग अथवा आत्म-बलिदान की भावना को जन्म देती है। अब यदि आत्म-बलिदान को भी वासना माना जाय तब दूसरी बात है, किन्तु अन्यथा यह वासना से ऊपर उठकर कर्म को विवेक में प्रतिष्ठित करना है। उदाहरणतः मैत्री को लें—'राम मेरा मित्र है' का अर्थ इसके ठीक विपरीत है कि 'राम मेरा स्वार्थ-साधक है', बहुत-कुछ इसका अर्थ है कि 'मैं राम का स्वार्थ-साधक हूँ।' यह ठीक है कि यदि राम मेरा मित्र है तो वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा स्वार्थ-साधन भी करेगा, यदि वह उसके विपरीत करता है तो वह मित्र नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार से उसका व्यवहार 'मित्र' के अर्थ का बाधक होगा; किन्तु मेरी उसके प्रति मित्रता का उसकी मेरे स्वार्थसाधन में उपयोगिता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए मित्रता के आदर्श के रूप में सुदामा के प्रति कृष्ण के मित्र-भाव का उदाहरण दिया जाता है, कृष्ण के प्रति सुदामा के मित्र-भाव का नहीं। यही बात राम के वन-गमन में उद्धृत होती है : दशरथ यदि राम को राज्य देते तो वे कर्तव्य का कोई विशेष परिचय नहीं देते, यदि उन्होंने नहीं दिया तो वे भयानक रूप से कर्तव्य-च्युत हुए। इस परिप्रेक्ष्य में राम का दशरथ की आज्ञा का पालन राम के कर्म के गौरव को शतधा बढ़ा देता है।

वासना, प्रवृत्ति और संवेग का प्रतिषेध कर्तृत्वाभिमान के अभ्युपगमों का मुख्य घटक है। वासना, संवेग आदि का अपने विषयों से सम्बन्ध कारणमूलक होता है और अतएव विषय इनमें नियामक होता है। इसके विपरीत, कर्तृत्व का विषय, जैसाकि हमने पीछे देखा, बोध का अपना स्वरूप है जो क्रिया के माध्यम से अपने को चरितार्थ करता है।

निश्चय ही व्यक्तियों के जीवन में स्वातंत्र्य के ऐसे क्षण विरले ही होते हैं, किन्तु ये क्षण ही नैतिक कर्म के क्षण होते हैं, शेष तो सांस्कृतिक कर्तृत्व-बोध की अभिव्यक्ति के निमित्त मात्र बनते हैं। ●

१. द्रष्टव्य 'संस्कृति का अधिष्ठान', तत्त्वचिन्तन, वसन्त १९६८, अंक।

२ ज्ञान और सत् में अ २ तथा अ-८ द्रष्टव्य।

३. द्रष्टव्य : फिलासफीकल स्टडीज़ में कान्सेप्शन ऑफ इंट्रिंसिक वेल्यू लेख।

४. कॉर्नर-कांट, पृ० १३१ (पैंग्विन बुक्स)।

५. जी० ई० मूर, फिलासफीकल स्टडीज़ में, दि नेचर ऑफ मॉरल फिलोसोफी लेख, पृ० ३२० से आगे।

६. द्रष्टव्य : पौराणिक दृष्टि तत्त्वचिन्तन, ग्रीष्म १९५८, और प्राकृतिक विज्ञान, दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल १९६८।

७. द्रष्टव्य : ज्ञान और सत् में अ-४ और ५।

८. श्री चाँदमल ने नैतिक औचित्य को इस अर्थ में सार्वभौमिक माना है कि औचित्य विषयक कोई निर्णय निरपेक्षतः उचित या अनुचित होता है। वे कहते हैं : "नैतिक तथ्यों का नैतिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर सभी नैतिक चिन्तक उनकी मूल्यात्मकता के बारे में सदैव एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। इसी अर्थ में नैतिक निर्णयों को सार्वभौम कहा जा सकता है।" (दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर १९६५) पृ० २१३। उद्धृत वाक्य यद्यपि थोड़ा भ्रामक है, क्योंकि यह पुनरुक्ति मात्र प्रतीत होता है, किन्तु चाँदमलजी यहाँ यही कहना चाहते हैं कि नैतिक-सन्दर्भ में नैतिक तथ्यों पर निर्णय एक ही हो सकते हैं। यदि तथ्य त के सम्बन्ध में निर्णय क सही है तो ख, ग सही नहीं हो सकते। हमारे विचार में, नैतिक वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में यह एक अत्यन्त सरल दृष्टि है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मराठी नवलेखन और विद्रोह

डा० प्रभाकर माचवे

''दिल्ली में बैठकर सुदूर महाराष्ट्र के सांप्रतिक विद्रोह के बारे में लिखना मराठी की एक कहावत के अनुसार 'ऊँट पर बैठकर भेड़ हाँकने' जैसा काम है। एक तो दिल्ली में मराठी साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों की सामग्री ही प्राप्त होना कठिन है; और अब दिल्ली में कोई सृजनात्मक प्रतिभा का श्रेष्ठ साहित्यिक भी नहीं—कभी दिल्ली में मर्ढेकर, मामा वरेरकर और पु० मं० लाड, कुसुमावती देशपांडे और आ० रा० देशपांडे 'अनिल' रहते थे। दिल्ली के अन्तिम नवीन साहित्य-सम्बन्धी चर्चक प्रभाकर पाध्ये भी अब यहाँ नहीं हैं। अतः एक प्रकार से दिल्ली में मराठी विद्वान् और विविध विषयों के पंडित, राजनीति वाले लोग तो हैं, पर सिर्फ इक्के-दुक्के साहित्य-शौकीन से, मराठी साहित्य के बारे में सामग्री प्राप्त करना या गप-शप करना भी मुश्किल है। यही हालत अन्य साहित्यों के बारे में भी है। अतः मुझे इस काम से बख्शिए।'' इस आशय का पत्र इस लेख के लेखक ने लिखकर क्षमा-याचना कर ली थी। परन्तु हमारे विशेष आग्रह पर उन्होंने कुछ विद्रोही नमूने जमा कर दिए हैं और उन पर कोई भी मूल्यांकनात्मक टिप्पणी देने से इनकार किया है। नवलेखन का सम्बन्ध भाषा में भी बग़ावत करने से है और इसलिए अनुवाद में मूल का स्वारस्य पूरी तरह नहीं आ पाया है, इस बात का अहसास लेखक को है।

शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास से ही कविता में 'बंडखोरी' बग़ावत शुरू होती है। कुछ लोग उसे संन्यासी-पुत्र ज्ञानेश्वर और तत्कालीन ढोंग पर सख्त चोट करने वाले तुकाराम तक ले जाते हैं। 'नया सिपाही' और 'अछूत बच्चे का सवाल' और 'तुरही' और 'मजदूर की फाकेकशी' पर केशवसुत ने सौ वर्ष पूर्व लिखा और उनके समकालीनों ने उनकी उपेक्षा की। उनका काव्य-संग्रह (केवल १३२ कविताएँ) उनकी मृत्यु के बाद छपा। फिर भी कृष्णजी केशव दामले (केशवसुत) को ही पहला विद्रोही आधुनिक कवि माना जाता है। अपने-आपको विद्रोही कहलानेवालों में कई लोगों ने कई तरह का विद्रोह किया—छन्द और तुक-ताल से लगाकर कथ्य और विषयों में भी। प्रायः हर कवि एक-न-एक 'डंका' या 'पडघम' या 'रणभेरी' केशवसुत की 'तुरही' की नकल में लिखता रहा। रोमेंटिक कवि गडकरी और 'बी' भी अपवाद नहीं थे। सावरकर और माधव जूलियन में यह विद्रोह कुछ दूसरा ही रूप लेता है और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सामाजिक सुधार की उनकी दृष्टि के अनुसार वह विद्रोह प्रकट होता है। परन्तु यह सब पूर्व-परम्परा यहाँ इसलिए दी गई है कि आ० रा० देशपांडे 'अनिल' और मर्ढेकर के विद्रोह को समझने के लिए यह परम्परा बहुत जरूरी है। अब मैं उन्हीं के उद्धरण देकर 'अनिल', मर्ढेकर और पु० शि० रेगे की बात संक्षेप में रखकर—बीच की कुसुमाग्रज, कांत, वसन्त बापट, विंदा करंदीकर, मंगेश पाडगावकर, शरच्चंद्र मुक्तिबोध की पीढ़ी को छोड़कर (जिनके यहाँ भी विद्रोह के कई रूप हैं: 'गर्जा जयजयकार, क्रान्तिचा' या 'रुद्रवीणा' या 'बिजली' और 'स्वेदगंगा' और 'मृद्गंध' और 'जिप्सी' की कई कविताएँ) मैं सीधे आज के 'असो' (अस्तु), 'शब्द', 'फक्त', 'टिंव', 'वांचा' आदि की 'चालू कविता' वाली पीढ़ी तक आना चाहता हूँ। ब्लाक बनाने की असुविधा में यहाँ भी र० कृ० जोशी की ठोस कविता के उदाहरण देना असम्भव है। विस्तार-भय से मैंने गद्य को छोड़ दिया है यद्यपि उसमें भी 'कोसला' (भालचंद्र नेमाडे), 'अजगर' और 'कोंडुरा' (चिं० त्र्यं० खानोलकर) और 'वासूनाका' और 'बें० अनिरुद्ध धूतपापेश्वर' (भाऊ पाध्ये) जैसी बहुत अर्थपूर्ण उपन्यास-कृतियाँ और दिलीप चित्रे की बहुचर्चित कहानी 'केसाल कालेथोर पिल्ली' (बालदार काला पिल्ला)। और नाटकों के क्षेत्र में विजय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेंडुलकर, चिं० त्र्यं० खानोलकर ('एक शून्य बाजीराव' के लेखक) आदि अनेक नट-नाटककारों ने भी बहुत बड़ा विद्रोह अपने-अपने ढंग पर किया है। समीक्षा में तो इसकी चर्चा इतनी अधिक हुई है कि नारायण सुव के एक संग्रह 'माझे विद्यापीठ' पर एक-डेढ़ वर्षों में सत्ताईस लेख पक्ष-विपक्ष में छपे हैं। वैसे भी मराठी में—और शायद सभी भाषाओं में—सृजन से अधिक समीक्षात्मक चर्चा बहुत अधिक छपती है। कविता से अधिक वक्तव्य पर यहाँ ज़ोर है। मसलन हाल में 'सत्य-कथा' में छपी मंगेश पाडगाँवकर की 'पुरुषसिंह' कविता (जिसका दिनकर सोनवलकरका अनुवाद 'धर्मयुग' ने हाशिये पर छाप दिया) पर 'सत्यकथा' और 'टिव' तक तीन महीनों तक लम्बा पत्र-व्यवहार ! या उससे पहले छपे दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे के 'माडर्न मराठी पोएट्री' (१९४५-६५) नामक काव्य-संग्रह (भूमिका और अंग्रेज़ी अनुवाद) पर मराठी कवियों की पुरानी पीढ़ी में क्षोभ और कहीं-कहीं कुछ बहस। इन सब विवरणों में जाना सम्भव नहीं होगा। इसलिए सिर्फ कुछ कविताओं और समीक्षात्मक उद्धरणों तक ही यह लेख सीमित है। अरुण कोलटकर के 'असो' में छपी कविता उन्हीं की भाषा 'बम्बैया हिन्दी' में मूल जैसी छपी है, ज्यों-की-त्यों दी गई है। मैं इस सारे उत्प्लवन को बहुत गम्भीरता से देखकर, जानने की कोशिश कर रहा हूँ। इसके बारे में कोई भी मूल्य-मीमांसा में मैं पड़ना नहीं चाहता। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं इस सारे लेखन का अन्ध समर्थन करता हूँ।

बंड [विद्रोह]

[कवि : आत्माराम रावजी देशपांडे 'अनिल' मार्च, १९३५ में 'सुप्त ज्वालामुखी' नामक कविता में क्रान्ति का दर्शन प्रस्तुत कर चुके थे। उनकी यह कविता अक्तूबर, १९४६ की लिखी है। यह सब अनुवाद अक्षरशः है।]

है हृदय में अब
सिर्फ़ उद्दाम विद्रोह भरा हुआ
करते हुए थंड बचे हुए भाव
भावनाएँ रची हुईं

ऊब गए हैं पूरे
उन्हीं
शृङ्गार वीर करुणादि
नवरसों से
जोश के साथ उछालेगा जो
मानवता के प्रक्षोभ को
ऐसा रस अखंड
स्थायीभाव विभाव अनुभाव
संचारी भाव उसके
अनुभव कर रहे हैं पाखंडी

शरीर में रक्त के
अणु-अणु का
अणुस्फोटन करने वाले
रसायनशास्त्र के साहित्य का
हम ध्यान कर रहे हैं
हटाने के लिए हमले
मानवमात्र के शत्रु के
उनके किले उड़ाने के लिए
क्षणार्ध में आसमान में
धूल में मिलाने के लिए एक आघात से
अँधियारे युग के साम्राज्य
स्थापित करने के लिए अधिराज्य
समता का

(पेर्तेव्हा : पृ० ९६-९७)

●

बाल सीताराम मर्ढेकर की 'काही कविता' (कुछ कविताएं १९४७) से पृ० ३८ पर से कुछ अभंग :

क्यों फूट मचा रहे हो। स्वतन्त्रता की बही क्यों रंगते हो
स्वजन रक्त से प्रतिदिन। लथपथ ॥
गाते हो धर्म के प्रशंसा-गीत। खुले हुए कवाड
दिखाते हैं आबरू की हड्डियाँ। टँगी हुई ॥
ओ हिन्दू-मुसलमान। प्राण देश पर कुरबान
परन्तु यादवों की तरह ख़ानाजंगी तो लांछन। अल्लाह
    और राम को ॥
जो उठता है वह नेता। बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें हाँकता है
पर हुल्लड़ का नियन्ता। कोई नहीं ॥
शब्दशूर वाचा-वीर। ऐसे नेता बड़े-बड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्होंने प्रेतों का बाज़ार । बुलाया है ।।
किया धर्म को नीलाम । बुर्के के नीचे सत्ता-लिप्सा,
यहाँ तुम्हें-हमें राजा । सिर्फ़ मौत ।।
जो-जो कहलाते हैं नेता । समय आने पर देते हैं बुत्ता;
छुरा पीठ में, उर में छर्रा । तुम्हारे-हमारे ।।
बोलो अल्लाह हे राम । करो पैग़म्बर को प्रणाम;
हमें-तुम्हें है हराम । बन्धु-द्वेष ।।
कहाँ गया, कहाँ मक्का । हत्याकांड यहाँ है बेकार;
भूखे-कंगालिस्तान क्यों । ज़िन्दाबाद ?

●

पुरुषोत्तम शिवराम रेगे के निबन्ध-संग्रह 'छांदसी' (१९६२) से पहले लेख 'आधुनिक कविता के निमित्त से' मूल प्रकाशन-तिथि (युगवाणी, १९४७) में का एक अंश—पृष्ठ ३।

"स्थूल रूप से आधुनिक मराठी कविता की चार प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं :

(१) 'अंगारे, आँसू, रक्त, चिंदियाँ' काव्य : श्रीकृष्ण पोवळे, कृ० व० निकुंब, वसन्तराव चिंधड़े आदि कवियों ने इस विषय को इतना साना है कि निदान कुछ और वर्षों के लिए मराठी कविता के लिए यह काफी होगा। खेद की बात यह है कि इनमें अधिकांश आवेश उधार का होता है : और वह उधार का है—केवल शाब्दिक है—यह तावड़तोळ समझ में आ जाता है। इस तरह की कविताएँ पढ़कर भावनाएँ थर्रा उठने के बजाय एक तरह की सुस्ती और जुगुप्सा बढ़ती है।

(२) 'मानवता-क्रान्ति' काव्य : आ० रा० देशपांडे और ना० ग० जोशी ये इस काव्य के प्रमुख पुरस्कर्ता हैं। कवि की सामाजिक भूमिका पर हम लोगों का बल है। आधुनिक काल के आदर्श कवि आत्मसात करें और समाजद्रष्टा के नाते मार्गदर्शन करें ऐसा इन कवियों का दावा है। अब हर एक कलाकार को कुछ-न-कुछ कहना तो होता ही है, पर वह सहज हो जाए, तो उसी में मजा है। प्रचारक का बाना पहना कि अच्छी कलाकृति भी बिगड़ जाती है। इसका ताज़ा उदाहरण आ० रा० देशपांडे का 'निर्वासित चीनी बालक के प्रति' दीर्घ काव्य है। इसमें के कई परिच्छेद निबन्ध-जैसे हैं।···

(३) 'पारिजात' काव्य : इसमें पुराने संत-कवियों की नकल होती है। इस कविता में नवीन दृष्टि बहुत कम होती है। वही संकेत, शब्द-प्रयोग। प्राय: सब प्रचलित कवियों ने यह शैली अपनाई है। नौसिखुए और नव-सिक्के वाले कवि इसका बड़ा प्रयोग करते हैं।

(४) झूठे ग्राम-गीत पुराने ज़माने के यशवंत-गिरीश आदि कवियों ने यह प्रथा शुरू की (हिन्दी के सन्दर्भ में 'ग्राम्या' या 'त्रिपथगा')। गँवई शब्द बीच-बीच में छिटककर शहरी भावनाएँ गाँव वालों के मुँह से बुलवाने का यह प्रयत्न था। ऐसे ही बीच में नाव वालों के गाने चल पड़े। रेडियो और चूड़ी के बाजे के रिकार्डों ने इन्हें बहुत महत्त्व दिया। मराठी कविता का सबसे अधिक नुकसान इन नकली गीतों ने किया।"

●

मर्ढेकर पर कोर्ट में अश्लीलता-सम्बन्धी आरोप के उत्तर के अंश (मूल उन्हीं के शब्दों में) सन्दर्भ—'काही कविता' पुस्तक १९४७ में छपी—इसमें ६० कविताएँ थीं। बम्बई सरकार ने इस पर अश्लीलता का मुकद्दमा चलाया। कवि को बयान देना पड़ा। उनके वकील श्री सराफ को मर्ढेकर ने एक निजी पत्र लिखा। मुकदमा खारिज होने के बाद 'सत्य-कथा' के अगस्त १९५२ के अंक में सम्पादकीय के साथ यह पत्र छपा है। मूल पत्र बहुत जोरदार है। उसका एक पैरा यों हैं :

"It is possible to dislike my poetry. It is possible to damn it as bad poetry. It is possible to quarrel with its mood violently. All this can be done. But to say it is in the smallest part obscene, obscene of all the despicable things in the world, is, well, just absurd. If indeed there is any obscenity in my poetry, it is the obscenity of the entire human destiny. For every birth is a sublimely obscene occurrence and every death is a pitifully obscene affair."

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

['अभिरुचि' दीवाली अंक १९५० में पृ० २२५ पर अमर शेख की 'अंगारों का हृद्गत' कविता छपी है और पीछे २२६ पृष्ठ पर गंगाधर गाडगील की कहानी 'बस का टिकट'। इस कविता से कुछ पंक्तियाँ :]

हाँ, वही मैं अंगारा हूँ
आग उगलना मुझे प्यारा है
आग सदा उगलता हूँ
कीड़े सारे जलाता हूँ ।

मैं आग का बाग खिलाता हूँ
आग से जीवन खिलाता हूँ
मुझे बुरे से नफ़रत है,
बुरे की गन्ध से नफ़रत है

सब अच्छी चीजें रखता हूँ
सब बुरी चीजें जलाता हूँ
वह बुराई जो दुःख निर्माण करती है
उसकी मैं अकड़ दूर करता हूँ ।"

(इत्यादि ९६ पंक्तियाँ)

●

[जहाँ समाजवादी प्रचार की एकदम सपाट अभिधायुक्त रचनाएँ छप रही थीं, तब शरच्चन्द्र मुक्तिबोध ने 'नई मळवाट' (नई पगडंडी) में सशक्त कविताएँ दीं जो ध्वनि-प्रधान थीं। 'साधना' के बुद्ध विशेषांक—२४ मई, १९५६ में मंगेश पाडगाँवकर के काव्यनाट्य 'बुद्ध' का अन्तिम अंश पागल समझकर बुद्ध को पत्थर मारकर लोग गिराते हैं :]

(धीरे-धीरे रास्ते पर शान्ति)

···फटे काषाय वस्त्रों में बुद्ध
गटर के किनारे के पेड़ के नीचे
रक्त-रंजित होकर गिरा
'तथागत' पर पत्थरों ने विजय प्राप्त की !
निर्मनुष्य रास्ते पर
मक्खियों का भिन्नाता कुतूहल
सिर्फ़ बचा···
तभी पैर बजे
रँगे हुए होंठों में से लचकते हुए उड़ा
सस्ता गुनगुना गाना
और उसके साथ
चर्वित पान की लाल पिचकारी
वह पथवेश्या 'बुद्ध' के पास आई
रक्त-रंजित बुद्ध को देखकर
वहीं चकित होकर बैठी
सामने के होटल वाले को चीखकर उसने कहा :
भयविवर्ण आवाज़ में
आदत से मिली हुई लाड़-भरी लचक

पथवेश्या :

ओ ऽ होटलवाले ऽऽ
एक आने का चा भेज दे
मैं बाद में पैसे दे दूँगी
पागल के मुँह में जाने दे
थोड़ा-सा चा···
अभी ज़िन्दा जान पड़ता है ।

●

['असो' नामक पत्रिका अशोक शहाणे आदि चलाते रहे। उसके पहले अंक में पहले पृष्ठ पर अरुण कोलटकर की कविता। मूल ज्यों-की-त्यों—प्रकाशन-तिथि दी नहीं है। पर १९५९-६० रही होगी। अरुण कोलटकर का कोई संग्रह नहीं छपा है। पर दिलीप चित्रे उसे मराठी कविता की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिभा मानते हैं। यही कविता 'मॉडर्न मराठी पोयट्री' में 'थ्री कप्स ऑफ़ टी' नाम से छपी है, अनुवाद में मूल की वर्तनी ज्यों-की-त्यों रखी है।]

अरुण कोलटकर

एक कविता

मैं मैनेजर को बोला मुझे पगार मँगता है
मैनेजर बोला कम्पनी के रूल से एक तारीख को पैसा मिलेगा

उसकी घड़ी टेबल पै पड़ी थी
मैंने घड़ी उठाके लिया
और मैनेजर को पुलीस चौकी का रास्ता दिखाया
बोला अगर कम्प्लेंट करना है तो कर लो
मेरे रूल से पगार आज ही होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं भाभी को बोला
क्या भाईसाब के ड्यूटी पे मैं आ जाऊँ ?
भड़क गयी साली
रहमान बोला गोली चलाऊँगा
मैं बोला एक रंडी के वास्ते ?
चलाव गोली गाँडू

मैं वर्मा गया उधर आग पिक्चर लगा था
पिक्चर देखने गया
उधर टिकट के वास्ते कुछ पासपोर्ट वगारा दिखाना पड़ता है
टिकट वालों ने पूछा पासपोर्ट किधर है ?
मैं बोला भंनचोद
मुझे टिकट मंगता है

उन लोगों ने वापस मणिपूर भेज दिया
पुलीस कमिशनर ने पूछा बर्मा काय को गया था ?
मैं बोला अबे लौंडी के बच्चे
इण्डिया में रक्खा ही क्या है !

●

[इस बीच में सतीश कालसेकर आदि कवियों ने 'आरंभ' प्रकाशित किया। दि० के० वेडकेर ने सतीश कालसेकर की कविता का अँग्रेज़ी अनुवाद करके शिमला में 'इंस्टिट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडीज़' में पढ़ा। वह संग्रह अभी मेरे पास नहीं है; उन कविताओं को भी देना चाहता था। नारायण सुर्वे नामक मज़दूर कवि के दो संग्रह इस बीच में छपे।

'ऐसा गामी ब्रह्म' ('अजी मैं ऐसा ब्रह्म हूँ'), संग्रह (प्रकाशन: दिसम्बर, १९६२) को महाराष्ट्र सरकार का वार्षिक पुरस्कार मिला। उसकी कई कविताओं के अनुवाद मैंने किये थे, जो कई जगह से हिन्दी पत्रों से लौट आए। वे 'युयुत्सा' के पास दो साल से पड़े हैं। नारायण सुर्वे की तीन कविताएँ दे रहा हूँ। पहली 'मेरी माँ' इस संग्रह से है। दूसरी दो 'माझे विद्यापीठ' (मेरा विद्यापीठ) से हैं:]

: १ :

मेरी माँ

जब तारे बुझने लगते हैं
ऊँचे भोंपू बजने लगते हैं
(मिल के) भोंपू की दिशा में मुड़ते हुए
रोज़ भक्तों की भीड़ चलती जाती है
जल्दी से पैर उठाकर
पीछे मुड़कर देखती हुई
ममता से कहती थी
'किसी से लड़ तो बैठना नहीं'
ऊपर से दो पैसे देती थी

दशहरे के पहले दिन
पाँच (बच्चों) को साथ लेकर
हमें सारा तमाशा दिखाती
सारे (मिल के) खातों में घुमाती
कितनी मजा-मजा थी
शब्द पंगु हैं
पेपेटे, चक्री खरीद देती
बैलूनों के पतंग पीकर
हम पक्षी बन जाते थे

एक दिन क्या हुआ
उसे गाड़ी में लाये
उसकी आँखें खुली थीं
मुँह से खून बह रहा था
उसकी साथ की मज़दूरिन सालू ने
मुझे पास लेकर कहा—'बच्चे'
हम चुपचाप देख रहे थे
अपना छत्र खोज रहे थे
हम माँ को खोज रहे थे

उसी रात को हम पाँच बच्चे
एक-दूसरे से चिपटकर
माँ की ममता ही मानकर
अपने ऊपर चादर लपेट ली
पहले ही कुछ नहीं था
अब माँ भी नहीं रही
अश्रुओं की अर्गला लगाकर
रात भर जाग रहे थे
हम पूरे कलंदर बन गये थे

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(माझे विद्यापीठ, १९६६ में से)

: २ :

नेहरू गये तब की बात

[यह कविता दिलीप चित्रे द्वारा सम्पादित 'मॉडर्न मराठी पोइट्री' में सुर्वे की एकमात्र कविता है।]

पीठ सेंकते हुए बैठे मकानों ने दरवाज़े कुछ खुले किये
शहर कैसा भूरा होता चला गया
फिर अंजीर के रंग का
आगे···अँधेरे ने लाल मणि लील लिया।

पत्थर के 'गाउन' पहने कारखाने
चिरूट सिलगाकर
विचार में डूब गये।
बाद में···
गीला कमीज़ कन्धे पर रखकर
कोठरी की ओर मुड़ गये।

'क्या हुआ ए सुन्द्री···!'
—'आज लोबान मत जला! ···नेहरू गये!!'
'सच; तो चलो आज छुट्टी!···'
श्रम सहनेवाली दुनिया खटिया पर लेट गयी।
मैं उदास खिन्न होकर चल रहा था
रास्ते भयानक लगते थे
कागज़ी खोल में प्रकाश लेकर चलनेवाला हाथ-
गाड़ीवाला
मैंने पूछा,
"यह प्रकाश अब क्यों ले जाते हो?"
"वाह जी;
आगे अँधेरा दाँत दिखला रहा होगा,"
नेहरू गये तब की बात!

: ३ :

जी-हुज़ूरे

(मुसाहिब)

शहर गरम होता है तब समर्थ शब्द सेंका जाता है
होंठों-होंठों पर गूंथा जाता है
आगे की पीढ़ियों को बुलाया जाता है;
खुशामद करने वाले शब्द फिर उसके जी-हुज़ूरे हो
जाते हैं
दरवाज़े पर 'साइनबोर्ड' लगाकर शास्त्र कहते हैं
उनकी राह पूछकर आनेवाले को रोकते हैं—

ऐसे भलाई ओढ़े हुए शब्द
प्रतिदिन मुझे मिलते हैं
ग्रंथ-ग्रंथ में···

●

['अभिरुचि' फिर १९६६ में पु० आ० चित्रे बम्बई से प्रकाशित करने लगे। अप्रैल के (तीसरे) अंक में शान्ताराम रामचन्द्र शिंदे की कविता, 'तीन तालियाँ', नट-बाजीगरों की बोली का आधार लेकर लिखी गई हैं—कम-से-कम शब्दों में—उसका एक अंश:]

नाचो रे नाचो
खत्म जब ज़ुल्म
आनेवाला है आनेवाला है

राम का राज!
इस्की जय बोलो
विस्की जय बोलो
चंदन के पेड़ पर
ज्वार का दाना!

नोट ही नोट
पैसा हुआ झूठा
सबके लिए खुल गई
जन्नत की बाट

हुई एक्के हुई
थुई दुणे थुई
रेंगते हुए पेट को
काफी नहीं भूमी

आ गया रे आ गया
आनेवाला आ गया
थाली में कुछ भी नहीं
(फिर भी) ताली में कब कमी की?

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[१० सितम्बर, १९६७ को दैनिक 'महाराष्ट्र टाइम्स' के रविवासरीय में तीन रविवार तक 'चालू कविता' दो-दो पूरे पृष्ठ, कवियों के फोटो के साथ छापी गई और उस पर चर्चा भी : दिलीप चित्रे, (प्रो०) व० दि० कुलकर्णी के लेख आदि तीसरे अंक में। यह आयोजन शंकर सारडा ने किया। यह पूरी चर्चा मनोरंजक थी। इस सारे प्रकाशन में से एक कविता तुलसी पर (जन्म १९४१) की ज़ोरदार थी। उसका अनुवाद नीचे दे रहा हूँ। यह 'मारुड' (अर्थ उल्टबंसिया) नामक छोटी पत्रिका में जून १९६७ में छपी—]

वह । तू । हम । सब

वह । तू । हम । सब
पक्षी । बौर में पक्षी—अस्तचल—उनमें से
पेड़ों की छायार्तता । विषण्ण रात ।
निर्विकार दुख में फूलों के बुझते हुए गाने ।
उन शहरों के प्रचण्ड 'गेटवे' म्यूज़ियम्स ।
पक्षी, पक्षियों का उड़ना गेटवे के समुद्र के पार ।

वीर । जवान । सूर्यसन्मुखता रेगिस्तान में जिनकी संगत
वे । रेल्वे रूल के पास के चमकदार हरे सिग्नल ।
दुर्घटना में भयानक भूत रेल्वे मंत्री दिल्ली दूर है।

शहर से नाता बतानेवाली दस दिशाएँ । करोड़ों-
अरबों-
खरबों के पार अन्तरिक्ष । स्लम का त्रास
समुद्र की आदतवालों को होता है । समझकर
अनारंग—बिनारंग—
सब रंग छक्के-पंजे चोरों-वोरों को भी । हफ्तेबाज
पुलीस ।
सर्वगमनी रांडें । दादा—वेश्यापूरित बजबजाहट—
बकबकवाले ।
निरीश्वरवादी—सर्वेश्वर—अमीरी के दार्शनिक ।
खाली झोली बिहार के भूक-बलि की । पाउंड और
सुवाच्य रिल्के । कविता का अजरामर शव मेरी
अभारतीय समी में ।
शाम को डूबता साम्राज्य—मैंने गाये हुए सूर्य-पुष्प-
सूक्त
तुम्हारे प्रतिबिंब—डूबने से पहले—गिनकर रखे हुए
शब्दों के
अर्थ अनिर्वाच्य शान्ति में से—निष्प्राण टेलिग्राफ के
खम्भे के साथ
बची है अभी तलछट—हुंकार की अभी आदत नहीं
हुई है—तुममें
मुझमें—सबमें मसाला भरने वाली कविता में भी ।
फिर भी बढ़ता है
शहर का अस्तित्व । विधानों का अर्थ । चेहरा
पहचान के लिए । हाथ-पैर अनावश्यक, महापुरुष
को—मुझे । सामर्थ्य को
नहीं चाहिए चिह्नों के बाँध, उलाँघकर जा सकते हैं ।
उलाँघकर जाते हैं
वर्षा में—घाम में—जाड़े में और अन्य सबमें—
पक्षी—
रात—दुःख फूल—'गेटवे'—म्यूज़ियम्स—जवान—
सिग्नल—भूत—दिशा
अन्तरिक्ष—स्लम—छक्के पंजे—पुलीस—राँड—
निरीश्वरवादी—अमीर
झोला—पाउंड—रिल्के—शवसाम्राज्य—अस्त
तू—तेरे प्रतिबिंब—शब्दों का अर्थ—शान्ति—टेली-
ग्राफिक—बैठा हूँ
हुंकार करता हुआ—तुझमें—मुझमें—फिर भी
बढ़ी ।
अस्तित्व—अर्थ—चेहरा—बाँध—महापुरुष—
घाम—वर्षा—
जाड़ा और सब काला—काल
की सर्वंकष सत्ता के आगे तू । हम । सब ।। और सर्वस्व ।।

●

'चालू कविता' पर दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे ने 'पर्दे पर, पर्दे के पीछे, और बाद में' नामक लेख (महाराष्ट्र टाइम्स, १७ सितम्बर १९६७) में इस युवालेखन के विद्रोह का श्रेय 'शब्द' नामक लघु-पत्रिका को दिया, जो १९५४-५५ में प्रकाशित हुआ था। उसके बारे में चित्रे लिखते हैं :

"उस समय अरुण कोलटकर, बंडू वझे, रमेश समर्थ और मैंने मिलकर 'शब्द' नामक कविता का साइक्लोस्टाइल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मासिक शुरू किया। हमें मॅनिफेस्टो या निश्चित कार्यक्रम नहीं था। अरुण और बंडू बेकार थे, रमेश मजदूर-यूनियन में स्टेनोग्राफर-टाइपिस्ट था और मैं मैट्रिक की परीक्षा में बैठा था। स्टेनो-टाइपिस्ट और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने से रमेश समर्थ 'शब्द' का सम्पादक और मैनेजर था। अंक छपाना, स्टेपल करना, डाक में डालने का काम हम दोनों करते थे।

"'शब्द' के पुराने अंक देखने लायक हैं : पु० शि० रेगे, विंदा करंदीकर, शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, सदानन्द रेगे, इंदिरा, वसन्त बापट, मंगेश पाडगाँवकर, यह सब तब के प्रतिष्ठित लेखक 'शब्द' में लिखते थे। उसमें पुराने रंगपति भी कई थे।··· भाऊ पाध्ये की भी कविता छपी है। चित्रकार बाबूराव संडवेलकर और भाषा-शास्त्रज्ञ अशोक केलकर ने भी उसमें कविता लिखी थी। 'शब्द' का फिर १९६० में जन्म हुआ, तब अशोक शहाणे, वृन्दावन दंडवते, सुधीर कोलटकर, भालचन्द्र नेमाडे उसमें लिखते थे।···

"शब्द के बाद अशोक शहाणे ने 'अथर्व' पत्र चलाया। वह बन्द हो गया। तब मैं इथियोपिया में था। फिर तीन-चार वर्षों में प्रधान का 'मारूड', राजा ढाले का 'आत्ता' (अभी) और 'भेरू' और सतीश कालसेकर का 'फक्त' निकला। राजा ढाले प्रकाशन ने 'गोदी' नामक दीर्घ कविता हाल में प्रकाशित की है और 'व' नाम की लघु-पत्रिका घोषित की है। ऐसे ही आन्दोलन इलाहाबाद, कलकत्ता, हैदराबाद, अहमदाबाद, दिल्ली में चल रहे हैं। एक तरह से शहरी कवियों की एक नयी जमात आगे आ रही है।"

आगे चलकर इन सब साहित्यिक आन्दोलनों का जनक अशोक शहाणे को माना गया है। वह 'बीट ऋषि अॅल्लन गिन्सबर्ग का प्रत्यक्ष चेला रहा' यह भी कहा गया है। बँगला से शहाणे ने बहुत-से अनुवाद किये हैं और 'मारूड' के सम्पादक के शब्दों में वह 'मठाधिपति' हैं।

इस लेख में वर्णित 'गोदी' की एक प्रति साथ है। यह एकदम 'एवण्ड' हैं। पृष्ठ ६ और १५ देखिए। कवि गोदी (डाक-यार्ड) का मजदूर है।

'आलोचना' छह वर्ष से मासिक रूप में चलने वाले पत्र के जून १९६८ के अंक में श्री पुरुषोत्तम शिवराम रेगे का २१ एप्रिल १९६८ में भोपाल के महाराष्ट्र समाज में दिया गया "काव्य की समझ" भाषण छपा है, जिसका एक अंश यों है :

"आज का बहुत-सा तथाकथित दुर्बोध काव्य केवल अनुभव के अनुभवत्व पर अकारण बल देने से वैसा हुआ है। इसमें बहुत-कुछ दिखावा (एक्ज़िबिशनिज़्म) है। गोदीवर काव्य लिखते हुए किसी खोखे के ऊपर के चिह्नों या ट्रक-नम्बरों की सूची देकर अलग-पन लाने का यत्न है। कोई दूसरा बस में से जाते हुए जितने दुकानों के साइनबोर्ड आते हैं उनकी ही सूची सुनाता है। इस प्रकार की अनुभूति का कोई अर्थ होगा ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर वह कई बार कविता में आकार ही ग्रहण नहीं करती। और कोई कवि अशिष्ट शब्द या क्रिया जानबूझकर लिखता है। उत्कृष्ट काव्य में ये उल्लेख न हों या अब तक नहीं आये हैं यह बात नहीं है। तुकारम ने 'भले तरी देइं गांडीची लँगोटी' (अच्छे को हम अपनी···की लँगोटी भी दे देंगे) कहा था। पर उसकी उत्कटता और अनिवार्यता इन नये कवियों में नहीं दिखाई देती। इन्हें 'शिष्ट' 'अशिष्ट' विशेषण ही मान्य नहीं हैं। प्रेम-भंग का अनुभव व्यक्त करते हुए जब कोई कवि एक कविता में दो बार पेशाब करता है, तब वह यह उल्लेख केवल फैशन के नाते कर रहा है, यह स्पष्ट है। वैसे देखा जाए तो प्रेम में सफल व्यक्ति से भी यह प्राथमिक शारीरिक क्रिया कहाँ छूटी है! और शरीर-शास्त्र की दृष्टि से प्रेम-भंग से अत्यन्त संत्रस्त मनःस्थिति में ये उत्सर्जक क्रियाएँ रोकी जाती हैं यह ज्ञान शायद कवि को नहीं है!) पाठक को धक्का देना और अपना नयापन स्थापित करने का भी यह उद्योग होता है। ऐसा काव्य न दुर्बोध होता है, न अश्लील—वह निरर्थ, निर्बीज होता है। उसमें काव्य ही नहीं होता।"

●

अन्तिम उद्धरण मैं भालचन्द्र नेमाडे की 'वाचा' नामक लघु-पत्रिका के एक अत्यन्त स्पष्ट, निर्भीक, ज़ोरदार लेख के प्रथम और अन्तिम पैरा से करना चाहता हूँ। इस प्रकार से इस उद्धरण-बहुल लेख से मराठी के युवा विद्रोह की कुछ कल्पना आ सकेगी, यद्यपि गद्य के लिए दूसरा लेख अपेक्षित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख का शीर्षक है "आजकल लेखक का लेखक साहब क्यों बन जाता है ?"

"नये-पुराने लेखकों ने और अड्डे-अड्डे से एक-दूसरे का खोखलापन-उथलापन और अप्रामाणकिता सिद्ध करते रहना यह नये मराठी साहित्य की एक आवश्यक बीमारी हो गई है। गये डेढ़ सौ वर्षों से अंग्रेज़ी द्वारा हमारे साहित्य के पुनरुज्जीवन के बदले नुकसान ही ज़्यादा हुआ है। पुनरुज्जीवन के लिए आवश्यक विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता जिनके भीतर है ऐसे तेजस्वी लेखकों की एक टोली पैदा हुए बिना साहित्य को यह जूठन-उधारी पचाने की ताकत नहीं मिलती। और साहित्य सही मानों में उगता-पनपता नहीं। अपने-आपको युगप्रवर्तक कहकर दिल्ली में हर साल जाकर पद्मश्री ले आने वाले बौने-बुच्चे लेखकों ने यह सिद्ध कर दिया है। इसलिए या तो हमारे समाज में विद्वत्ता या बुद्धिमत्ता नहीं है, और हो भी तो वे लोग लिखने में रस नहीं लेते हैं, यही कहना पड़ता है। फिर लिखने वाले कौन हैं ? अगर हमारे साहित्य का घटियापन उथलेपन और अप्रामाणकिता में से उपजा है तो ऐसे लेखकों को समय रहते ही दोष क्यों नहीं दिया जाता ? साथ ही इस प्रकार का साहित्यिक बुद्धूपन मराठी के अलावा और भारतीय भाषाओं में भी पाया जाता है, कम या अधिक प्रमाण में, ऐसा इतिहास कहता है। तो इस सार्वत्रिक अवमूल्यन का कारण क्या है ? मैं कुछ विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत करता हूँ···"

बाद में लेखक व्यापारी वृत्ति का बढ़ते जाना, बड़े-बड़े प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष और 'सरकारी' लेखकों की वसीलेबाज़ी और जातीयता-भाईभतीजावाद की खूब निन्दा करता है। एक बड़े आदमी ने इस अध्यापक-लेखक को लिखा कि 'फलाँ' आलोचना अच्छी लिख दो—"a good job in future depends on that"। संक्षेप में साहित्य के क्षेत्र में—सजन और आलोचना दोनों में—बहुत छोटे दिल के और घटिया लोग घुस आये हैं, यह कहकर अपने ११ पृष्ठ के लेख के अन्त में नेमाडे लिखते हैं :

"सद्भाव से आज भी कहीं-कहीं लिखने की अवस्था को खास आदि लेखक और पढ़ने की अवस्था में सच्चे पाठक यह दो खिन्न व्यक्ति भौतिकता के युग में भी किसी तरह जीवित हैं, यह अनुभव होता है। नहीं अन्यथा हम सब विकासशील मानवी समाज के सुखलोलुप नागरिक हैं। आदि लेखक का तेज क्वचित कभी किसी नई किताब में दिखाई दे जाय तो बस उतना ही मिलता है। अन्यथा वह उग्र, प्रचंड लेखक अब नाम शेष होता जा रहा है। एक और वन्य पशु नष्ट हो रहा है। प्रकृति को वह नहीं चाहिए। उसकी रक्षा करो और सप्ताह मनाओ। पोस्टर लगाओ। टिकटें खरीदो। preserve wild life. ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेलुगू की दिगम्बर पीढ़ी : एक ऐतिहासिक आवश्यकता

निखिलेश्वर

राजनीति की आड़ में जब जीवन का हर क्षेत्र भ्रष्ट होता जा रहा है, राजनेताओं के भस्मासुर अस्त्रों के नीचे जब सारी व्यवस्था झुलस रही है, साहित्य और धर्म के ठेकेदार जब जड़ता और मरणोन्मुख सामंती ढाँचे को पुनःस्थापित करना चाह रहे हैं, कला और बुद्धि के अभिनेता जब पैसे के लिए बिक रहे हैं—तब इस दशक के एक युवावर्ग में एक आत्म-परिशीलन, एक आंतरिक अन्वेषण का प्रादुर्भाव हुआ। ढहते हुए विश्वासों की इस शताब्दी में नित्य सचेतन आत्मा की स्फूर्ति उभरकर आई। भारत में भारत के लिए इस मिट्टी की गंध लिए इस मिट्टी की ग्लानि और क्रन्दन के लिए एक पीढ़ी फूट-फूटकर अपनी कविताओं में बिलख पड़ी। वही एक ऐतिहासिक संदर्भ था। उसी संदर्भ में ६ मई १९६५ के दिन एक नई पीढ़ी का जन्म हुआ। 'दिगम्बर कवुलु' के नाम से तेलुगू साहित्य में नया संवत् प्रारम्भ हुआ। वही दिगम्बर शक है। "हम दिगम्बर कवि हैं" "हमारी दिगम्बर कविता है।" यह दिगम्बर कविता आंदोलन है इस आत्मविश्वास से इस दिगम्बर पीढ़ी का उद्घाटन एक रिक्शेवाले के हाथों हुआ।

दिगम्बर पीढ़ी एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। क्यों और किसलिए ?

इसलिए कि सारा भारतीय समाज एक महान् आंतरिक कोढ़ से ग्रस्त है।

इसलिए कि राजकीय नेता, धर्म के आचार्य और बाबा-गण, विविध साहित्य-व्यापारी पत्रिकाएँ, सिने-जगत् के निर्जीव तारे, वादों के पीछे दुम हिलाते हुए भागने वाले में कथाकथित बुद्धिजीवी—ये सब इस देश को खोखला बना रहे हैं।

इस खोखलेपन को, षड्यंत्र को स्पष्ट रूप से दिखाकर भारतीय युवा-वर्ग को सचेतन करने के लिए दिगम्बर कविता का उद्घोष हुआ।

आज़ादी के इन बीते हुए वर्षों में बहुत बड़ा मोह-भंग हुआ है। मानसिक दिगम्बरता में स्वयं का दर्शन करने पर उस दर्शन की गहराई में चले जाने पर एक तीखा सत्य सामने खड़ा हो गया है, क्रमशः ये सत्य :

हमें धर्म विफल बना चुके हैं।
हमें राजनीति विफल बना चुकी है।
राष्ट्र विफल बना चुके हैं।
वाद विफल बना चुके हैं।
हम सब खो गये हैं—

खोये हुए हमको फिर से पाने के लिए क्रान्ति की ज्वाला भड़कानी होगी।

कुचले हुए साधारण वर्ग के मनुष्य के जीवन के लिए संघर्ष करना होगा।

हर एक व्यक्ति को हर क्षेत्र में विद्रोही बनकर नये जीवन का सूत्रपात करना होगा—

इन आशयों से दिगम्बर कवि साहित्य द्वारा अपना प्रखर विद्रोही स्वर लिए सबके सामने हैं।

यदि उक्त बातें केवल कोरे नारे लगाती हैं तो दिगम्बर कवि हर युवक से कहता है कि स्वयं सोचकर खुद का रास्ता निकालो।

'दिगम्बर कवुलु-२' की पृष्ठभूमि में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि हमको ऊलजलूलपन की शून्यता में विश्वास नहीं है।

इस भूगोल पर जब तक गरीबी और भूख लिपटी रहेगी, तब तक मार्क्स के दृष्टिकोण को चुनौती देने का अधिकार किसी को नहीं है। व्यक्ति की स्वेच्छा समूह के मार्ग में कभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोड़ा न बने। लेकिन नियमों की निरंकुशता में, सिद्धान्तों के वक्रभाष्य में व्यक्ति को कठपुतली नहीं बनना चाहिए। ऐसी तानाशाही, जो व्यक्ति को यंत्र का पुर्जा बनाती है—कभी सहनीय नहीं रहेगी।

दिगम्बर कवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण क्या है

मनुष्य की भौतिक इच्छा एक सच्चाई है। इस इच्छा के साथ मन का जो अवचेतन है—वह भी सच है। मानसिक एकाकीपन भी सत्य है। पर यही एकाकीपन मात्र अस्तित्व नहीं है। आसपास का वातावरण और पारस्परिक स्नेह से जीने में ही वास्तविक अस्तित्व है। तनाव ही मानवत्व की असली अग्नि-परीक्षा है। इस तनाव को झेलते हुए जीने वाला व्यक्ति ही यथार्थ मानव है। इस जीवन में हर घटना या वस्तु की सार्थकता तथा निरर्थकता दोनों हैं। आशा-निराशा के चक्र से मुक्त होने के लिए अपनी अन्तश्चेतना के अनुसार जीना ही एकमात्र मार्ग है।

इसी भावात्मक विश्वास के यथार्थ धरातल पर कोई भी आलोचक समझ सकता है कि कैसे दिगम्बर पीढ़ी—बीटनिक और भूखी पीढ़ी से भिन्न है।

जब १९६५ में यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ—इस पर किसी दूसरी पीढ़ी का या विदेशी आन्दोलन का कोई भी प्रभाव नहीं था—और अब कोई दूसरा प्रभाव है, नहीं। आधुनिक जीवन की पारस्परिक प्रेरणा या समानधर्मा विचारधारा यदि बहती है तो वह दूसरी बात है। स्पष्टीकरण के लिए और कुछ तथ्य ६ मई, १९६५ को आधी रात के समय हैदराबाद के आबिद रोड पर 'दिगम्बर कवुलु' प्रथम संकलन श्री नाम्पल्ली पांडू नामक रिक्शेवाले के हाथों प्रकाश में आया।

१८ दिसम्बर, १९६६ को आधी रात के समय ही विजयवाडा के गवर्नर पेठ सेंटर में दूसरे संकलन का विमोचन करने वाले थे एक होटल क्लीनर श्री जंगाला चिट्टी···

अब शीघ्र ही तीसरे संकलन का उद्घाटन विशाखापटनम् के किसी सड़क या गली में किसी कुचले गये इन्सान के हाथों ही होगा।

इन परम्पराहीन उद्घाटन-समारोहों का प्रधान आशय है—वर्तमान चापलूसी और आडम्बरपूर्ण असाहित्यिक पुस्तक विमोचन समारोह पर तमाचा लगाना और समाज के कुचले हुए और भूले हुए श्रम-जीवियों की विशिष्टता को दर्शाना।

नव जीवन के अन्वेषण में निर्भय, दिगम्बर चिन्तन की यात्रा में रूढिग्रस्त परम्परागत जीवन और समाज के सामने दिगम्बर कवि ने अपना संवत् चलाया है। उसी के अनुसार वर्ष छः—

वर्ष छः—

नग्ननाम सम्वत्सर
निखिलेश्वरनाम सम्वत्सर
ज्वालामुखि नाम सम्वत्सर
चेरबंड नाम सम्वत्सर
भैरवनाम सम्वत्सर
महास्वप्न नाम सम्वत्सर

ऋतुएँ छः—

आशा ऋतु
तपन ऋतु
अश्रु ऋतु
मदिरा ऋतु
विरहा ऋतु
विषाद ऋतु

दिनों के छः नाम—

स्नेहवार
विश्रृंखलवार
क्रान्तिवार
सृजनवार
विकासवार
अनन्तवार

इस नई पद्धति के साथ दिगम्बर पीढ़ी एक नए जीवन का सूत्रपात करती है।

बिना किसी जाति, रंग, वर्ण आदि के एक अनन्त मानव की कल्पना के साथ केवल मानववाद के आधार पर मानव के लिए नए आयामों के साथ जीते जाना ही उद्देश्य है। आनेवाली कास्मिक जाति के लिए अभी से इस संकुचित और कई प्रभावों से दूषित 'कंडीशंड' या अनुकूलित आदमी (व्यक्ति) को स्वच्छ बनाना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दिगम्बर' नाम की वास्तविक परिभाषा

आन्तरिक नग्नता से नित्य सचेतन स्फूर्ति से आठों दिशाओं का मानव बनकर जीना। सभी संकुचित आवरणों का निराकरण। सभी परम्पराग्रस्त विभिन्न मज़हबों का निराकरण। सभी प्रवादी चालाकी, अधिकार-मद, धन-लोलुपता के विभिन्न वादों का निराकरण।

दिगम्बर कवि अब छः हैं। ये कवि पूर्वाश्रम में अपने निजी रूढिग्रस्त नामों से लिखते थे, पर जब दिगम्बर कवि बनकर उन्होंने पुनर्जन्म पाया तब से इन लोगों ने अपने जाति-कुल-धर्म को याद दिलाने वाले नामों के स्थान पर ही क्रमशः इन नए नामों से लिखना प्रारम्भ किया—

नग्नमुनि, निखिलेश्वर, ज्वालामुखी, चेरबंडराजु, भैरवय्या, महास्वप्न साथ ही श्री सुब्रह्मण्यम् नामक एक सातवाँ व्यक्ति है जो अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से संचालक के रूप में पथ-प्रदर्शन करता है।

ये लोग अपनी कविता को 'दिक' कहने लगे हैं। 'दिक' का मूल उद्देश्य—रुग्ण मानव की रगों में कास्मिक किरणों को भरकर शल्यचिकित्सा करना ही है।

इस दिगम्बर काव्य यामा के बीते हुए इन चार वर्षों में आलोचकों ने इस कविता का मूल्यांकन करने की चेष्टा की। मुक्तछन्द में लिखी जाने वाली आधुनिक तेलुगु कविता का नाम 'वचन कविता' से 'दिगम्बर कविता' हो गया। कविता शिल्प में, बिम्बों में, अभिव्यक्ति में, शब्दों के प्रयोग में कई नये आयाम उभरकर आए। तेलुगू साहित्य में आधुनिक आलोचना का स्तर वैसे तो किसी भी प्रमाण का नहीं है—अतः एक-दो अपवादों को छोड़कर दिगम्बर कविता का सही मूल्यांकन हुआ ही नहीं है। श्री के० वि० रमणारेड्डी एकमात्र ऐसे निर्भीक आलोचक हैं जो दिगम्बर कवुलु के दो संकलनों पर एक विस्तृत आलोचना को 'सृजना' नामक साहित्यिक त्रैमासिकी में छाप चुके हैं। उनकी आलोचना गति तार्किक भौतिकवाद के आधार पर चलती है। इसलिए उनके भी अपने सीमित दायरे हैं। उसी तरह श्री डी० अंजुनेयुलु ने आधुनिक तेलुगू साहित्य पर अँग्रेज़ी में लिखते हुए 'दिगम्बर पीढ़ी' का साहित्यिक मूल्यांकन करने की कोशिश की है। वह लेख 'इण्डियन राइटिंग टु डे' नामक त्रैमासिकी में छप चुका है। तेलुगू में कई समीक्षाएँ और आलोचनाएँ इस पीढ़ी पर आईं, पर किसी के पास एक या दो के सिवा सहनशीलता और तह तक पहुँचने की क्षमता नहीं दिखाई दी।

'दिगम्बर पीढ़ी' की कविताएँ विशेषकर हिन्दी में अनुवादों के रूप में 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', 'युगप्रभात' पत्रिकाओं में छपीं। दूसरे संकलन का घोषणा-पत्र भी 'धर्मयुग' में आया है। कुछ 'दिक' अंग्रेज़ी, बंगला, उर्दू, असमिया, उड़िया, मलयालम भाषाओं में भी रूपान्तरित हो चुके हैं।

दिगम्बर कवि केवल कविता-रचना तक ही सीमित रहना नहीं चाहते। वे लोग स्वयं को 'क्रियाशीलता' मानते हैं। इस 'क्रियाशीलता' के दौरान इन लोगों ने इस साल के प्रारम्भ में 'आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी' की नींवें हिलाकर रख दी हैं। इस अकादमी की सभा में दिगम्बर कवियों ने एक 'विचार पत्र' बाँटा था। उस 'विचार पत्र' का शीर्षक था 'आं० प्र० साहित्य अकादमी' की 'शव परीक्षा'। इस 'शव परीक्षा' को पढ़कर सभी तेलुगू साहित्य-प्रेमियों और कवियों के दिल में एक तूफान-सा उठकर रह गया। इन अकादमियों के अस्तित्व का प्रश्न ही प्रखर होकर गूंज उठा। अकादमी जो पंडितों का अखाड़ा, राजनेताओं का आश्रय-शिविर और ग्रेड स्तर की आलोचना-पुस्तकों का प्रकाशन··· अधकचरे साहित्य पर पुरस्कार—ये सभी दम्भ उभरकर आए।

इस साहित्यिक विवरण के बाद अन्त में एक बात कहना आवश्यक है। यह बात अब दिगम्बर कवि अपने तीसरे संकलन में स्पष्ट कर रहे हैं। कविता को हथियार मानते हुए अब इस मोहभंग और मूल्यहीनता के परिवेश में इस दशक की पीढ़ी को ललकारते हुए कहते हैं—

"अब समय आ गया है कि हम इस कृत्रिम ढांचे को उखाड़कर फेंक दें। यदि व्यवस्था हिंसा और रक्तपात चाहती है, तो इसे रक्त भी देना पड़ेगा। इसी रक्तपात में से प्रेम और सहज मानव का प्रादुर्भाव होगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'५० के लेखक, एस्टाब्लिशमेन्ट और खाली नाव

सन्दीपन चट्टोपाध्याय

'५० के एक-दो साल आगे-पीछे लिखना शुरू करने वाले कवि-कहानीकारों की उम्र ३५ होने जा रही है, किसी-किसी की शायद ३५ पार भी कर गई। लगभग १५ साल से सभी लिख रहे हैं, मगर अब तक जो कुछ भी दीख रहा है उससे साफ है कि एक सुनील गंगोपाध्याय को छोड़, लगता है, किसी का कोई भविष्य नहीं है। बड़े-बड़े पूजा विशेषांकों में '५० के लेखकों की कहानियाँ पिछले दो-चार सालों से छपने लगी हैं, कवियों के तो दस साल से छप रहे हैं। दरअसल **अलोकरंजन दास गुप्त** की कविता नवीं क्लास में पढ़ते समय मशहूर साप्ताहिक में छपते देखा है, यानी कवि और दर्शक दोनों ही हाफ़-पैन्ट पहनते थे। कॉलेज में दाखिल होने के बाद उसी साप्ताहिक में **प्रणवकुमार मुखोपाध्याय** की कविता देखी, प्रणव उन दिनों स्कूल में पढ़ रहा था। दूसरी ओर, महज़ छह साल पहले का 'देश', 'आनन्दबाजार', 'युगान्तर', 'वसुमती' या 'विचित्र'। इन सारे पत्रों के पूजा-अंकों में से किसी एक में भी **शक्ति** की कविता नहीं मिली। आज हरेक में मिलती है, हर पूजा अंक में, किसी-किसी बार शक्ति को 'कम्प्लिमेन्टरी' के तौर पर कम-से-कम ५० पूजा अंक मिलते हैं। शक्ति भी कुछ कम पन्द्रह वर्षों से लिख रहा है।

सुनील की बात मैं छोड़ ही रहा हूँ, उसकी किताब की संख्या साल-भर पहले भी एक थी, इसी बीच आधे दर्जन तक पहुँच गई है। बाकी यश:प्रार्थियों में कवि और लेखक मिलाकर बहुत कम भी लिया जाय तो कम-से-कम ४० लोग बचते हैं। कवियों की तो फिर भी एक-एक किताब है, अब बहुतों की दो-दो हो गई हैं। मगर गद्य-लेखकों की क्या हालत है? केवल दो ही लेखकों के एक-एक कहानी-संग्रह है—दोनों ही 'ऑबसोलीट' हो गए हैं, कोई नहीं खरीदता, किसी शोकेस में भी नहीं है। किसी-किसी लाइब्रेरी में रह सकती है, मगर 'इश्यू' नहीं होती। यह एक सचाई है। यही हाल है **मति नन्दी** के माणिक स्मृति पुरस्कार प्राप्त उपन्यास का। **श्यामल गंगोपाध्याय** के दो-दो उपन्यासों का ही क्या हुआ? **बरेन गंगोपाध्याय, कविता सिंह** इनके भी एक-एक उपन्यास छपे थे; एक क्यों, दो-दो उपन्यास छपे थे, **दीपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय** ने भी उपन्यास लिखा था—फिर कभी अगर इन लोगों की किताबें छपें तो 'लेखकों की अन्य कृतियाँ' की सूची में इनके नाम मिलेंगे। फिर भी, '५० के लेखकों के पास कहने को कुछ भी नहीं है। दीपेन को छोड़कर इन सबकी कहानियाँ आगे-पीछे नामी-गिरामी पत्रों में छपी थीं। **शीर्षेन्दु मुखोपाध्याय, बरेन गंगोपाध्याय, दिब्येन्दु पालित या शंकर चट्टोपाध्याय**— इनकी बहुत सारी कहानियाँ लगातार और साल-दर-साल डेढ़ लाख प्रतियाँ छपनेवाले अखबार के रविवासरीय अंकों में या 'देश' में छपी हैं। 'अमृत' में छपी हैं, 'उल्टो रथ' में छपी हैं। कहाँ नहीं छपीं। 'परिचय', 'एक्षण' आदि 'लिटिल मैगज़ीनों' के पन्ने उलटते ही दीखेगा कि वहाँ भी, साल-दर-सालों से, वे ही साहित्यकार हैं। फिर भी, इन पन्द्रह सालों में, इनके कहानी-संग्रह छापने के लिए छोटा या बड़ा कोई भी प्रकाशक आगे नहीं आया। कविता, मति या दीपेन का उपन्यास अगर किसी तरह किसी ने छापा भी तो वह बिका नहीं। सुनील का उपन्यास 'आत्मप्रकाश', 'देश' के पूजा अंक में छपा—नामी प्रकाशक ने उसे प्रकाशित किया—सुनील ने नाम भी कमाया, हर हफ्ते उसकी तीन से चार रचनाएँ बहुत-से बहुलतम प्रचारित पत्रों में छपती हैं, फिर इतने सालों से कवि और 'कृत्तिवास' जैसे पत्र का सम्पादक—वास्तव में चाहे व्यावसायिक हो या अव्यावसायिक, दोनों ही खेमों में सुनील की तरह इतनी 'पब्लिसिटी' और प्रश्रय '५० के किसी और को निश्चित तौर पर नहीं मिला—किताब का विज्ञापन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी काफी किया गया था, मगर सात दिन में नया संस्करण तो नहीं छपा ? सात महीने में भी नहीं। 'आनन्द बाजार' के होली अंक में मति का 'द्वादश व्यक्ति' छपा, इस उपन्यास को छापने के लिए छोटा, बड़ा, मझला कोई भी प्रकाशक सामने नहीं आया।

कविता-पुस्तक या कवियों की बात हालाँकि अलग है। साधारण तौर पर बंगाल के कवियों की मृत्यु नहीं होती। यहाँ तक कि '३० के कवियों में भी अब तक मात्र **जीवनानन्द दास, सुधीन दत्त** और **समर सेन** के अलावा सभी जीवित हैं। **कामाक्षी प्रसाद चट्टोपाध्याय** भी 'पूजा अंकों' में लिखते चले जा रहे हैं। '५० के कवियों ने स्वेच्छा से लिखना छोड़ दिया था केवल **तन्मयदत्त** और **युगान्तर चक्रवर्त्ती** ने। आठ-दस साल इन्होंने कुछ भी नहीं लिखा, एकदम कुछ भी नहीं, उसके दस साल बाद एकाएक रेडियो पर कविता पढ़ने के लिए युगान्तर को बुलाया जा रहा है। तन्मय की तीन कविताएँ फिर छपते देखीं। मगर क्यों ? दरअसल, बंगाल में कवियों की मृत्यु नहीं होती। '५० के कवि लोग तो महज़ पन्द्रह साल से लिख रहे हैं, और भी ३०-४० साल इनकी कविताएँ छपेंगी, इसकी उम्मीद की जा सकती है। जब तक रचनाएँ छपती हैं, तब तक लिखा जा सकता है। कम-से-कम पूर्वोक्त तीन कवियों को छोड़ '३० के सारे लोगों ने वही किया। फिर कवियों के लिए कोई 'स्टेक' भी तो नहीं है। कविता लिखकर दस रुपये मिलते हैं, पन्द्रह मिलते हैं—और कितने ? प्रति पंक्ति एक रुपया, भला कम क्या है ! कविता अगर छह पंक्तियों की हुई तो (जो कि अक्सर होती हैं) रेट और भी अधिक बन जाता है। जैसे,

रजनीगन्धा की तरह
मुँदी रहती हो।

कविता दो पंक्तियों की है। यहाँ प्रति अक्षर ढाई रुपये। असली बात है कविता पर फिल्म तो नहीं बनती, थियेटर भी नहीं होता, कविता-पुस्तक की कीमत तो पन्द्रह रुपये नहीं होती—लिहाज़ा सम्पादकों की भी कोई दिक्कत नहीं है—कविता के लिए एक पृष्ठ, बस, हिसाब-किताब बैठ गया। लिखते रहने या छापते रहने में दिक्कत क्या है ? हालाँकि किसी-किसी पूजा-अंक में आधे फार्म की जगह छोड़ी जाती है। उसमें तीस कवि छपते हैं। पन्द्रह रुपये प्रति कवि के दर से साढ़े चार सौ रुपये बनते हैं, उसकी जगह एक कहानी छापने पर खर्च अधिक-से-अधिक पचास रुपये बैठता है—चार सौ रुपये की बचत होती है—किसी व्यावसायिक पत्र के मालिक ने इस ढंग से सोचा है यह कभी नहीं सुना। फिर तो सत्यानाश है।

वास्तव में भीड़ बढ़ ही रही है, घट नहीं रही है, '५० से जो लोग लिख रहे हैं उन्हें तो देख रहा हूँ अभी तक लिखते चले जा रहे हैं। जबकि **समरेस वसु** ने लगभग अकेले ही लिखा था, काफी नाम कमा लिया, जाने कितनी किताबों के चटपट संस्करण होने लगे। कहानी-संग्रहों के भी एक से अधिक संस्करण होने लगे। 'देश' में छपने से पहले ही।

'५० के लेखकों में से बहुतों ने सोचा था, अखबारों में नौकरी भी मिल जाए तो ठीक है। हकीकत यह है कि ऑनर्स-हीन बी० ए० पास लेखक हैं सारे-के-सारे, कोई आई० ए० तो कोई बंगला में एम० ए०। पढ़ाई-लिखाई में 'स्पेशलाइज़' करने का मौका ही नहीं मिला। जिस समय 'चार्टर्ड एकाउंटेन्ट' होने के बाद **शरत कुमार मुखोपाध्याय** 'बिज़नेस एफिशियेंसी' पढ़ने लन्दन चले गये, बाकी सारे लोग उस समय सुबह सिंकी हुई डबल रोटी खाकर लिखना तथा शाम को काफी की टेबुल पर 'लेखकों की नौकरी' यानी लेखन से सम्बद्ध अपरिहार्य अड्डेबाज़ी में दिन-पर-दिन शामिल हो रहे हैं—पेय का चरित्र जल्दी ही बदल गया, अड्डेबाज़ी आधी रात तक ढलती चली गई। हालाँकि लौटकर शरत ने फिर से कविता लिखनी शुरू कर दी। अब दूसरे लड़कों की हालत देखिए। सारे बी० ए० पास लड़के दो सौ की बाबूगिरी के अलावा उन्हें क्या मिलेगा ? तीस पार हो रहा है, देखकर ये लोग अखबारों में, रेडियो में या ताश—कहीं नौकरी लग जाए भला। ये नहीं सोचेंगे तो क्या करेंगे ? मगर वह कहा न, भीड़। बहुत अधिक भीड़ थी।

अमरत्व बहुत बड़ी बात है। नाम कमाने की बात लीजिए, कितने लोग प्रतिष्ठित होंगे एक 'जेनरेशन' में ? '५० के लेखकों में पाँच आदमी प्रतिष्ठित हों—यही तो काफी है। अमरत्व की नाव हमेशा छोटी होती है, एक-एक युग या 'पीरियड' में कितने लोग अमर हुए हैं ? अगर पचास हुए हों तो बाद वाले 'पीरियड' ने आकर उसे काटकर पाँच बनाकर बाकी पैंतालिस अपने आदमियों को भरा है। '५० के लेखकों को भी वही खाली नाव मिली थी, लेकिन हड़बड़ाकर सौ के लगभग युवकों के चढ़ने के कारण नाव-सहित, शक्ति चट्टो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाध्याय और विनय मजुमदार-सहित, पूरी नाव पन्द्रह साल में डूब गई। शक्ति हालाँकि कूद पड़ा था, एक डाँड़ पकड़कर कई साल तक तैरता रहा, बाद में हालाँकि शक्ति भी बाढ़ के पानी में बहता चला जा रहा है। किसी-किसी का कहना है विनय छोड़ने वाला लड़का नहीं है, नाव से लिपटकर वह ठीक पानी के नीचे लेटा है। देखिए क्या होता है। हालाँकि पानी अपने नियम से स्वच्छ हो जाएगा, यह तय है। कुछ भी हो इस घटना के साल-भर के अन्दर ही क्रुद्ध **दीपक मजुमदार** और वीतश्रद्ध **उत्पल कुमार बसु** दो प्लेन पकड़कर कलकत्ते के ऊपर से निकल गए। बाकी लड़के रह गए।

असल में '५० के लेखकों से यही गलती हुई थी। इन लोगों ने नरक का रास्ता चुना था। लिहाज़ा इन्हें मुखौटे, नक़ली बाल और तेज़ शराब की ज़रूरत पड़ी थी। मगर, जैसा कि जीवनानन्द की एक कविता में है, इसी में अगर इन्सान को मुक्ति मिलती, फिर तो कोई बात ही नहीं थी। फिर नकली बालों में कब किसे शक होता, या मुखौटा उतारकर अपनी शक्ल के तमाशे से कौन खुश होता !

बात का ज़रा और भी खुलासा किया जाना सम्भव लगता है :

अनुभव पूरे होने पर आदमी की कोई स्मृति नहीं बचती, फिर दूसरी ओर, वह कुछ भी नहीं भूलता। पैराडाक्स ? हाँ, ठीक वही। उसका जो कुछ रहता है वह है स्मृति की स्मृति, यानी 'इम्पोटेन्स', जिससे कोई काम नहीं होता। लेखन एक तरह का काम है। इस काम के लिए स्वाभाविक स्मृति की ओर कुछ पिछड़ जाने की कोशिश करनी पड़ती है। यह बहुत ही खतरनाक कोशिश है, दुर्घटनाग्रस्त होने की सम्भावना रहती है, क्योंकि यह असम्भव कोशिश है। असम्भव ? हाँ। फिर भी इसी कोशिश का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। और एक ही चीज़ तो अब केवल जानने के लिए बाकी रह गयी है जिसका आज भी अन्दाज़ा लगाया जाता है वह सम्भव है या नहीं।

पता नहीं समझा पाया या नहीं। पूरा का पूरा परस्परविरोधी हो गया ? वह तो थोड़ा होगा ही, कोई उपाय नहीं है, परस्परविरोधिता, द्वन्द्व या खींचतान—यही तो ज़िन्दगी है। जीवन में 'ऑथेन्टिक' कहकर कुछ भी नहीं है, फिर भी देखिए, जीवन की इस अगली सीढ़ी से 'ऑथेन्टिसिटी' की ओर पीछे हटना ही शिल्प है। यह एक असम्भव कोशिश है यह मैंने पहले ही कहा है—अक्षम कोशिश—किस तरह का अक्षम कहूँ ? दीपक ने प्रथम सन्तान के जन्म से मृत्यु तक इक्कीस दिन जिस तरह की कोशिशें की थीं, यह कोशिश ही शिल्प है, कहीं भी 'डेलिबरेट' नहीं है—और उसके लिए ज़रूरत है अक्षमताजात कुछ की, जिसे प्रतिभा कहा जाता है—वही चीज़। हाय, प्रतिभा शब्द तक के प्रति '५० के लेखकों की 'एलर्जी' थी।

ये लोग कर नहीं पाये। ये सिर्फ़ कर नहीं पाये। मुखौटे से मुख की ओर, 'कनफ्यूज़न' से 'ऑथेन्टिसिटी' की ओर, नकली बालों से सम्भव पर कुछ पीछे आने की असम्भव कोशिश, ये नहीं कर पाये। वह कुछ गलत नहीं हुआ। मगर जिसे क्षमा नहीं मिली वह रहा वह मुखौटा, नकली बाल या तेज़ शराब के साथ इनका 'एमेचर' या नाबालिग सरीखा 'कम्प्रोमाइज़'।

ये लोग इसीलिए गड्डमड्ड हो गये।

कई दिन पहले श्याम बाज़ार में अकेले शक्ति के साथ मुलाकात हुई। उस समय रात आधी जा चुकी थी, मोड़ की कषामांस की दुकान बन्द हो चुकी थी। कुशलक्षेम के बाद एक डाकबक्स के बगल में हम लोग थोड़ी देर तक खड़े रह गये। थोड़ी देर पहले ही काफी बारिश हो चुकी है, इसीलिए डाकबक्स सुर्ख लाल था। जब मैं और शक्ति कुछ दिनों के लिए चाँइवासा के 'फ़ारेस्ट बँगलों' में थे, उन दिनों हम लोग भीख माँगकर खाते थे। अचानक कोई हिरणी 'फ़ाल्स' में पिकनिक करने आये हैं पता चलते ही, बाद में जाकर उनके जूठन उठा लाते थे। वहीं 'गोल्डफ़्लेक' के टुकड़े मिलते थे। एक दिन एक ठोंगा खुशबूदार चाय मिली थी। राही ओराँवों से हम खाना माँग लेते थे। हम लोगों ने पूरा एक दिन अमरूद खाकर बिताया था। इस्माइल के ट्रक पर चढ़कर किसी दिन खूँटी के बाज़ार या टोबो चले जाते थे। टोबो के बाज़ार में लगभग मुफ्त में महुआ मिल जाता था। खूँटी में जुआ खेलने जाता था। चक्रधरपुर से दिन में दो बार ट्रक लाता था इस्माइल खाँ, जंगल से लकड़ी भरकर लौट जाता था। पहाड़ के ऊपर के बँगलों से नीचे इस्माइल का ट्रक मक्खी की तरह दीखता था। गूँज तभी से सुनाई पड़ती थी। रात को एक ही कम्बल तानकर निवाड़ के खटिये पर लेटे रहते थे। आज कुशलक्षेम के बाद थोड़ी देर की चुप्पी, फिर 'चलूँ भाई' कहकर शक्ति उल्टोडांगा की ओर चला गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछली बागमारी घटना के दिन कलकत्ते में कर्फ्यू था, काफी जल्दी, साढ़े दस बजे के अन्दर ही मैं और सुनील घर लौट रहे थे। बाँगुर कॉलनी तक जाकर मुझसे नहीं रहा गया। किसी तरह सुनील से कहा, "तबियत बहुत खराब लग रही है।" "ठीक है, घर जा सकेंगे न, कोई दिक्कत तो नहीं होगी?" पूछकर सुनील उसी बस से चला गया। फुटबोर्ड से कै करते-करते मैं रास्ते में उतर आया। कितनी देर बाद मैं नहीं जानता। अचानक मैंने पाया कि एक पेड़ का तना पकड़-कर मैं अकेले खड़ा हूँ।

यह तो रही सुनील और शक्ति की बात। दीपक का खत बहुत दिनों से किसी को नहीं मिला। कुछ-न-कुछ करके ही लौटेगा, लगता है। पिछली ५ मई के खत में उत्पल ने लिखा है, "कविता के मामले में सम्पूर्ण उदासीन हूँ।" ओड़िसावासी पाइलट सुरनाथ किसी गुप्त कारणवश जर्मनी से निकल आने को मजबूर होते हैं और गुजरात के पटेल जिनकी पत्नी युगोस्लाव है—गुजरात के पटेल केनिया में जिनका घी का कारखाना है जो इन्दोनेशिया में बिकती है और जिसके पिताजी आनन्दमयी माँ के शिष्य हैं और उत्तर-पाड़ा के रजनीबाबू हर हफ्ते जो कलकत्ते से 'युगवाणी' मँगाते हैं और एक दिन देवज्योति दा ने (जाने क्या नाम था उस किताब का) जिससे एक किताब माँगकर हफ्ते भर में सारा का सारा पढ़कर लौटा दिया था—इनके साथ ६० नम्बर चेस्टरटन रोड, लन्दन, डबलू टेन में उत्पल कैसा है इसके बारे में मैं विस्तार से नहीं जानता। मगर 'लैण्ड-स्पेकुलेशन' कर-करके श्यामल खास मज़े में नहीं है। 'आनन्दवाजार' के 'फीचर राइ-टर' के कमरे में साथ के टेबुल पर चुपचाप काम करते हैं मति और सुनील। इन दोनों को मैं भलीभाँति जानता हूँ। ये भी सम्भवतः खास मज़े में नहीं हैं। लगता है वहाँ वे 'पोस्टेरिटी' से अभी भी काफी दूर ही बैठे हैं। या, शायद मैं 'बायनाकूलर' उलटकर देख रहा हूँ। हो सकता है।

'५० के लेखक आज बहुत ही 'अनहैपी' हैं। इनमें से कोई मज़े में नहीं है यह मैं जानता हूँ। जबकि '५० के लेखकों का जीवन विचित्र था, आधुनिक जीवन का स्वाद इनमें से किसी-किसी को मिला था। अपने जीवन से वह स्वाद उन्हें मिला था, विदेशी साहित्य के कम या अधिक अध्ययन से उन्हें वाकई फायदा पहुँचा था। खासकर कृत्तिवास-ग्रुप कहने पर जिन्हें समझा जाता है, उनमें से बहुतों की वह जीवनधारा रही जिसके चिह्न चेतना को बनाते हैं, जो नियति के हाथों समर्पित होना सिखाती है। इनमें से एक ही साथ रहा बिल्ली और बिल्ली के जबड़े में फँसा हुआ चूहा, सूर्य और अँधेरा, दस्यु और दस्यु के सामने 'इम्बेसाइल'। यह कहा जा सकता है कि बंगाल के किसी भी लेखक-सम्प्रदाय ने ऐसी भूतग्रस्त ज़िन्दगी नहीं बितायी, यह एक संयोग है कि इनमें से कोई-कोई आज भी जीवित हैं या पागल नहीं हुए। वास्तव में हेनरी मिलर के 'कैन्सर' या 'कैप्रिकार्न' में जो ज़िन्दगी मिलती है, वह इनमें से किसी-किसी के लिए लड़कपन लग सकता है। बेतरतीबी से काफ्का, ग्रन्थारग्रास या माणिक वन्द्योपाध्याय, दोस्तोयवस्की, ज्याँ जेने या सेलिंगर में, रैंबो, बोदलेयर, जीवनानन्द में हमें जो चीज़ मिलती है, उनके कुछ विक्षिप्त रूप केवल इन्हीं की किसी-न-किसी रचना में मिले हैं। दीपक मजुमदार, शरत, श्यामल, मतिनन्दी, समरेन्द्र—एक दिन ये एक ही फूलदान में रहे, कलकत्ते के हृत्पिण्ड के (अगर है) या जहाँ कलकत्ते का हृदय रहा उसके काफी आस-पास रहे ये लोग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन कविताएँ

शुद्धि-पत्र

कैलाश वाजपेयी

तर्क की अनुदार गलियों के सिरे पर
जहाँ शुरू होती है कृष्ण पक्ष शाम
खड़ा हूँ निहंग
मेरी हड़कन में शामिल है आज भी
भूख, काला पैसा, वियतनाम।
कभी मुझे आदमी होकर भी सब्र था
कोख से
उगा हूँ कुछ हाथ तो
रौंदूगा
रक्तखोर, परभक्षी खोपड़े
खुशियों के संकरे ताबूत बन्द
मिट्टी, पानी भरे लोथड़े झिझोरूँगा
सब्र था।

लगातार छत्तीस सौ पचास दिन
एक नदी-भरा तरबूज फाँक करके
कई सह्याद्रि, ऐल्पस, विन्ध्यारावलियाँ
हँफती हुई टाप से छू सपाट करके
लगातार मैंने दाँतदार चक्कर घुमाया

कुछ पिलपिले ढोल फूट गए
भाग गए कुछ गुरिल्ले शहर छोड़कर
यह शायद मेरा जिन्दा आतंक था
कुछ रीछ खुद ही लेट गए साँस रोककर
पर जिनसे वायदा था मिलने का
सरयूतट, उच्च न्यायालय की मेज़ पर
वे वहाँ नहीं मिले।

अपने जल्लादी संकल्प में
एक तमंचा लिए हुए रात-रात मैं
भटका
तराज़ू, खड़ाऊँ की तलाश में।
सुना जरूर
पाँच लाख उठे हाथों पर रक्खे मचान में सजा
एक अग्रदूत (श्वेताम्बर) कह रहा था
शान्त रहो
(अकड़ी आँतों के बावजूद) शांत रहो।
मैं तुम्हें खोया तराज़ू दिलाऊँगा
जो सरयूतट पर नहीं मिले
उनसे मिलवाऊँगा
चित्रकूट में
दूत बहुत वक्त यों अपने सफ़ेद झूठ की चकाचौंध से
प्रभासित होता रहा
फिर आँख हाथ पैर मुँह नाक कान जीभ
गोंद फेंकती हुई तोंद से
धूर्त वह
खुल्लमखुल्ला शामिल हो गया अन्धाधुन्ध लूट में।
मैं भी था पाँच लाख हाथों में
मैं ही था सबसे अनियारा

कांतसार, दर्पवान कम्बुस्वर
झक्क एमब्युलेन्स पर जैसे रक्ताक्षर
लोगों को मैंने उकसाया
मंत्र दिया कानों में सब नारों की तरह नारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ़ाका ? नऽ विरोध करो
छत से छलाँग नहीं मारो
खट्ट धाँय धुआँ करो क्रोध
करो, जोरों से नफ़रत अपने-आप से
बुखार में रहो। वक्त कम है।
मैंने उकसाया
फ़ायदा उठाया उचक्कों ने शुरू किया
बलात्कार, अपहरण घर से
जब तक मैं रोकता
माथा झन्ना गया पुजकर पत्थर से
धन्य हुई मेरी पैग़म्बरीयता।

बाकी सब भेड़ और भोंपू थे।
ऐसे ही होते हैं लोग
इश्तहार मुग्ध, जड़ प्रवृत्तिधर्मा
बँधे हुए घर दफ़्तर शहर या महल्लों से
बस वही बरतते पहनते हैं
जो सजा हो भीतर काग़ज़ के, कांच के
दुनिया को हिटलर से उतना खतरा नहीं,
जितना पुछल्लों से।

मैं कहीं होता
इस उपद्वीप या किसी अन्धे कोस पर
यही हुआ होता।

कोई अफ़सोस कर झाड़ता
रफ़ूकर पहनता, सँवारता
फुचड़ा होती हुई उम्र के कपड़े

कभी तो उतार...

अक्सर हवाई उड़ान में
नीचे की धरती देखी है
घास की साड़ी में बादल फँसाए आकर्षित करती है
मगर पास जाकर

सख्त और अनग...

सजाए सँवारे वक्त हो जिसके पास, मुझे चिढ़ है
या क्षोभ या थकान
या फिर एहसास पके बेर का
गिरकर लुढ़कना है जिसे और आगे ढलान है ढलान

जहाँ शुरू होती है कृष्णपक्ष शाम
खड़ा हूँ निहंग
तर्क की अनुदार गलियों के सिरे पर
यहाँ भी मेरी
हड़कन में शामिल है

भूख कालापैसा वियतनाम

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनैतिक

लीलाधर जगूड़ी

कान की भूमिका में पत्थरों का हाथ सिद्ध करने के लिए
रे किसान पिता का चेहरा हर ऋतु में अलग तरह धँस
जाता है
राज्य सरकार से केन्द्रीय सरकार तक
क पेटीकोट की व्यवस्था अश्लील हो गयी
पने-अपने घर के पते पर ऊपर के कमरे में
रे हुए आदमियों के रिश्तेदार और उनके टंटे
ीचे के गैरिज में खच्चरों के घंटे बजते हैं
छ चंट चालाक लोग आँख मारते हुए
त होने से पहले थोड़ा-थोड़ा डरते हैं—
ज़ाले में असली होकर नेकर या पेटीकोट कोई बुरा नहीं
लगता
ाँव से आता हुआ या गाँव को जाता हुआ
पने अपने कोण में लेने के लिए
माम दिशाएँ सुरंग होकर पीछे भाग रही हैं—
ीवारों के मुख में फँसे हुए दरवाज़ों से
ाली जगह का फिर कोई चेहरा देखने के लिए
हिनें याने कि लड़कियाँ दिशाओं की तरह खुलने लग गई
हैं—
ौर सारे कर्तव्य मेरे सिर पर अखरोट फोड़ रहे हैं—

र जब धुआँ भर गया है कमरे में
डियो और कपड़े, अन्न और औरत को बचाना मुश्किल
हो गया
ग के केन्द्र में फँसे हुए पड़ोसी शीशे क्यों नहीं तोड़ रहे हैं—

ी हवा थी पुल बाँधते समय लेकिन तमाम रास्ते
 तक जाकर गुम हो गये हैं
 शरीर से पवित्रता की चिंता तक
ानीय आकाश बहुत छोटा पड़ गया है

ां हम और बम एक ही जगह रख दिये गए हैं
ने से पहले लड़की से औरत तक
ौरत से माँ तक का फ़ासला मैं भी हूँ—
ली जन्मदिन की तारीख भूलकर
ाल यह नहीं कि मेरे उछलने से ऊँचाई बनी या नहीं
िक पेड़ इस बार और उछले थोड़ा
 ज़मीन के चरित्र के बारे में आपका क्या खयाल है ?

क्या बहुत ज्यादा पता चलता है कि मैं अपने पैरों पर
खड़ा नहीं हो सकता ?
कोयना के आखिरी दिन की हलचल लेकर
यह छायाओं का नागरिक दस्ता मेरे किसी काम नहीं आ
सकता ?

जो भी हो इस दिन को चटपट काटना पड़ेगा
और इस व्यवस्था में शामिल होने से फ़रार होना पड़ेगा

इस देश की दैनिक मृत्युदर और जन्मदर में कोई फ़र्क नहीं
रह गया
यहाँ से वहाँ तक चुनाव के बाद का संकट लेकर
पेट और प्रजातंत्र के बीच आदमी दरार की तरह खड़ा है
और हर दरवाज़े पर बवण्डर पर्दे की तरह पड़ा है

पागल और ग़रीब की जात नंगी हो गयी
कमरे, मौसम, वनस्पतियाँ और धुआं
इन सबके विपरीत मेरा कुछ अर्थ बन रहा है
मिट्टी को जूते मारते हुए मैं आत्महत्या कर सकता हूँ—
अपने सारे शरीर को राष्ट्रीय समझकर उस पर थूक
सकता हूँ—
भाषण या वादे या भजन···

अपने आपको तोड़ने के अलावा मेरे पास कोई नारा नहीं
सारी सभ्यता का उजाला चाटकर मुझे कैंसर हो गया है
मैं न समाज हूँ न व्यक्ति न नाम
मुझसे सिर्फ़ बचा जा सकता है या फिर घृणा की जा
सकती है

पूरा समाज (ख़ाली) परेड पर है
और चीज़ें एक विशेष दिन के इन्तज़ार में तमाम सम्बन्धों
को सह रही हैं
अपने-अपने एकान्त में जिसका कोई भविष्य नहीं
आदमी का गौरव बीवी का पर्स और गधे की मज़दूरी
सारे शहर में एक है
जहाँ सब-कुछ उजड़ चुका हो उन सुरक्षित जगहों पर
क्या यह बहुत ज्यादा लगने लगा है कि मैं आदमी नहीं हूँ

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साल की सहयोगी कविता

श्रीराम तिवारी

सात वर्ष हुए
मैंने अपनी उँगलियाँ नहीं
देखीं—
सोचती धारदार उँगलियाँ।
मैं लगातार घर-घर गया
मित्र ही छोड़कर हट गए
परिणति की आग उठाने की
अदा देकर।
और, हमारी आग
वह जलता फूल है भदेस
नस्लों का जो मँहकना
भूलकर
गंदा हँसता है।
एक गँवारू गैस सी-सी लय में
हवा और चरित्र
दोनों को चलाती है, इससे
गोबर, बच्चे और ताजी लड़की का
भौतिक मन दुःखी नहीं होता
और फायदा
गुमनाम चीज़ों को हो जाता है
जैसे माचिस को या दस्ताने को
जो सब जगह घिसती
घड़ियों की टिक में
शामिल हैं :

जहाँ हर इंतजाम
बागी चुगलखोर द्रव्यभोगी
मक्कार के हाथ में हो,
मँगनी की कमाई
खाते हों
मंत्री महिलाएँ कठमुल्ले महाजन
प्राध्यापक

और सारी हुकूमत का चक्कर कुछ
ठाटों और पीली हिम्मतों
के लिए हो
उस जगह का नाम क्या है ?

उस जगह की बदसूरती
तमीज़ और हजामत के बीच
रचना की तानाशाही
जिन्दा रखने में
मैं
जीत गया हूँ और
बर्फ़ जैसी आदतें
ठीक कर रहा हूँ—

जाहिर है कि
जिधर स्वाद की दिशा है
उधर रेलगाड़ियाँ नहीं जातीं
और अखबार
रोज़मर्रा के तिथि-अंकों को
राशिफल हत्या शेयर
के नीले मुकामों पर
छोड़ आते हैं
वहाँ
रीछ
बजट लड़ाई कंधों के
गर्भपात का इंतजार करता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुद्री घोड़ों
को क्या मालूम कि
बाढ़ सरकार हड़ताल से
कौन तकरार करता है
कौन कहता है
पेटों की बिल्लियाँ
सभ्यता का काव्य-पाठ
भूल गई हैं
बस्ती से बस्तर तक
मदन मेहरा अकाल का सस्ता
चार आने का यौनाचार
करता है। केवल ललिताओं
कविताओं के बिकने का
सवाल है कि हर
अच्छी बात उत्साह और
ऊब हो गई है

जब रविवार या ऐसी ही कोई
चालाकी खत्म होती है
आदमी की नीयत साफ़ हो जाती है :
बावजूद इसके कि
पाठक कुचों और धर्मों का मज़ा
लें कुछ पवित्र
और गंभीर शर्तों से बनती
है शब्द और
पानी की राह—
फँसी ज़बान की तरफ़ खुलती
बिजली ईमान और आँकड़ों की
खिड़कियाँ शर्त हैं इसके
बाद ज़रूरी नहीं कि
दूसरी और चौथी शर्त
दफ्तर और झंडों के
लिए हो
वह उस पेंसिल के लिए हो
सकती है जो स्कूली बच्चे
के बस्ते में कल से
ग़ायब है।

बहुत-सी चीज़ों के बारे में
तय नहीं है
जैसे अगले जाड़ों में नई शाल
के रंग के बारे में या
अपनी जगह नहीं चुन पाने का
कोफ़्त लिए घूमती गौरैया के
जोड़े के बारे में या
उन छलों के बारे में
जो गीले मौसमों में अक्सर
दुपहर को चमका देती हैं
बर्तनों की तरह
या ख़ामोशी के हरे ताल
में डूबे गुलमुहरों के बारे में
और ऐसी तमाम दलीलों के
बारे में जो यक्ष-नगरी में
पिछले दिनों के लिए
सुरक्षित हैं फिर भी
एक दुनिया
बन्द और साबूत

परिचित इमारतों मोहों दूतावासों
के झूठ में खुलती है
एक दुनिया सौदे और साख
का उतरा चेहरा लिए
चायघरों में बैठती है
और एक शीत दुनिया देशवासी
की टोपी और क्रीज़ की
कबड्डी में रहती है

दिमाग़ में बहुत देर तक
बिम्ब लिए रहना
नकली और खाली उस
लम्बी चीख़ का निमंत्रण है
जो रेत बारिश और
बच्चों की सुफ़ेद प्रार्थनाओं से
प्रभु के भीतर उतर
रही है
प्रभु हल्का गुलाबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मकानों और अपराधों की
फेहरिस्त लिए
सोचता है : वह
रोज कैसे मर जाता है
पहले पृष्ठ की ख़बरों की
तरह

प्रभु की हर रात सुख-दुःख के
आलिंगन विरह-मिलन की रात है
प्रभु के शराबी पैर सड़कों पर
लड़खड़ा रहे हैं
प्रभु की हर चाल मियादी बुख़ार
की तरह स्थिर हो गई है
प्रभु अभिनेता और सैनिक
की पराई ज़िन्दगी
में
चारों तरफ़
घटना और ठण्ड की मियामी
आंखों में
छलछला आया है :

किसने किसको क्या करने से
रोका
परसों जंग हुआ चोखा—बन्द हुआ
बादल का टोंटा
इस ज्ञानवान मँहगी और महान्
धरती पर क्या हो रहा है किससे
कौन पूछे ?
तड़के मजूर निकला कमाने
संसद से लौटा
निघंटू निवसन
छूछे···

मैं
भय को बर्फ़ से अलग
करती आत्मीयता दाबे
दरीचों से उल्टा गुज़र
रहा हूँ राखदानियों से
कठोर फूलों के
अँधेरे तक सुरुचियों से
जलप्लावित खेतों में···बस
छूट गई हाय ! बेहूदी जल्लाद-इच्छा
से पनपती है शम्पाती-भावना
बासों और पुलों को नोचने की तबियत
से खुश जॉनसन···प्रेमिका के
साथ सोने की जगह नहीं
आह !
सुविधा-गंध चाय । शहर में पीने
उतरते सालाना
चार हज़ार चार सौ बीस लेखक ।

कमरे से निकलते वक्त वह बहुत
चुप था अंतड़ी पकड़े ।
उसने देखा पिछले तंत्रों के
फानूस पर फटे बैलूनों में
पम्प हो रहा है और कुछ तय
हो रहा है मरदूदों के
बीच वह हँसा किया धीरे से
लोग व्यवस्थाएँ और पपीते
करबद्ध खड़े हैं तरीके
उसने नज़दीक से नई सूरतों को चाट लिया
और मर गया
गाँजा पीके ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्जीवन में महानता : कार्ल मार्क्स : १५०वीं वर्षगाँठ

मोहित सेन

डेढ़ शताब्दी का काल सुदूरभूत है या बहुत नज़दीक, यह इस पर निर्भर है कि पिछले इतिहास का सर्वेक्षण किस उद्देश्य से किया जा रहा है। सम्बद्धता और महत्त्व की दृष्टि से देखें तो ५ मई १८१८ को जर्मन शहर ट्रायर में जन्म लेने वाला व्यक्ति हमसे काफ़ी करीब है, यों तो जन्मदिन का महत्त्व सिर्फ़ इतना ही है कि उस दिन एक ऐसी ज़िन्दगी की शुरुआत हुई जो आगे चलकर एक क्रान्तिकारी एवं वैज्ञानिक की ज़िन्दगी बनी। उस व्यक्ति में सत्य की तह तक जाने की क्षमता थी। हमारी जो भी ख़ास पसन्द-नापसन्द हो, किसी भी मापदण्ड से देखने पर हम पाते हैं कि मार्क्स का जन्मदिन इतिहास का एक क्षण है जो मानवता का एक क्षण बन गया है।

कई दृष्टियों से मार्क्स को सबसे उत्कृष्ट श्रद्धाञ्जलि उनके कुछेक विज्ञ समालोचकों में से एक शूम्पीटर ने अर्पित की है। उन्होंने लिखा है—"बुद्धि या कल्पना की बहुतेरी सृष्टियाँ सदा के लिए कुछ समय में ही खत्म हो जाती हैं। यह समय एक क्षण से लेकर एक पीढ़ी तक का हो सकता है। किन्तु कुछेक सृष्टियाँ इस तरह समाप्त नहीं होती हैं। भले ही थोड़ी देर के लिए वे लुप्त हो जाती हैं, लेकिन फिर उनका उदय होता है और दूसरी बार वे सांस्कृतिक विरासत के अनजाने तत्त्व के रूप में नहीं, बल्कि अपने व्यक्तिगत रूप में सामने आती हैं, उनके व्यक्तित्व पर खरोंच भी होते हैं जिन्हें लोग छू और देख सकते हैं। इन्हें हम बिना झिझक महान् व्यक्ति कह सकते हैं। महानता को जीवनी शक्ति से सम्बद्ध करना इस परिभाषा की कोई खामी नहीं है। इस अर्थ में यह शब्द मार्क्स के सन्देश पर निःसन्देह लागू होता है, किन्तु पुनर्जीवन के माध्यम से महानता की परिभाषा करने में एक और फ़ायदा है कि महानता हमारे प्रेम या घृणा से परे हो जाती है। हमें यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि महान् उपलब्धि अवश्यम्भावी रूप से प्रकाश का स्रोत या मूल रूपांकन या विस्तार में दोषरहित होगी। इसके विपरीत हम इसे अन्धकार की शक्ति मान सकते हैं; हम इसे मूलतः गलत मान सकते हैं या कई विशेष स्थलों पर असहमत भी हो सकते हैं। जहाँ तक मार्क्सवादी पद्धति का सम्बन्ध है, ऐसे प्रतिकूल निर्णय या यहाँ तक कि गलत सिद्ध करने के लिए निश्चित प्रमाण सिर्फ संरचना की शक्ति को ही सामने लाते हैं।"

वैसे सिर्फ़ संरचना अपनी विशाल शक्ति की दृष्टि से ही नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व की दीप्ति के कारण स्मरणीय है। १८६७ में हनोवर में मार्क्स ने प्रकाशन के लिए 'पूंजी' के प्रथम खण्ड को व्यवस्थित करते समय सिगफ्रायड नामक एक खान इंजिनियर को लिखा था—"मुझे तथाकथित 'व्यावहारिक' लोगों और उनकी बुद्धि पर हँसी आती है। अगर किसी के पास बैल जैसी चमड़ी हो तभी वह मानवता के उत्पीड़न के प्रति उदासीन रहकर सिर्फ़ अपनी सुख-सुविधा की ओर ध्यान दे सकता है, किन्तु जैसी मेरी स्थिति है, मैं अगर पुस्तक को कम-से-कम पाण्डुलिपि के रूप में ही बिना पूरा किए मर जाता तो अपने को बहुत अव्यावहारिक समझता।" मार्क्स-परिवार की यातनाएँ (उनको कम करने के लिए एंगेल्स के अथक प्रयासों के बावजूद) अपने-आपमें वीरता की कहानियाँ हैं। जैसा कि किसी ऋषि ने कहा है, आदमी को न सिर्फ किसी चीज़ की प्रकृति को जानना चाहिए बल्कि उसे अनुभव भी करना चाहिए। मार्क्स ने बौद्धिक निष्ठा की प्रकृति का उस समय निर्वाह किया जब नवोदित पूंजीवाद के विरुद्ध नाम को भी प्रतिप्रभावी शक्तियाँ नहीं थीं।

न यातना और न अडिग निष्ठा ही सिर्फ़ उस व्यक्ति के पूर्ण महत्त्व का अनुभव करा सकती हैं। ये अपने-आप काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रतिबद्धता का तथ्य। मार्क्स ने अपने-आपको एक उद्देश्य—पूंजीवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था के क्रान्तिकारी उन्मूलन, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का खात्मा और श्रमजीवी वर्ग की मुक्ति जो अन्य सब उत्पीड़ित लोगों की मुक्ति के साथ होगी—की प्राप्ति के लिए अर्पित कर दिया था। प्रतिबद्धता के दो पहलू हैं जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

पहला पहलू है जीवन-पर्यन्त प्रतिबद्धता और उसकी विस्तृत प्रकृति। १८४५ से—जब पेरिस में उनका निर्वासन हो गया था और फिर उस शहर से १८४५ में निकाले जाने पर ब्रूसेल्स और अन्तिम रूप से १८४६ से १८८३ तक लंदन की दीन-हीन बस्तियों में बसने पर—मार्क्स की प्रतिबद्धता और गहरी हो गई। उनका जोश कभी ठंडा नहीं हुआ बल्कि दिन-प्रतिदिन तेज़ होता चला गया, ज्यों-ज्यों उनके अध्ययनों से उनके निष्कर्ष कि श्रमजीवी वर्ग 'संजीवनकारी सिद्धान्त' है। इसी सिद्धान्त ने उनके बौद्धिक जीवन के प्रारम्भ में उन्हें डेमोक्रिट्स से एपिक्यूरस की ओर खींचा था। इसीलिए ब्रिटिश म्युज़ियम में करीब तीन दशकों तक घंटों बिताने के साथ-साथ उन्होंने श्रमजीवी वर्ग के आन्दोलन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध बनाये रखा और महत्त्वपूर्ण मौकों पर वे उसके प्रत्यक्ष संगठनकर्त्ता भी बने। जिस व्यक्ति ने 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' लिखा उसने कम्युनिस्ट कॉरेस्पोंडेंस कमेटियों के संगठन में भी सहायता दी। इन्हीं कमेटियों के कारण आगे चलकर कम्युनिस्ट लीग की स्थापना हुई। और यहाँ तक कि जब वे **'द क्रीटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनमी'** और 'पूंजी' की रचना में रात-दिन एक कर जुटे हुए थे उन्होंने समय निकालकर श्रमजीवियों के बीच सिर्फ लोकप्रिय भाषण ही नहीं किये बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ के मुख्य मसविदाकार और संगठनकर्त्ता के कठिन और थकानेवाले कर्त्तव्यों का निर्वाह किया। इस तरह शुरू से अन्त तक यही चलता रहा। उनकी प्रतिबद्धता सिर्फ आशय की घोषणा या आम अस्पष्टता के स्तर पर सीमित नहीं थी। वह सतत् ज़ोरदार अभिव्यक्ति थी।

प्रतिबद्धता का दूसरा पहलू है उसकी प्रकृति की व्यर्थता। मार्क्स ने कभी भी अपने को वाक्यांश और रूमानी उफान में नहीं उलझाया।

भ्रान्ति का कृत्रिम महल बनाना प्रतिबद्धता के लिए उन्होंने ज़रूरी नहीं समझा। एक सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, १८४८ की क्रान्ति की पराजय से वस्तुगत किन्तु कष्टदायी निष्कर्ष निकालना: कैलिफोर्निया में सोने का अन्वेषण और पूंजीवादी विश्व बाज़ार की निश्चित रूप से स्थापना। दूसरा उदाहरण था प्रगति की दुखदायी प्रकृति को स्वीकार करना: "इतिहास के पूंजीवादी काल को नये विश्व का भौतिक आधार तैयार करना पड़ता है—एक ओर मानवजाति की पारस्परिक निर्भरता के आधार पर व्यापक समागम, दूसरी ओर मनुष्य की उत्पादक शक्तियों का विकास और भौतिक उत्पादन का प्राकृतिक अभिकरणों के आधिपत्य के रूप में परिवर्त्तन। पूंजीवादी उद्योग एवं वाणिज्य ने नये विश्व की इन भौतिक स्थितियों का उसी तरह निर्माण किया है जिस तरह भू-वैज्ञानिक क्रान्तियों ने पृथ्वी की सतह का निर्माण किया है। जब एक महान् सामाजिक क्रान्ति पूंजीवादी युग की उपलब्धियों—विश्व-बाज़ार और उत्पादन की आधुनिक शक्तियों—को प्राप्त कर लेगी और अत्यन्त उन्नत जनगण के सामूहिक नियंत्रण में ला देगी, तभी मानवीय प्रगति की उस डरावनी मूर्ति से समानता हो जायगी जो सिर्फ़ गुलाम की खोपड़ी से ही अमृत-पान करती है।" आदर्शवादी भ्रान्तियों और 'झूठी चेतना' में मन रमाने से इन्कार करने के कारण मार्क्स बहुतेरे महान् क्रान्तिकारियों से अपने को अलग कर लेते हैं। बाकुनिन के प्रति उनके विरोध भाव का भी आंशिक कारण यही है। बेकार की चमक-दमक और उन्माद मार्क्स की प्रकृति के उतने ही विपरीत थे जितने मूल बातों और अनौचित्य से समझौता करना।

कम-से-कम शब्दों में कहें तो यह एक ऐसी ज़िन्दगी थी जिस पर चर्चा करना ठीक है, तो भी हिन्दुस्तान में उनकी वर्षगांठ के अवसर पर बौद्धिक अनुसन्धान-सम्बन्धी दो प्रश्नों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है।

पहला है पूर्व पूंजीवादी संरचना का विश्लेषण। **'द क्रीटिक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी'** की प्रसिद्ध भूमिका में, जहाँ सूक्ति रूप में उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद का अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया (एंगेल्स ने अधिशेष मूल्य के अन्वेषण सहित जिसे मानव-ज्ञान के भण्डार में उनका विशिष्ट योगदान बतलाया), उन्होंने लिखा, "मोटे तौर पर एशियाटिक, प्राचीन, सामन्तवादी और आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन-प्रणालियों को समाज की आर्थिक संरचना में प्रगतिशील युग कहे जा सकते हैं।" विकास के अपने नियमों सहित एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना के रूप में एशियाटिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पादन-प्रणाली को समाज-विकास की मार्क्सवादी विश्लेषण की मुख्य धारा से एक समय के लिए बहिष्कृत कर दिया गया था। मार्क्स की अपनी सारिणी के बदले अपेक्षाकृत सरल, एकरैखिक प्रतिरूप—आदिम साम्यवाद, दासता, सामन्तवाद और पूँजीवाद—को रख दिया गया। यह संदेहास्पद है कि यह प्रतिरूप उन देशों में, जहाँ पूँजीवादी चरण नहीं आया था, विश्लेषण के साधन के रूप में सचमुच सहायक सिद्ध हुआ। पश्चिमी यूरोप ही पहले-पहल पूँजीवादी चरण पर पहुँचा और विश्व के अधिकांश में पूँजीवाद नहीं विकसित होने दिया। इस प्रतिरूप के आधार पर विश्लेषण का प्रचार स्टालिन ने किया और उसे माओ त्से-तुंग ने अपनाया। किन्तु इससे यह मालूम नहीं होता कि क्यों इन क्षेत्रों में, जहाँ पिछले काल में अपूर्व गति से समाज विकसित हुआ, समाज-विकास की धारा रुकी रही।

'द क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनमी' और 'पूँजी' की रचना करते समय पूर्व पूँजीवादी व्यवस्था पर मार्क्स द्वारा तैयार की गई कुछ टिप्पणियों के अँग्रेज़ी अनुवाद होने और एरिक हॉब्स बॉम द्वारा लिखित बेजोड़ लम्बी प्रस्तावना के कारण अँग्रेज़ी जानने वालों के बीच यह विवाद ज़ोर पकड़ गया है। 'द क्रिटिक' की भूमिका में एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना के रूप में एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली को रखना जल्दीबाज़ी में लिए गए निर्णय का परिणाम नहीं था। स्पष्ट है कि निजी सम्पत्ति और वर्ग-समाज के विकास के एक सम्भावित मार्ग के रूप में इसकी चर्चा की गई है। साथ ही इसकी चर्चा अपेक्षाकृत परिवर्तन-विरोधी उत्पादन-प्रणालियों के रूप में हुई है। मार्क्स की टिप्पणियों से स्पष्ट है कि एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली की मुख्य विशेषता के रूप में "भूमि पर स्वामित्व के अभाव" को नहीं माना गया है (यह धारणा सिर्फ़ मार्क्स के भारत-सम्बन्धी लेखों पर ध्यान देने से बनती है।)

जैसा कि हॉब्स बॉम ने लिखा है, "मार्क्स ने स्पष्ट रूप से माना कि इस व्यवस्था की मूल विशेषता ग्राम समुदाय में विनिर्माण और कृषि की स्वयंधारी एकता है। इसमें "अपने-आपमें पुनरुत्पादन और अधिशेष उत्पादन की सारी स्थितियाँ निहित हैं" और इसीलिए अन्य व्यवस्थाओं ने अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता से विघटन और आर्थिक विकास को रोका। "यद्यपि अधिशेष उत्पादन के अलगाव की यथास्थान चर्चा की गई है (लगान की अपेक्षा नज़राने की प्रथा का प्रचलन), तथापि" सामुदायिक इकाइयों की 'बन्द' प्रकृति का मतलब है कि शहर शायद ही अर्थव्यवस्था के अंग हैं। "शहर उन्हीं स्थानों पर उदय होते हैं जो बाहरी व्यापार की दृष्टि से उपयुक्त हैं, या जहाँ शासक और उसके क्षत्रप अपने राजस्व (अधिशेष उत्पादन) का श्रम के साथ विनिमय करते हैं। वे इस राजस्व को श्रम-कोष के रूप में खर्च करते हैं।" अतः एशियाटिक व्यवस्था वर्ग-समाज नहीं है और अगर वर्ग-समाज है भी तो बहुत प्रारम्भिक किस्म का। लगता है कि मार्क्स पेरूवियन और मेक्सिकन समाजों को भी उसी कोटि का मानते हैं।···हम पाते हैं कि "इस व्यवस्था में विकास की गुंजायश है, लेकिन सिर्फ़ 'विलास की वस्तु' के रूप में। कबीले या गाँव की बुनियादी स्वयंधारी इकाइयों द्वारा दिये गए या ज़बरन लिये गए अधिशेष के आधार पर ही विकास हो सकता था।"

जोसेफ नीधम की चीन-सम्बन्धी महान् कृति और चीनी विकास के लिए इस अवधारणा के समर्थन से भारतीय इतिहास के मार्क्सवादी शोध एवं अध्ययन की मुख्य धारा में एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली को शामिल करने की बहुत जरूरत महसूस हुई है। जोसेफ नीधम ने बर्नाल स्मारक ग्रन्थ (या यों कहें कि 'विज्ञान के सामाजिक कार्य' के प्रकाशन की २५वीं सालगिरह के अवसर पर प्रकाशित ग्रन्थ) में छपे अपने लेख 'पूर्व और पश्चिम में विज्ञान और समाज' में अपूर्व स्पष्टता से अपने विचार रखे हैं।

जो भी हो, ऐतिहासिक विकास के जाने-पहचाने मार्क्सवादी प्रतिरूप के तंग दायरे की अपेक्षा इस अवधारणा के ढाँचे में हिन्दुस्तान के सुदूरभूत का शोध करना अच्छा रहेगा। हम कल्पना कर सकते हैं कि इससे इतिहासकारों के 'अनन्य भारत' स्कूल को उचित उत्तर दिया जा सकेगा। ये इतिहासकार कोई व्याख्या नहीं करते (और न ही घटनाओं को काल-क्रम से ही रख पाते हैं), किन्तु इनके लेख हमारे देश में बेहूदी सामाजिक भूमिका जरूर अदा करते हैं और खासकर परिवर्तन के लिए दबाव के वर्तमान संदर्भ में।

अनुसंधान का दूसरा मार्ग उस अन्तर के आधार पर हो सकता है जो मार्क्स ने पूँजीवादी विकास के दो रास्तों के बीच किया। विकास का पहला मार्ग 'सचमुच क्रान्तिकारी मार्ग' है जिसमें उत्पादक (छोटा वस्तु-उत्पादक) 'व्यापारी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूँजीपति' बन जाता है और दूसरा मार्ग वह है जिसमें व्यापारी "प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन पर अधिकार जमा लेता है"। दूसरा मार्ग "ऐतिहासिक तौर पर संक्रमण का ढंग है", "किन्तु इसके बावजूद यह अपने-आप उत्पादन की पुरानी प्रणाली को खत्म करने के लिए बहुत-कुछ नहीं कर सकता, यह उसे बनाये रखता है और इसे आधार के रूप में प्रयोग करता है", और अन्ततोगत्वा 'हर जगह वास्तविक पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के लिए बाधक हो जाता है।"

मार्क्स ने 'पूँजी' के तीसरे खण्ड में यह अन्तर स्पष्ट कर दिया था, किन्तु हम इसे पुनर्जीवित करने के लिए मॉरिस डॉब (खासकर सामन्तवाद से पूँजीवाद की ओर संक्रमण में महत्त्वपूर्ण कारक शक्तियों के सम्बन्ध में पॉल स्वीजी से बहस के दौरान) के आभारी हैं। परिसंवाद में जापान के ताकाहासी के योगदान को याद करें। उन्होंने कहा था, "विश्व की भिन्न ऐतिहासिक स्थितियों में यह कहा जा सकता है कि पूँजीवाद की स्थापना की प्रक्रिया भिन्न बुनियादी दिशाओं में होती है, पश्चिमी यूरोप में, मार्ग नम्बर १ (उत्पादक व्यापारी बनता है), पूर्वी यूरोप और एशिया में, मार्ग नम्बर २ (व्यापारी विनिर्माता बनता है)। स्वभावतः ये सब परिभाषाएँ (खासकर एक सामान्य प्रतिरूप पर आधारित अन्तर) कुछ-न-कुछ मनमानी हैं और जैसे-जैसे हम अमूर्त से मूर्त की ओर आते हैं इनमें संशोधन की आवश्यकता होती है। इसके बावजूद ये न सिर्फ अवधारणात्मक उपकरण का ही काम करती हैं बल्कि अत्यन्त विस्तृत विवरण की तुलना में किसी प्रक्रिया-विशेष की अखण्ड पूर्णता के सबसे सच्चे वक्तव्य के रूप में भी काम देती हैं।

हमारा सुझाव है कि मार्क्स द्वारा बतलाया गया पूँजीवादी विकास का दूसरा मार्ग ब्रिटिश औपनिवेशिक विजय के पूर्व वर्षों के दौरान भारतीय पूँजीवाद के विकास के अध्ययन में सहायक होगा और एशियाटिक उत्पादन-प्रणाली के विनाश की प्रक्रिया की गति धीमी होने और समाज के विकास में बाधा डालने वाले इस मार्ग में निहित तत्त्वों के बारे में रहस्योद्घाटन करेगा। ब्रिटिश औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तर्गत और उसके अंग के रूप में, भारतीय पूँजीपति वर्ग (उसके शहरी हिस्से) के विकास और स्वतंत्रता के बाद के काल में एकाधिकारी परजीवीपन की ओर उसकी तीव्र प्रगति (इन एकाधिकारियों के परजीवी और उत्पादन-विरोधी चरित्र को बहुत अच्छी तरह विवियन बोस आयोग और औद्योगिक लाइसेंसिग सम्बन्धी हमारी रिपोर्ट ने स्पष्ट कर दिया है) के अध्ययन में सहायता मिलेगी। ऐसा भी हो सकता है कि आगे चलकर यह अन्तर औपनिवेशिक क्षेत्रों के पूँजीपति-वर्ग के विश्लेषण में मार्क्सवादियों द्वारा प्रयुक्त विदेशी एकाधिकारों से सम्बद्ध और राष्ट्रीय पूँजीपतिवर्ग के द्विधा वर्गीकरण से अधिक सही एवं उपयुक्त सिद्ध हो। अन्त में, यह अन्तर स्वातंत्र्योत्तर भारतीय पूँजीपति वर्ग के अन्तर्गत विशिष्ट प्रवृत्तियों और पूँजीवादी विकास के परस्पर-विरोधी संगत मार्गों—स्वतंत्र एवं साझेवाली—के अध्ययन में सहायक होगा। यह राष्ट्रीय-जनतांत्रिक मोर्चे की अवधारणा को एक निश्चित सैद्धान्तिक वज़न प्रदान करेगा। इस मोर्चे में पूँजीवादी और पूँजीवाद-विरोधी शक्तियाँ शामिल होंगी जिसके फलस्वरूप अस्थायी तौर पर विरोधी तत्त्वों की एकता स्थापित होगी जिसे 'ग़ैर-पूँजीवादी मार्ग' कहा गया है।

यह सही है कि पिछले दशक या उसके आसपास अन्वेषण के इन दोनों मार्गों का अनुसरण किया गया है। इस शताब्दी के तीसरे और चौथे दशकों के दौरान मार्क्सवादी साहित्य एकाएक भारतीय बुद्धिजीवियों को मिला। अभी धरातल और कारण दोनों हैं कि मार्क्स जैसे ही सामान्यीकरण किये जाएँ। इन सामान्यीकरणों के निर्माण के दौरान मार्क्स के कुछ मौलिक सिद्धान्तों की ओर लौटना आवश्यक है। उनकी १५०वीं वर्षगाँठ इस प्रयास को प्रारम्भ करने के लिए एक विशेष पुनीत अवसर है जिससे आगे चलकर मार्क्सवादी पद्धति का भारतीय वस्तु-स्थिति से एकीकरण हो सके।

यह और भी ज़रूरी है क्योंकि अगर मध्ययुगीन प्रगति-विरोधी ताकतों को राष्ट्रीय विचारधारा के विघटन के फलस्वरूप बने शून्य में ज़हरीले धुएँ भरने से रोकना चाहते हैं तो सामूहिक कार्रवाई के स्तर पर ज़रूरी है कि मार्क्स के बुनियादी विचारों का अधिक-से-अधिक प्रसार हो। मार्क्स या बीटलों के महर्षि-जैसी कोई विषय-वस्तु—ये ही स्वतन्त्र भारत की नयी पीढ़ी के सामने दो विकल्प उभरते जा रहे हैं। अगर "हिन्दुओं के इस विचित्र विषाद' को विकृत जंगलीपन का रूप नहीं लेना है तो भारत को अपने और अपने भविष्य को अमर-राईनलैण्डवासी की कृतियों में ढूँढना होगा।

अनु०—गिरीश मिश्र

'इकॉनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली' से साभार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुर्जकुमार तेवारी

रामविलास शर्मा

उत्तर भारत में अति प्राचीन काल से अवध नाम का जनपद प्रसिद्ध है। यहाँ के राजा रामचन्द्र ऐसे प्रतापी हुए कि लोग उन्हें ईश्वर का अवतार कहने लगे; जिस राज में प्रजा को सब सुख प्राप्त हों, उसे राम-राज कहा जाने लगा। भारत के आदि-काव्य 'रामायण' के नायक यही राम थे; महर्षि वाल्मीकि ने उस महाकाव्य की रचना इसी अवध में की थी जिसे अब नीमसारन कहते हैं। पौराणिक काल में वह नैमिषारण्य कथा-वाचकों का केन्द्र था। यहाँ से अनेक व्यास और सूत कथा-वार्ता सुनाने निकले, नये-नये प्रदेशों में घूमकर उन्होंने सारे देश को एकता के सूत्र में बाँधा। १६वीं सदी में रायबरेली ज़िले के जायसग्रामवासी मलिक मुहम्मद ने अवधी में अपना प्रबन्ध-काव्य 'पद्मावत' लिखा। इसका प्रभाव दूर-दूर तक पड़ा और बंगाल में इसका अनुवाद किया गया। अकबर के समय में व्यापार, उद्योग-धन्धे, कला, साहित्य—सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई। उस युग में गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी में अपना विश्व-प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' रचा। अवध के अलावा उत्तर भारत के प्राय: सभी जनपदों में यह काव्य पढ़ा और गाया जाने लगा; भारत की संस्कृति पर उसकी छाप गहरी और अमिट है। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों में केन्द्रीय शासन कमज़ोर होने से अवध के नवाब बादशाह बन बैठे। नवाबी विघटन से लाभ उठाकर अंग्रेज़ों ने अवध पर अधिकार कर लिया। अवध पर अंग्रेज़ों का अधिकार—अठारह सौ सत्तावन में भारत के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम का यह एक प्रमुख कारण था।

क्लाइव के ज़माने से अवध के किसान रोटी-रोज़ी की तलाश में बंगाल जाते थे। वहाँ फौज में भर्ती होकर अंग्रेज़ी राज के विस्तार में सहायक होते थे। जिसे बंगाल-आर्मी कहा जाता था, उसमें बंगाल का एक भी सिपाही न था; ज़्यादातर सिपाही पछाँह के थे, विशेषकर अवध के। अवध की बेगम, अज़ीमुल्ला, नानासाहब, फ़ैज़ाबाद के मौलवी, राना बेनी माधव को साथ मिलाकर अवध के सिपाहियों ने अंग्रेज़ों से दो साल तक भयंकर संग्राम किया। अंग्रेज़ों ने इसका बदला लिया; उन्होंने अवध को, जो भारत का बाग कहलाता था, उजाड़ डाला। उन्नाव, रायबरेली, लखनऊ, इलाहाबाद, बहराइच आदि उद्योग और व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्रों को उन्होंने बर्बाद कर दिया।

अंग्रेज़ी राज में अवध की प्रजा को दोहरा अत्याचार सहना पड़ता था। अंग्रेज़ों ने ताल्लुकदारों-ज़मींदारों को अपना चाकर बना लिया था। सूदखोर महाजनों और निर्दयी ज़मींदारों की मदद के लिए अंग्रेज़ी कानून, कचहरी-अदालत, पुलिस, ज़रूरत हो तो फौज भी, हमेशा तैयार रहती थी। सबसे ज़्यादा सताए जाते थे 'नीची जात' वाले। चमारों से बेगार लेना, उनकी बहू-बेटियों को बेइज़्ज़त करना ज़मींदारों का आम चलन था। बहुत-से गाँवों में गरीबी के मारे ये अपढ़-असहाय चमार मुर्दा जानवरों का मांस खाकर दिन काटते थे। अंग्रेज़ों ने अल्पसंख्यक मुसलमानों को पुलिस-कचहरी में विशेष सुविधाएँ देकर, सरकारी काम-काज में अरबी-फारसी से लदी हुई भाषा चलाकर यहाँ की जनता के सांस्कृतिक विकास को भारी नुकसान पहुँचाया। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में अंग्रेज़ी नीति का विरोध करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी जनता में स्वदेश और स्वभाषा

निराला के आरंभिक जीवन से सम्बद्ध यह निबन्ध डॉ० रामविलास शर्मा के वृहद ग्रंथ 'निराला की साहित्य-साधना' का पहला अध्याय है। ग्रंथ तीन खंडों में विभक्त है : प्रथम खंड जीवन-चरित, द्वितीय खंड कला और विचारधारा तथा तृतीय खंड अध्ययन सामग्री और पत्र। इस ग्रंथ के लिए डॉ० शर्मा वर्षों से सामग्री एकत्र करते रहे हैं और एक तरह से यह डॉ० शर्मा की भी साधना का प्रमाण है। प्रथम खंड इस समय प्रेस में है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रति प्रेम जगाया। इनके दो प्रमुख सहयोगी अवध के थे; एक प्रतापनारायण मिश्र जिनका गद्य भारतेन्दु के गद्य-जैसा ललित होता था, दूसरे बालकृष्ण भट्ट जो अपने युग के सबसे क्रान्तिकारी लेखक थे।

अवध का पछाहीं भाग बैसवाड़ा कहलाता है। उन्नाव और रायबरेली ज़िलों के लगभग डेढ़ हज़ार वर्गमील के इस इलाके में बसी हुई जनता अपनी बोली, अपनी लोक-संस्कृति, अपनी ऐतिहासिक परंपराओं पर बड़ा अभिमान करती है। यहाँ के लोग अपने जीवट और हेकड़ी के लिए विख्यात हैं। भारतेन्दु ने बैसवाड़े की यात्रा करने के बाद लिखा था कि यहाँ का हर आदमी अपने को भीम और अर्जुन समझता है। इनकी भाषा भी कुछ ऐसी है कि लोग सीधे स्वभाव बात कर रहे हों तो अजनबी को लगेगा कि लड़ रहे हैं। ब्रजभाषा का गुण मिठास है, बैसवाड़ी का पौरुष। बैसवाड़े का शायद ही कोई घर हो, खासकर बाम्हन-ठाकुर का, जिसमें कोई फौज में सिपाही, हवलदार या सूबेदार न रहा हो। कसरत-कुश्ती के शौकीन, मज़बूत काठी वाले, गलमुच्छ रखाए ये सिपाही किसी समय बैसवाड़े के गाँवों की शोभा थे। चौपाल में सुर्ती मलते हुए वे देहात के लोगों को देश-विदेश की खबरें सुनाते थे। बूढ़े होने पर, फ़ौज से अलग होने पर भी, पेन्शन मिलने के कारण ये अपने को औसत किसान से बढ़कर समझते थे।

बैसवाड़ा वर्णगत संकीर्णता का भी गढ़ था। ऊँच-नीच का भेद-भाव अलग-अलग वर्णों के बीच में ही न था, एक ही वर्ण में, विशेष रूप से ब्राह्मणों में—बीघा-बिस्वा के अनुसार—यह भेद बड़ा प्रबल था। आठ कनौजिया नौ चूल्हे की कहावत मशहूर है। अनेक ब्राह्मण मांसाहारी होने पर भी छुआछूत के ऐसे कायल थे कि चमार का लाया ईंधन धोकर जलाते थे। बाल-विवाह, दहेज, पर्दा जैसी अनेक कुरीतियाँ 'ऊँची' जातियों में प्रचलित थीं। इतर वर्णों की स्त्रियाँ मर्दों के साथ खेतों में काम करतीं, लड़ाई-झगड़ा होने पर एक को छोड़कर दूसरे के घर बैठ जातीं, ज़रूरत होने पर उनका न्याय पंचायत करती।

चारों ओर निरक्षरता का राज था। कोसों तक प्राइमरी स्कूल के दर्शन न होते थे। जो दर्जा चहारुम पास कर ले, वह बड़ा विद्वान् समझा जाता था। मिडिल पास गिने-चुने थे। फिर भी लोक-संस्कृति दरिद्र न थी। हर गाँव में रामायण, भागवत, प्रेमसागर जैसे ग्रन्थ बाँचने वाले दो-चार व्यक्ति ज़रूर होते थे। इनसे सुनकर अपढ़ किसान भी धर्म और नीति की बहुत-सी बातें सीख लेते थे, मौके पर रामायण की चौपाई या दोहा उद्धृत कर सकते थे। गिरधर कविराय की कुंडलियाँ, घाघ-भड्डरी की कहावतें, राना बेनीमाधव की वीरता पर बैसवाड़े के ही कवियों के रचे हुए कवित्त, सूर के पद, शृंगार रस के सैकड़ों छन्द हज़ारों किसानों को कण्ठस्थ थे। चौपाल में आल्हा जमने पर आधा गाँव इकट्ठा हो जाता; नौटंकी देखने दूर-दूर के गाँवों से मनचले जवान टूट पड़ते। शूद्रों में कबीर के पदों का चलन खास तौर से था। मुसलमानों का सामाजिक जीवन भी सामन्ती व्यवस्था के ऊँच-नीच वाले भेद-भाव से प्रभावित था। शेख और बेहना एक-दूसरे से वैसे ही दूर थे जैसे कुलीन और धाकर। ताज़ियों में हिन्दू भी शरीक होते थे। अवधी में जब मुसलमान मर्सिये गाते थे, तब सुनने वाले धर्म की बात भूलकर काव्य-रस में डूब जाते थे। प्रायः हर गाँव में किसी नदी, नाले या ताल के किनारे देवी का मन्दिर या शिवाला था जहाँ फुर्सत के समय तमाखू खाने और बातें करने के लिए किसान इकट्ठे होते। पुरुष ज़्यादातर हनुमान के उपासक थे क्योंकि वह बजरंग हैं, बल के देवता हैं। शाम को कनेर के लाल-पीले फूलों से जलभरे लोटे सजाकर खेतों की मेंड़ से कन्याएँ देवी-पूजन को जातीं।

दीवाली की रात खेतों में दिये जलाकर किसान 'धरती माता जागो' की पुकार लगाते। कतकी के पर्व पर सैकड़ों बैलगाड़ियाँ घुँघरू बजातीं गंगा की ओर दौड़ चलतीं। किसान होली में नए अन्न की बालें भूनते, अलैया-बलैया गाँव की सीमा के बाहर भगाते, ढोल-मंजीरे के साथ फाग गाते हुए निकलते। कभी तविया का मेला, कभी देवी अल्वापन का, कभी पासाखेरे की बजार, कभी पुरवा की, कभी करवा चौथ, कभी बरगदहाई, स्त्रियों-पुरुषों के मनोरंजक सांस्कृतिक कार्यक्रम आएदिन होते ही रहते थे।

गंगा, लोन, सई नदियों से सींची हुई बैसवाड़े की धरती बड़ी उपजाऊ है। यहाँ की घनी अमराइयों में कोसों तक बौर महक उठते हैं, चाँदनी रात में सफेद धरती पर चुपचाप रसभरे महुए टपकते हैं, कोल्हू में ईख पेरी जाती है, कड़ाह में रस खौलता है, चीपी, पतोई, राब की अलग-अलग मिठास की चर्चा होती है, तालों में कहीं लाल-सफेद कमल, रात में खिली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई कोकाबेली, भीगती हुई सनई की गन्ध, ज्वार के पेड़ों में लिपटी हुई कचेलियों का सोंधापन, जौ और गेहूँ के खेतों में शान्त, बहता हुआ, पुर से निकाला हुआ, कुएँ का पानी—कोई आश्चर्य नहीं कि यहाँ के लोगों को अपनी धरती से बड़ा प्यार है जिसे वे अक्सर तब समझते हैं जब उन्हें बैसवाड़े से दूर कहीं रहना होता है।

●

बात गदर से कुछ साल बाद की है।

गढ़ाकोला, ज़िला उन्नाव में, बैसवाड़े का एक छोटा-सा गाँव है। ज़्यादातर लोग गरीब थे। ब्राह्मण लोग हल चलाना आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझते हैं, फिर भी गरीबी के मारे गढ़ाकोला के बाह्मन खेती करते थे। गाँव के ताल्लुकदार पं० भगवानदीन दुबे छोटे-मोटे रईस थे। समाज की परवाह न करके उन्होंने अपने यहाँ मुसलमान वेश्या रख ली थी। कुलीन-अकुलीन सभी ब्राह्मण उनके यहाँ खाते-पीते थे। किसी में हिम्मत न थी कि उनकी ओर उँगली उठाए। 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं'—कहकर लोग चुप हो जाते थे। भगवानदीन दुबे की गरीब रिआया में एक गरीब ब्राह्मण किसान थे शिवाधारी तेवारी। संक्षेप में लोग इन्हें सिधारी पंडित कहते थे। चार लड़के थे—गयादीन, जोधा, रामसहाय और रामलाल। किसानी से घर का खर्च न चल पाता था। काम की तलाश में गयादीन ताल्लुकदार भगवानदीन के यहाँ गये। उन्होंने सिधारी पंडित के लड़के को अपने यहाँ नौकर रख लिया। कोई बहुत बड़ी नौकरी न थी, फिर भी गृहस्थी की गाड़ी चलाने में थोड़ी-बहुत मदद मिल जाती थी। दुर्भाग्य से एक दिन ताल्लुकदार के घोड़े ने उनका हाथ काट लिया। भगवानदीन दुबे ने दया करके उन्हें थोड़ी-सी ज़मीन माफी दे दी। फिर भी दिन तंगी में कट रहे थे। रामसहाय और रामलाल इन दो भाइयों का एक गुट था। ये आपस में बातें करते—खेती में कुछ नहीं धरा, बिगहपुर में फलाने को देखो; कलकत्ता गये थे, दो साल में कमा के घर भर दिया। रामसहाय जवार के कई लोगों को जानते थे जो बंगाल में नौकर थे। खेती में उनका मन न लगता था। परदेश जाने के लिए वह सबसे ज़्यादा उत्सुक थे। एक दिन भाइयों में कुछ कहा-सुनी हुई। रामसहाय ने हाथ की खुरपी खेत में गाड़ते हुए कहा—यह खुरपी तभी निकलेगी जब परदेस से कमाकर लौटूँगा।

सिधारी पंडित के जवान लड़के रामसहाय ने सत्तू-चबेना बाँधा, लोटा-डोर लिया और बंगाल के लिए पयान किया। कुछ दूर पैदल चले, बाकी रास्ता रेल से तय किया। कलकत्ता पहुँचकर बैसवाड़े के लोगों से मिले। इनमें कुछ पुलिस में नौकर थे। बंगाल पुलिस में पुरबियों की बड़ी खपत थी। रामसहाय लम्बे-तगड़े जवान थे। भर्ती कर लिये गए। किसानी की हाय-हाय से पिंड छूटा। उन्होंने रामलाल को भी बुलाकर पुलिस में भर्ती करा दिया। दोनों भाइयों का ब्याह हो चुका था, पर रामसहाय की स्त्री का देहान्त हो गया था। रामलाल के लड़का हुआ; नाम रखा बदलू प्रसाद। रामसहाय ने चाँदपुर, ज़िला फतहपुर के दुबों के यहाँ दूसरा ब्याह किया। पुलिस में नौकरी करते कुछ साल बीते थे कि रामसहाय को एक दिन मालूम हुआ कि उनके अफ़सर चाहते हैं कि अपने भाई रामलाल के साथ वह महिषादल चले जाएँ।

बंगाल के मिदनापुर ज़िले में महिषादल नाम का देशी राज्य था। यहाँ राजा रामनाथ राज करते थे। जब इनका देहान्त हुआ, तब इनकी रानी पति का शव लेकर चिता पर चढ़ गईं। राज्य का उत्तराधिकारी कोई न था। तभी वहाँ पछाँह से ज़िला बाँदा का रहनेवाला लक्ष्मण प्रसाद नाम का गरीब ब्राह्मण युवक भटकता हुआ जा पहुँचा। महाराज रामनाथ की पत्नी ने सती होने से पहले उसी को राजसिंहासन पर बिठा दिया। गदर के बाद लक्ष्मण प्रसाद के पुत्र ईश्वर प्रसाद गर्ग राजा हुए। अंग्रेज़ों को जैसे बंगाल-पुलिस के लिए पुरबियों की ज़रूरत थी, वैसे ही राजा ईश्वर प्रसाद कुछ मातबर आदमी चाहते थे जो बंगाली प्रजा को काबू में रख सकें। उन्होंने अंग्रेज अफ़सरों से बात की, जिसका नतीजा यह कि सिधारी पंडित के दो पुत्र रामसहाय और रामलाल महिषादल में आ गए। काम वही सिपाहियों का था।

रामसहाय 'रामायण, हनुमानचालीसा' का पाठ करने वाले सीधे-सादे ब्राह्मण सिपाही थे। जिसका नमक खाना, ईमानदारी से उसकी ताबेदारी करना—यही उनके जीवन का सिद्धान्त था। राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें सिपाहियों का जमादार बना दिया।

राजा रामनाथ गर्ग के पुत्र हुआ। सती की महिमा का स्मरण करके उन्होंने उसका नाम रखा सती प्रसाद।

गढ़ाकोला में सिधारी पंडित का देहान्त हो गया। पिता के क्रियाकर्म में रामसहाय और रामलाल ने काफी पैसा खर्च किया। भाइयों में अब फिर हेलमेल हो गया था। रामसहाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुस्सैल स्वभाव के थे, पर मन में मैल न जमने देते थे। भाइयों की बराबर मदद करते रहे। इधर ईश्वरप्रसाद गर्ग के बाद उनके पुत्र सती प्रसाद गर्ग राजा हुए। उनसे भी रामसहाय और रामलाल की अच्छी निभती रही। रामसहाय ने कुछ पैसे जोड़ लिए थे। अपनी पत्नी के लिए कुछ गहने बनवाए; अपने लिए उन्होंने बड़ी गुरियों का एक कंठा बनवाया। सोने का कंठा पहने बिना गाँव में कोई इज्जतदार न कहलाता था। रामसहाय की वह साध भी पूरी हुई। एक ही साध बाकी थी। वह चालीस पार कर चुके थे और अभी सन्तान का मुँह न देखा था। आखिर महावीर स्वामी ने वह साध भी पूरी की।

माघ शुक्ल ११, संवत् १९५५,[1] तदनुसार २१ फरवरी १८९९ को रामसहाय तेवारी के घर पुत्र-जन्म हुआ। उस दिन मंगल था; महावीर स्वामी ने अपनी पूजा के ही दिन रामसहाय को पुत्र का मुँह दिखाया। दरवाज़े पर बाजे बजे; नाई, धोबी, डोम वगैरह नेग माँगने आये। महिषादल में अवध के और परिवार भी रहते थे, कई घर बैसवाड़े के ही लोगों के थे। इन सबसे स्त्रियाँ आईं; सोहर होने लगे। थोड़ी देर के लिए रामसहाय को लगा कि वह गढ़ाकोला में ही उत्सव मना रहे हैं। खैर, अभी न सही, जैसे ही मौका मिला, वह पुरखों की डेहरी छुलाने बच्चे को गाँव ज़रूर ले जाएँगे।

पंडित ने जन्मकुंडली बनाई। कहा—लड़का मंगली है, दो ब्याह लिखे हैं; है बड़ा भाग्यवान, बड़ा नाम करेगा। इसका नाम रखो—सुर्जकुमार। रामसहाय ने सोचा—दो ब्याह हमारे हुए, बेटा भी कुल की रीति निबाहेगा।

सुर्जकुमार पड़ोस की स्त्रियों के खिलौना हो गए। रंग-रूप देखकर वे कहतीं—महतारी तो साँवली है मुला बेटवा गोरा है; बाप को पड़ा है, आँखें और नाक हूबहू जमादार की-सी हैं।

रामसहाय को ढलती उम्र में पुत्र का मुँह देखने को मिला पर अब एक नयी चिन्ता सताने लगी। उनकी पत्नी का स्वास्थ्य ठीक न रहता था। वास्तव में सौर से निकलने के बाद वह फिर पनपी ही नहीं। सुर्जकुमार अभी बोलना सीख रहे थे, करीब ढाई साल के हुए होंगे कि उनकी माँ इस संसार से विदा हो गईं।

रामसहाय की सारी ममता बेटे पर केन्द्रित हो गई। अभी वह पैंतालीस के होंगे। इस उम्र में तीसरा ब्याह करना कोई अनहोनी बात न थी। पर अब उनकी इच्छा ब्याह करने की न थी। वह बेटे को नहलाते-धुलाते, भोजन कराते, रात को अपने पास सुलाते। पर दिन में हमेशा अपने पास रखना संभव न था। नौकरी पर जाते समय वह अपने मित्र ज्वाला प्रसाद शुक्ल के दरवाज़े पर आवाज़ देते; उनकी पत्नी निकलकर आतीं। सुर्जकुमार को उनके सुपुर्द करके रामसहाय काम पर चले जाते। ज्वालाप्रसाद शुक्ल के भी एक लड़का था। नाम था रामशंकर, उम्र में सुर्जकुमार से चार-पाँच साल बड़ा था। दोनों बच्चे साथ खेला करते। परदेस में एक ही गाँव-जवार के लोग आपस में बड़ा भाईचारा मानते हैं, सुख-दुख में एक-दूसरे का साथ देते हैं। सुर्जकुमार को हर तरफ स्नेह मिलता था; स्त्रियाँ हाथों-हाथ रखतीं। बाप का लाड़ अलग। जो खाने-पहनने को माँगते, वही मिल जाता। सुर्जकुमार स्वभाव से खिलाड़ी, नटखट और कुछ-कुछ जिद्दी भी हो चले।

सुर्जकुमार की खेलने की जगह महल की हद से बाहर एक ताल के किनारे थी जहाँ उनके बाप कच्चे घर में रहते थे। दूर पर राजमहल दिखाई देता था, बहुत बड़ा, खूब शानदार, उसके सामने कच्चे घर बहुत ही तुच्छ मालूम होते थे। वहाँ राजा रहते हैं, हम उनके नौकर हैं, यह भेद सुर्जकुमार की समझ में आने लगा। बाप के साथ कभी-कभी वह महल की तरफ जाते। हर तरफ हरी-हरी दूब के मैदान, सुन्दर फलों वाले पेड़ और फूल-ही-फूल दिखाई देते। कमल, गुलाब, बेला, जुही की अरघानें सुर्जकुमार का दिमाग तर कर देतीं। पर यह सब दूर से देखा जा सकता है। बाप समझा देते, यहाँ खेलना मना है।

रामलाल का लड़का बदलू प्रसाद अब बारह साल का हो रहा था। उसका ब्याह करना ज़रूरी था। इस तरह का हर काम-काज गढ़ाकोला में ही हो सकता था। यह अच्छा अवसर था जब रामसहाय बच्चे को लेकर पुरखों की डेहरी छुआ लाते। बदलू का ब्याह करके रामलाल के साथ वह गाँव आये।

सुर्जकुमार ने पहली बार बेर और बबूल के जंगल, बड़े-बड़े ऊसर, गाँव के किनारे सूखी लोन नदी देखी। आमों के बाग थे, पर वैसी घनी हरियाली यहाँ न थी जैसी महिषादल में देखी थी। यहाँ का घर वैसा ही कच्चा, टूटा-फूटा जैसा महिषादल वाला था। भगवानदीन दुबे का घर पक्का था, पर राजा के महल के सामने बिल्कुल टुच्चा। सुर्जकुमार 'सहिबाला' बनकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाई के साथ डोली में बैठे; ब्याह कितना बढ़िया तमाशा होता है, यह उन्होंने देखा।

गाँव में भी सुर्जकुमार को अपना प्यार-दुलार करने वाले बहुत से मिले। इनमें ताल्लुकदार भगवानदीन दुबे की पतुरिया भी थी। सुर्जकुमार को उसका व्यवहार बहुत अच्छा लगा। वह मिठाई खिलाती, प्यार करती और गाना भी सुनाती। सुर्जकुमार ने गाँव की अन्य स्त्रियों को भी गाते सुना, पर इसका गला उन सबसे ज़्यादा सुरीला था। कपड़े भी अच्छे पहनती है, साफ-सुथरी रहती है, बाल सुन्दर ढंग से सँवारती है। यह गाँव की दूसरी औरतों की तरह नहीं है। वे सब इसे पतुरिया कहकर हँसती हैं। क्यों हँसती हैं, यह सुर्जकुमार की समझ में न आता था, पर वह उन्हें अच्छी ज़रूर लगती थी।

होते-करते बदलूप्रसाद का गौना भी हो गया। घर में रोटी बनाने की समस्या हल हो गई। रामलाल की पत्नी का देहान्त हो चुका था। दोनों भाई हाथ से ठोंककर खाते थे। अब बदलूप्रसाद की नवयुवती पत्नी महिषादल आ गई। सुर्जकुमार को अपनी भौजाई बहुत अच्छी लगती थीं; वह उनको प्यार भी बहुत करती थीं। पर चौके-चूल्हे, नहाने-धोने के नियम-कायदों की बड़ी पाबन्द थीं। इधर सुर्जकुमार की समझ में ये नियम-कायदे आते न थे। खेल-कूद में रहते थे, पढ़ने-लिखने से अभी कोई वास्ता न था।

एक दिन शाम को सुर्जकुमार ने घर के पास हाजत रफा की। ठंड के दिन थे, सोचा कौन ताल में सौंचने जाए। कुछ पत्तों से जगह पोंछकर घर पहुँच गए। उधर इनकी भाभी खिड़की के पास खड़ी यह सब तमाशा देख रही थी। इन्हें भूख लगी थी। सीधे रसोईघर में जाने ही वाले थे कि भाभी ने रास्ता रोक लिया और पंडित रामसहाय को सारा हाल बता दिया। रामसहाय उठे। सुर्जकुमार का हाथ पकड़कर उठा लिया। टाँगे हुए ताल तक ले गए। फिर पानी में डुबो-डुबोकर कहने लगे—सौंचता जा, सौंचता जा। सुर्जकुमार ने जब सौंच लिया, तब रामसहाय ने दो-चार तमाचे और लगाए। बाह्मन का लड़का, सौंचे बिना चौके में जा रहा था। सुर्जकुमार को इस बारे में अब तक कोई स्पष्ट निर्देश न मिला था, इसलिए पिता ने जो दण्ड दिया, वह उन्हें अन्याय लगा।

सुर्जकुमार महल्ले के लड़कों के नेता हो गए। गोली खेलने में वह सबके उस्ताद थे। ज़्यादा समय खेल-कूद में बीतता था। पर अब वह घर में ककहरा और गिनती सीखने लगे। रामसहाय सोते समय गिनती सिखाते। जब गिनती आ गई तब पहाड़े सिखाने लगे। कभी वह भजन गाते, हनुमान चालीसा पढ़ते, या रामायण का पाठ करते। देवी-देवताओं की कहानियाँ वह सुर्जकुमार को सुनाते। सुर्जकुमार को कहानियाँ सुनने में बड़ा मज़ा आता था। कहानी सुनाने के लिए भाभी को तंग करते। कभी-कभी पिता की नकल करते हुए वह महावीर की पूजा भी करने बैठ जाते। रामसहाय ने सोचा—अब लड़के का जनेऊ कर देना चाहिए। उसके बाद इसे स्कूल में भर्ती कराएँगे।

सुर्जकुमार पिता के साथ गढ़ाकोला आए। अब वह आठ साल के हो गए थे। लोगों से सुनते कि जनेऊ हो जाने के बाद लड़के हर किसी के हाथ का छुआ खा-पी नहीं सकते।

सुर्जकुमार सोचते, आखिर जनेऊ पहनने से ऐसा क्या हो जाएगा कि मैं दूसरे का छुआ खा न सकूँगा। पतुरिया के लड़कों से दोस्ती थी। उनके यहाँ आना-जाना बन्द करना पड़ेगा। अब ताल्लुकदार भगवानदीन दुबे नहीं थे। समाज में इस परिवार का मान घट गया था। जब ताल्लुकदार ने बड़े लड़के शमशेर बहादुर का जनेऊ किया था, तब ब्रह्मभोज में सब बाह्मन शामिल हुए थे। पर अब इन्हीं लोगों ने उनके यहाँ खाना-पीना बन्द कर दिया था। पतुरिया के छोटे लड़के फतहबहादुर ने सुर्जकुमार से कहा, "अभी तुम हमारे यहाँ का खाते हो, जब जनेऊ हो जाएगा, न खाओगे।" उन्हें यह भी याद दिलाया कि उनके ताल्लुकदार पिता ने सुर्जकुमार के बड़े चाचा को ज़मीन माफी दी थी। फतहबहादुर की बहन परागा ने कहा, "बंदलू सुकुल के यहाँ महुए की लप्सी खाओगे, हमारे यहाँ हलुआ नहीं।" सुर्जकुमार ने तय किया कि जनेऊ के बाद भी इनके यहाँ खाएँ-पिएँगे, देखें कोई क्या कर लेता है।

भैया चार आए। यज्ञोपवीत संस्कार पूरा हुआ। प्रथा के अनुसार सुर्जकुमार ने हठ किया कि विद्या पढ़ने काशी जाएँगे; माँ की जगह काकी ने मनाते हुए कहा, बेटा मान जाओ, घर छोड़कर मत जाओ। पंडितजी ने मंत्र पढ़े। सुर्जकुमार ने जनेऊ पहना; अब वह बाकायदा द्विज हुए। पिता ने सावधान किया, "अब आज से, खबरदार, पतुरिया के घर का कुछ खाना-पीना मत।" सुर्जकुमार को याद आया कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पतुरिया मुसलमान है, उसके लड़के अपने को पंडित समझते हैं, इसलिए माँ होने पर भी उसे भोजन दूर से देते हैं। पिता से बोले, "पतुरिया का छुआ तो उसके लड़के भी नहीं खाते-पीते।" रामसहाय ने कहा, "उनके हाथ का भी मत खाना।" पर सुर्जकुमार ने हुज्जत की, "जब ताल्लुकदार थे, तब आप लोग उनका छुआ खाते थे?" इस पर रामसहाय ने डाँटकर कहा, "हम जैसा कहते हैं कर।"

एक दिन पतुरिया-पुत्र फतहबहादुर कुएँ पर नहा रहे थे कि उधर सुर्जकुमार निकले। इन्हें देखकर फतहबहादुर व्यंग्य से मुस्कराए। मतलब यह कि अब तुम्हारी हिम्मत नहीं कि हमारे यहाँ खाओ-पियो। सुर्जकुमार ने मतलब समझकर कहा, "भैया, पानी पिला दीजिए।" फतहबहादुर ने प्रसन्न होकर पानी पिलाया, गाँव के जो ब्राह्मण उन्हें अपमानित करते थे, उनसे उन्होंने इस तरह बदला लिया। ब्राह्मणों को मालूम हुआ। उन्होंने जाकर रामसहाय से शिकायत की—"आपका लड़का सबके सामने पतुरिया के छोटे लड़के का भरा पानी उन्हीं के लोटे से पी रहा था। अभी नादान है, इसलिए इस दफ़ा माफ किए देते हैं; फिर अगर हरकत करते देखा गया, तो हमें लाचार होकर आपसे व्यवहार तोड़ना होगा।" शिकायत सुनकर रामसहाय तेवारी को बड़ा क्रोध आया, सुर्जकुमार की अच्छी तरह मरम्मत कर डाली। पर इससे पतुरिया-परिवार से सुर्जकुमार का स्नेह-सम्बन्ध टूटा नहीं। कुछ दिन बाद उन्होंने फिर वैसी ही हरकत की। और यह चोरी-छिपे नहीं वरन् खुलकर, जिससे दम्भी विप्रवर्ग को सब-कुछ मालूम हो जाए। गाँव के मुखिया ने रामसहाय से कहा, क्या तुम दूसरों का धर्म लेना चाहते हो? आज तुम्हारा लड़का पतुरिया के लड़के से ले-लेकर भुने चने चबा रहा था। आज से गाँव के ब्राह्मणों में तुम्हारा व्यवहार बन्द है।"

रामसहाय तेवारी के स्वभाव में क्रोध और स्वाभिमान की मात्रा बराबर थी। इसके सिवा वह सुर्जकुमार को प्यार भी करते थे; क्रोध में आकर जब-तब हाथ छोड़ बैठते थे पर यह आवेश क्षणिक होता था। जाति-बिरादरी की मर्यादा के लिए वह अपने प्यारे पुत्र की फिर ठुकाई करें, यह असम्भव था। इस बार उनका सारा क्रोध मुखिया पर बरस पड़ा। उन्होंने डाँटकर कहा, "तू हमारा पानी बन्द करेगा? तू पासी का है, गाँव में जा और पूछ, तेरी लड़की पटने में एक-दो-तीन-चार, एक-दो-तीन-चार कर रही है—हम अपनी आँखों देख आए हैं। माना कि चौधरी भगवानदीन का काम बेजा था, लेकिन उनके सामने कहते। नहीं, जब तक वह जिए इन्हीं लड़कों की धो-धोकर पीते रहे, अब सब छंगे के बने फिरते हो? शहर में होते तो देखते हम, कितने आदमियों का बम्बे का पानी और डॉक्टर की दवा छुड़ाते हो। यहाँ क्या नाम के करने को कौन-सा काम और गाने को छीता-हरन।"

मुखिया से कुछ जवाब देते न बना। अपना-सा मुँह लेकर चले गए। रामसहाय ने बेटे का पक्ष ही नहीं लिया, मुखिया के विरुद्ध उसीका दिया हुआ तर्क भी इस्तेमाल किया, सुर्जकुमार ने ही उनसे पूछा था, "जब ताल्लुकेदार थे, तब आप लोग उनका छुआ खाते थे?" रामसहाय ने पुत्र को डाँट दिया था, पर मन में उसकी तर्क-बुद्धि के कायल थे।

जनेऊ के बाद सब लोग महिषादल आए। रामसहाय ने अब सुर्जकुमार की पढ़ाई की ओर ध्यान दिया। महिषादल में हाई स्कूल था ही। उन्होंने सुर्जकुमार को उसी में भर्ती कराने का विचार किया। १३ सितम्बर १९०७ को महिषादल स्कूल की कक्षा ८ सेक्शन बी में सुर्जकुमार का नाम लिखा दिया गया। पिता और गार्जियन—रामसहाय तेवारी; निवास स्थान—गढ़ाकोला, उनाव; पेशा—नौकरी; 'रिमार्क्स' के खाने में हेडमास्टर जे० एन० कुञ्जीलाल ने लिखा—'ऐडमीशन फ्री।' राजकर्मचारी का लड़का था, भर्ती होने की फीस नहीं ली गई। उम्र दो साल बढ़ाकर लिखाई गई—दस साल, आठ महीने। सुर्जकुमार की क्लास के दूसरे लड़के ज्योतीषचन्द्र, विभूति भूषण आदि चौदहवें, पन्द्रहवें साल में थे; सुर्जकुमार का अभी नवाँ ही चल रहा था कद में लम्बे होने पर भी वह अपनी कक्षा में सबसे कम उम्र वाले लड़कों में थे। अब तक घर पर कोई नियमित पढ़ाई भी न हुई थी, इसलिए दर्जे में उनका कमज़ोर रहना अनिवार्य था।

इस वर्ष एक महत्त्वपूर्ण घटना और हुई। बंगाल के लाट सर फ्रांसिस ड्यूक महिषादल पधारे। महिषादल के राजा के साथ उन्होंने फोटो खिंचाया। बीच में ऊँची कुर्सी पर लाट साहब बैठे। कुर्सी इतनी ऊँची थी कि लाट साहब के पाँव मुश्किल से ज़मीन तक पहुँचते थे। उनके दाएँ नीची कुर्सी पर राजा सती प्रसाद गर्ग बहादुर बैठे, बाएँ वैसी ही दो नीची कुर्सियों पर राजपरिवार के दो अन्य सदस्य। पीछे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक चपरासी, शेष सिपाही हाथ में तलवारें खींचे खड़े हुए। इस लाइन में गवर्नर की बाईं ओर एकदम सिर पर रामसहाय तेवारी खड़े हुए। लाइन में खड़े हुए लोगों में वह सबसे लम्बे थे। सिर पर कामदार गोल टोपी, गले में सोने का कंठा, भव्य दाढ़ी-मूँछें, लम्बी नाक, बड़ी आँखें, बिर्जिस पर फौजी कोट, आँखों में थकन, हाथ में नंगी तलवार, बढ़ते हुए पेट को पेटी से कसे हुए—गढ़ाकोला-निवासी पं० रामसहाय तेवारी, महिषादल राज में सिपाहियों के जमादार ने लाट साहब के साथ फोटो खिंचाई।

आठवें दर्जे के छात्र सुर्जकुमार तेवारी बंगाली लड़कों में बँगला बोलते हुए राजा, अंग्रेज़, जमादार—इन शब्दों का अर्थ समझने लगे। गढ़ाकोला से महिषादल कितना भिन्न है। कहाँ वह छोटी-सी लोन नदी, कहाँ यह विशाल नद रूपनारायण! हर तरफ़ पानी-ही-पानी दिखाई देता है, नदियाँ, नाले, तालों की तो गिनती नहीं। उपजाऊ धरती, हर तरफ वृक्ष, लताएँ, घास, फूल और काँटे, सब बेसँभाल बढ़ते-फैलते हुए; क्षितिज तक फैले हुए सुनहले धान के खेत, बीच में खेतों को चीरती हुई सड़क, आस-पास और क्षितिज पर गहरे हर रंग के वृक्षों की पाँति। दृश्य सुन्दर किन्तु मलेरिया का प्रकोप, सारा क्षेत्र विषैले साँपों से भरा हुआ।

राजमहल के चारों ओर प्रशस्त उद्यानभूमि, हरी दूब वाले बड़े-बड़े पार्क, पानी से भरी हुई परिखा में कमल, बड़े-बड़े लाल गुलाबों से भरा हुआ पूरा एक मैदान, बेला, जुही, हरसिंगार, बकुल, चम्पा के ऋतु-अनुसार फूल, आम, जामुन, लीची, फालसे, अनार, कटहल के वृक्ष, जगह-जगह बाँसों के झाड़, नारियल के पेड़ हर तरफ़। सुर्जकुमार ने पिता के साथ उन कमरों की झलक भी देखी जिनमें जरी के काम वाले वस्त्र, जवाहरात, सोने के आभूषण, कीमती बर्तन रखे जाते थे। बड़े-बड़े सन्दूकों में राजकोष कहाँ रखा रहता है, इसका आभास भी उन्हें था। महल के हर निवास पर पहरा रहता है, यह भी उन्हें मालूम था। चौधरी भगवानदीन दुबे गढ़ाकोला में ताल्लुकेदार कहलाते थे; महिषादल में उनकी हैसियत एक मामूली नौकर से ज़्यादा न होती। महिषादल राज्य लगभग चार सौ वर्गमील का क्षेत्र घेरे हुए था, सालाना आमदनी बारह लाख थी। तीन लाख छत्तीस हज़ार तो सरकारी मालगुज़ारी देनी होती थी।

एक दिन सुर्जकुमार ने पिता से कहा, "तुम्हारे मातहत इतने सिपाही हैं, तुम इस राजा को लूट क्यों नहीं लेते?" रामसहाय को शक हुआ कि उनके बेटे को किसी दुश्मन ने बरगलाया है। उन्होंने पूछा, किसने सिखाया है? सुर्जकुमार ने जितना ही इन्कार किया, उतना ही उनका शक पक्का होता गया। उन्होंने लड़के को बहुत मारा, इतना मारा कि सुर्जकुमार बेहोश हो गए।

रामसहाय तेवारी वफादर सिपाही थे। जिसका नमक खाया था, उसके बारे में इस तरह की बात सुन भी न सकते थे। आखिर राजा अवध के इन सिपाहियों को नौकर क्यों रखते हैं? इसलिए कि राजा का नमक खाकर बंगाली प्रजा के विरुद्ध वह राजा का हुक्म बजा लाने में ज़रा भी आगा-पीछा न करते थे।

राजा ईश्वरप्रसाद ने रामसहाय को अपने यहाँ नौकर रखा था, उनके पुत्र सतीप्रसाद पर रामसहाय की सहज ममता थी। अब वह साठ के नज़दीक पहुँच रहे थे। इस उम्र में राजा के खिलाफ़ बग़ावत? पुत्र पर क्रोध करना स्वाभाविक था। फिर राजा क्षत्रिय न होकर ब्राह्मण थे। अलबत्ता कान्यकुब्ज न थे, सरयूपारीण ही थे पर थे तो ब्राह्मण। पछाँह से उनका सम्बन्ध था। घर के लोग साफ़ हिन्दी बोलते थे। हर दृष्टि से सुर्जकुमार का सुझाव उन्हें किसी शत्रु का रचा हुआ षड्यंत्र ही लगा।

सुर्जकुमार को राह पर लाने के लिए उन्होंने एक काम और किया। अपने गुरुजी के पास ले जाकर उन्हें गुरुमन्त्र दिला लाए, सुर्जकुमार और अपने भतीजे बदलूप्रसाद का भविष्य सुखी बनाने के लिए उन्होंने गढ़ाकोला वाला घर नये सिरे से बनवाया। नया घर भी कच्चा था पर काफ़ी बड़ा था और परिवार के रहने लायक था।

सुर्जकुमार के दिन मजे में कट रहे थे। स्कूल में भर्ती होने से उनके खेलकूद के प्रोग्राम में कोई तब्दीली नहीं हुई थी। महल्ले में लड़कियाँ हैं, उन्हें देखना अच्छा लगता है, सुर्जकुमार यह समझने लगे थे। कोर्स की किताबें अच्छी न लगती थीं पर इन्द्रजाल की पोथी पढ़कर मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण के बारे में वह बहुत-कुछ जान गए थे। एक दिन इन्द्रजाल की पोथी के अनुसार उन्होंने मंत्र सिद्ध करने का विचार किया। रात के नौ बजे होंगे। वह भाभी की कोठरी में थे कि छछूंदर दिखाई दी। उन्होंने उठकर तुरत किवाड़ बन्द किए, फिर धोती उतारकर फेंक दी; हाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जूता लेकर छछूंदर के पीछे दौड़ने लगे। उल्टे जूते से छछूंदर मारनी थी। बड़ी मुश्किल से मार पाए। फिर हाँडी में भरकर उसे बाहर गाड़ आए। लौटकर धोती पहनी।

स्त्रियों में चर्चा होने लगी कि सुर्जकुमार को मंत्र सिद्ध है, उनकी झाड़-फूंक से रोगी अच्छे हो जाते हैं। पड़ोस में सुकुलाइन नाम की युवती को यह सब ढोंग मालूम हुआ। उन्होंने अपनी शंका सुर्जकुमार की भाभी के सामने प्रकट की। भाभी ने सुर्जकुमार को ललकारा—"लोग कहते हैं, तुझे जंत्र-मंत्र कुछ नहीं आता, तू ढोंग करता है।" सुर्जकुमार ने सिद्ध पुरुष की तरह आत्मविश्वास से जवाब दिया, "जिसको विश्वास न हो, आजमा ले।" भाभी ने कहा कि सुकुलाइन को अपनी करामात दिखाओ। सुर्जकुमार एक कनेर का फूल तोड़ लाए और बोले—"मैं मन्त्र पढ़कर यह दूंगा। इसे लेना होगा। बस, इसके बाद मैं सिद्ध हूँ या नहीं, देख लेना।" भाभी फूल लेने से डरीं; सुकुलाइन से कहा, फूल ले लो। वह बोलीं, "फूल लेने से क्या होगा?" सुर्जकुमार ने जवाब दिया, "मन्त्र के जोर से हमेशा मेरे पीछे लगे रहना होगा। मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, पीछे-पीछे जाना होगा।" सुकुलाइन की हिम्मत पस्त हो गई। भाभी से बोलीं, "भई, मैं बहिन हूँ, मैं कैसे फूल ले लूं? तुम भाभी हो, तुमको उतना दोष नहीं।" इस तरह कनेर का फूल दिखाने से ही सुर्जकुमार इस मारन-उच्चाटन युद्ध में विजयी हुए।

रामसहाय तक ये बातें पहुँची हों चाहे नहीं, कुलरीति के अनुसार पुत्र का ब्याह कर देना ज़रूरी था। अभी उम्र बारह के आस-पास थी, ब्याह की कोई जल्दी न थी, पर गाँवों में लड़कों का ब्याह इस उम्र तक कर दिया जाता था। डलमऊ में रामदयाल द्विवेदी के यहाँ बात पक्की हुई। लड़की की उम्र करीब ग्यारह साल।

रामसहाय गाँव आए और सुर्जकुमार के ब्याह की तैयारी शुरू हो गई। सात सुहागिनों ने एक साथ मूसल पकड़कर धान कूटे, एक साथ दरेती का खूँटा पकड़कर उड़द दले। उड़द की दाल भिगोई गई। रामसहाय को बूढ़ी भौजाई के साथ चौक पर बिठाया गया। दोनों की गाँठ जोड़ी गई और दोनों ने दाल पीसने की रसम पूरी की। फिर उड़द की धोई के बड़े तले गये। गेरू से दरवाज़े पर भाँई बनाई गईं; उन्हें बरा-भात खिलाया गया। हर रोज़ ढोलक बजती, गीत होते। नाइन सुर्जकुमार के उबटन लगाती। आखिर निकासी का दिन आया। सुर्जकुमार को हाथ-पैरों में कड़े पहनाये गए, गले में कंठा, पीली धोती, पीला जामा, पीली पगड़ी पहनाई गई। सिर पर मौर रखा गया। झैंयम-झैंयम करते बरात गढ़ाकोला से रवाना हुई।

डलमऊ पहुँचने पर बरातियों को मिर्चवान पिलाई गई; फिर नाश्ते के लिए पूड़ियाँ आईं। बरातियों ने हाथ-मुंह धोया, नाश्ता किया, कपड़े बदले। अगवानी हुई। हँसी-मज़ाक करते लोग फिर जनवासे लौट आए। कुछ देर बाद भाँवरों के लिए बुलावा आया। मंडप के नीचे पंडित ने मंत्र पढ़े; सुर्जकुमार और मनोहरादेवी की गाँठ जोड़ी गई। दोनों ने भाँवरें घूमीं। फिर देवताओं के सामने वर-वधू ने एक-दूसरे को दही-बताशे खिलाए। मनोहरादेवी घूँघट मारे थीं; सुर्जकुमार उनका मुँह देखने में असफल रहे। दूसरे दिन भात के समय सुर्जकुमार ने स्त्रियों को गालियाँ गाते सुना। शाम को छोटी बढ़ार और तीसरे दिन बड़ी बढ़ार के समय भी यही सिलसिला जारी रहा। ब्याह हो गया पर बहू अपने मायके ही रही। सुर्जकुमार पिता और बरातियों के साथ गढ़ाकोला वापस आए। वहाँ कुछ दिन रहने के बाद सब लोग फिर महिषादल आ गए।

सुर्जकुमार महिषादल में फिर पहले जैसा जीवन बिताने लगे। खेल-कूद में ज़्यादा समय पहले ही जाता था, अब पढ़ने में मन और भी कम लगता। अब वह फुटबाल के अच्छे खिलाड़ी हो गए। तैरने में भी कुशल थे। नाटक देखने में उन्हें विशेष आनन्द आता था। महल के पास ही नाट्यशाला थी जहाँ राजा सतीप्रसाद जब-तब नाटक कराते थे। बँगला नाटक 'तरुबाला' में सुर्जकुमार ने एक 'हिन्दुस्तानी' का पार्ट किया। कुछ दिन बाद वहाँ स्टार थियेटर आया। उसके रंगमंच की चमक-दमक, अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के ठाठ-बाट देखकर सुर्जकुमार को लगा—सबसे बढ़िया जीवन इन्हीं का है।

नाटक, खेल-कूद के साथ सुर्जकुमार ने अपने शरीर को सुदृढ और सुन्दर बनाने की ओर ध्यान दिया। महिषादल का वातावरण ही ऐसा था। हर सिपाही थोड़ी-बहुत डंड-बैठक करता था। दूसरे राजा-रईसों की तरह महाराज सतीप्रसाद गर्ग के यहाँ भी अच्छे-अच्छे पहलवान थे। स्वयं महाराज सतीप्रसाद अपने पराक्रम के लिए प्रसिद्ध थे।

एक बार कलकत्ते में कोई सरकस आया। उसमें एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहलवान ने घुटने से लोहे की मोटी छड़ दबाकर मोड़ दी। फिर उसने चुनौती दी, जो कोई ऐसी ही छड़ मोड़ देगा, उसे एक हज़ार रुपया इनाम मिलेगा। राजा सतीप्रसाद के साथ उनके मित्र बंगाल के प्रसिद्ध डॉक्टर और राजनीतिज्ञ विधानचन्द्र राय सरकस देख रहे थे। उन्होंने खड़े होकर अपनी ओर से ऐलान कर दिया, राजा सतीप्रसाद गर्ग छड़ मोड़ेंगे। बंगाल के सम्मान का प्रश्न था। लोगों ने ज़ोरों से तालियाँ बजाईं। राजा उठे और पहली से भी ज्यादा मोटी छड़ लेकर घुटना लगाये बिना ही दोनों हाथों से मोड़कर उन्होंने बँगला के चार का अंक बना दिया। फिर उन्होंने कहा, जो इसे सीधा कर देगा, उसे दो हज़ार रुपये इनाम मिलेंगे। किसी ने वह चुनौती स्वीकार न की।

सुर्जकुमार कसरत करते, बादाम छानते, रामायण पढ़ते और मित्रों से गप लड़ाते। राजमहल के सामने जो बड़ी नहर थी, उससे कलकत्ते आने-जाने वाले स्टीमर देखते, किश्तियों में लोग माल ढोकर लाते, छोटा-सा बाज़ार जैसा उन्होंने अपने गाँव से कुछ दूर पुरवा में देखा था, स्कूल के पास ताल के किनारे बैठकर मित्रों से सुनते, कैसे इसी मिदनापुर ज़िले में प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र सरकारी अफसर थे और यहाँ अपने एक-दो उपन्यास भी उन्होंने लिखे थे। बंगाली जाति महान् है, बँगला भाषा के समान भारत की कोई भाषा नहीं है, रवीन्द्रनाथ संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, सुर्जकुमार बंगाली नहीं 'हिन्दुस्तानी' हैं, यह सब ज्ञान एंट्रेंस परीक्षा देने से पहले ही मित्रों ने उन्हें करा दिया। सुर्जकुमार बँगला की अपेक्षा हिन्दी ही ज़्यादा जानते थे। उनका मन भक्ति-साहित्य और श्रृंगार रस की कविता, दोनों में ही रमता था। उन्होंने ब्रजभाषा की काफ़ी कविता पढ़ डाली थी। पद्माकर उनके प्रिय कवि थे। उनकी सानुप्रास शब्दावली, श्रृंगार वर्णन में भी ओजगुण का पुट सुर्जकुमार को विशेष पसन्द था। पद्माकर के श्रृंगार वर्णन की चित्रमयता उनका मन मोह लेती थी। स्मरण-शक्ति अच्छी थी, दो-तीन बार पढ़ने पर छंद कंठस्थ हो जाते थे। संस्कृत काव्य भी अच्छा लगता था, विशेषकर जहाँ शब्द-योजना सुन्दर हो और श्रृंगार के चित्र खींचे गये हों। सुन्दर कवि ने राजा की लड़की विद्या से प्रेम किया, राजा ने उसे प्राणदंड दिया, जब प्रहरी उसे सूली देने ले जा रहे थे तब वह अपने और विद्या के प्रेम-सम्बन्ध पर छन्द पढ़ता हुआ राज-प्रासाद के सामने से निकला। उनमें एक छन्द यह था :

अद्यापि तां कनकचम्पक दाम गौरीम्
फुल्लारविन्दनयनां तनुरोम राजिम्।
सुप्तोत्थितां मदन विह्वलिता लसांगीम्
विद्यां प्रमाद गलितामिव चिन्तयामि।

राजा ने छन्दों पर मुग्ध होकर प्राणदण्ड की आज्ञा रद्द कर दी। सुर्जकुमार को विद्या सुन्दर की कहानी बहुत पसन्द आई। 'चौर पंचाशिका' का उपर्युक्त छन्द वह ख़ूब रस लेकर गुनगुनाते रहते।

ब्याह हुए दो वर्ष बीत गए थे। सोलह के नज़दीक पहुँच रहे थे। लोग कहते थे, कंठ फूट आया, मसें भीगने लगीं; बगलें निकल आईं, अब गौना कर देना चाहिए। सुर्जकुमार अपनी रानें देखते, बोतल जैसी ढली हुई लगतीं। कमर बालिश्त भर, सीना ख़ूब चौड़ा, सिर पर घने काले बाल, गोरा रंग, मदभरी आँखें, सुर्जकुमार अपनी ही छवि पर मुग्ध हो जाते। साथ ही कनकचम्पक दाम गौरी विद्या का चित्र भी आँखों के सामने घूम जाता। रामसहाय तेवारी ने तै किया कि लड़के का गौना कर देना चाहिए और बहू को महिषादल ले आना चाहिए।

पुत्र को लेकर रामसहाय गढ़ाकोला पहुँचे, वहाँ से गौना लेने डलमऊ गए। सुर्जकुमार की ससुराल में इस बात की बड़ी चर्चा थी कि गौने के बाद बिटिया परदेश—बड़ी दूर बंगाल—चली जाएगी। वर-वधू की गाँठ जोड़कर उनसे जब पूजा कराई जा रही थी, तब घर की एक वृद्धा ने कहा, "दामाद जवान, बिटिया जवान; परदेश ले जाते हैं तो ले जाने दो।" लोग उन्हें जवान समझते हैं, यह जानकर सुर्जकुमार को विशेष प्रसन्नता हुई। गौना हुआ। बहू को विदा कर रामसहाय गाँव आए। दुर्भाग्य से वहाँ उन दिनों प्लेग की बीमारी फैली हुई थी। लोग घरों से निकलकर बाग में झोंपड़े डालकर रहते थे। महुए के पेड़ के नीचे एक झोंपड़े में सुर्जकुमार का बिस्तर लगाया गया। जीवन में पहली बार उन्हें नारी-देह के स्पर्श का सुखद अनुभव हुआ। मनोहरा देवी कुल तेरह साल की थीं।

गौना लेकर आये अभी चार-पाँच दिन ही बीते थे कि सुर्जकुमार के ससुर अपनी बिटिया विदा कराने आ पहुँचे। गाँव में बीमारी फैली है, यह उन्हें मालूम था। बेटी को बहुत प्यार करते थे। डर था कि महामारी में उसे कुछ हो न जाए। लड़की के यहाँ लोग खाते नहीं हैं; रामदयाल दुबे ने गढ़ाकोला में पानी भी न पिया। विदा के लिए जल्दी की। रामसहाय को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत बुरा लगा। बंगाल से इतना रुपया खर्च करके आये हैं; लड़का पाँच दिन भी बहू के साथ न रह पाया। दुबे लड़की के स्वास्थ्य की चिन्ता के कारण इतनी जल्दी आये हैं, यह सोच-कर उन्हें और भी क्रोध आया। आखिर महामारी का डर उनके बेटे के लिए भी है। बिटिया के लिए बड़ा डर लगा, दामाद के बारे में कुछ न सोचा। क्रोधी स्वभाव के थे ही। बोले—ले जाओ अपनी बिटिया; हम लड़के का दूसरा ब्याह कर लेंगे। दुबेजी कुछ ऊँचा सुनते थे। समधी की पूरी बात समझे बिना बिटिया को विदा कराके चल दिये। पर बिटिया ने सारी बात सुनी और समझ ली थी।

जब सुर्जकुमार सोकर उठे तो उन्हें पता चला कि मनो-हरादेवी बहल में बैठी हुई, लोन नदी पार करके, बीघापुर स्टेशन पहुँचने वाली हैं।

मनोहरादेवी से उनकी माँ पार्वती देवी ने सब हाल सुना तो बहुत परेशान हुई। मेरी दो दाँत की लड़की, उसके सामने दूसरे ब्याह की बात! उन्होंने पंडित रामसहाय के नाम चिट्ठी भिजवाई, कसूर के लिए माफी माँगी, दामाद को गवहीं लेने के लिए निमंत्रित किया। गौना हो जाने के बाद गवहीं की रस्म होती है। वर ससुराल जाकर कुछ हफ्ते या महीने वहाँ रहता है। फिर बहू को विदा कराके अपने घर आता है।

रामसहाय को प्रस्ताव पसन्द आया। लड़के से ससुराल जाने को कहा। समधी से बदला लेने के लिए ताकीद कर दी, यहाँ से तिगुना खाना। सुर्जकुमार ससुराल जाने को तैयार बैठे थे। पिता की आज्ञा तुरत स्वीकार कर ली। कहा कि घी और बादाम की मात्रा तिगुनी कर देंगे। अफसोस इस बात पर किया कि वहाँ बेदाना मिलता नहीं, वर्ना शरबत में ही रोज़ तीन रुपये खर्च करा देते। रामसहाय ने सुझाया, रूह की मालिश कराना रोज़, होश दुरुस्त हो जायेंगे। बाप-बेटे घुल-घुलकर बतियाने लगे; रामदयाल दुबे को कैसे छकायें, इस बारे में दोनों ने षड्यंत्रकारियों की तरह योजना बनाई। इस समय उन्हें देखकर कोई यह न कहता कि इन्हीं राम-सहाय ने कभी बेटे की मरम्मत भी की होगी।

गवहीं की तैयारी हुई। बक्से में धराऊ कपड़ों के अलावा एक जोड़ी जूते भी रख लिये। बैसवाड़े की धूल में जूते बेआब हो जाते; ससुराल में पहनने लायक न रहते। डलमऊ कलकत्ता न था पर गढ़ाकोला को देखते तो कस्बा था। सुर्ज-कुमार को अपनी नागरिक सभ्यता से ससुराल वालों को प्रभावित करना था; वह बैसवाड़े के कोई ऐसे-वैसे देहाती हूश नहीं हैं, यह बताना था। बंगाली ढंग से कीमती शान्तिपुरी धोती बाँधी, उस पर कमीज़ पहनी, छाता लिया और स्टेशन के लिए रवाना हुए। गाड़ी शाम के चार बजे आती थी पर स्टेशन दूर था; इसलिए ढाई बजे घर से निकले। बैलगाड़ी का इन्तज़ाम न था, पैदल ही स्टेशन चले। चन्द्रिका लोध को खिदमतगार बनाकर पहले ही सामान के साथ स्टेशन भेज दिया था।

जेठ-बैसाख के दिन। लू ज़ोरों से चल रही थी। सुर्ज-कुमार ने सर-कान ढकने का कोई प्रबन्ध न किया। लू के थपेड़ों से मुँह लाल हो गया। रास्ते में कंकड़ों से ठोकर लगने पर जूता फट गया। कोंछदार धोती उड़ती हुई बेर के काँटों में उलझ गई। हवा के तेज़ झोंके से छाता उलट गया। हाथ, पैर, मुँह, बाल सब धूल से भर गये। मगड़ायर पार करके बीघापुर स्टेशन के सामने वाले ऊसर में पहुँचे थे कि टिकौली रावतपुर से आती हुई गाड़ी का अर्रहटा सुनाई दिया। घर वापस जाने का सवाल न था। जूते उतारकर हाथ में लिए, छाता बगल में दबाया और स्टेशन की तरफ दौड़ना शुरू किया। बीघापुर में इंजन पानी लेता है, गाड़ी से अलग होता है, फिर जुड़ता है। सुर्जकुमार को समय मिला। ऊसर की तरफ प्लेटफार्म नहीं था। चन्द्रिका इस पार आकर मुँह बाये सुर्जकुमार की राह देख रहा था। धूल-पसीने में लथपथ जब यह गाड़ी तक पहुँच गये, तब उसे तसल्ली हुई। टिकट कटा लिये थे। सुर्जकुमार पहली बार पिता के बिना ससुराल के लिए रवाना हुए।

सूरज डूबते डलमऊ स्टेशन आया। चन्द्रिका से सामान उठवाकर चले तो गेट पर टिकट-कलेक्टर के पास एक नौजवान ने पूछा, कहाँ जाइएगा? शेरंदाजपुर का नाम सुनकर उसने कहा, आइये, हमारा इक्का है। किनके यहाँ जाना है, यह भी उसने मालूम कर लिया। सुर्जकुमार ने देखा, चिकनाई ज़ुल्फों पर दुपलिया टोपी लगाये, मूँछ ऐंठे, चिकन के कुर्ते पर वास्कट पहने, हाथ में बेंत लिए गाँव का छैल जैसा लगता है। उन्होंने यह भी नोट किया कि वह भी काली मखमली किनारे की कलकतिया धोती पहने है। पैरों में मेरठी जूते हैं। इस व्यक्ति का नाम पथवारी दिन भट्ट उर्फ कुल्ली भाट था।

सुर्जकुमार किसके इक्के पर बैठ कर आये हैं, यह समाचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके ससुराल पहुँचने के साथ-साथ सास को मिल गया। गलीचा बिछे पलँग पर बैठे ही थे कि उन्होंने पूछा, क्यों भइया, तुम कुल्ली के एक्के पर आये हो? उन्हीं के इक्के पर आये हैं, बात पक्की होने पर सास ने लम्बी साँस ली। सुर्जकुमार के लम्बे लहराते बाल और कोंछदार धोती देखकर बैसवाड़े के लोग यही कहते—ज़नाना है। वही भाव सास का था। शरबत-पानी के बाद उन्होंने रामसहाय की तीखी आलोचना की; अगर उन्होंने सुर्जकुमार का दूसरा ब्याह कर दिया तो इससे पिता-पुत्र की जो दुर्गति होगी—इस जन्म में और उसके बाद—उसका सजीव चित्र खींच दिया। साथ ही उन्होंने अपनी पुत्री के रूप-गुण की प्रशंसा भी काफी की। दामाद को पटाते हुए उन्होंने कहा—मैंने तुम्हारा ही मुँह देखकर ब्याह किया है, तुम्हारे पिता की तोंद देखकर नहीं।

सुर्जकुमार आज्ञाकारी दामाद की तरह सब-कुछ सुनते रहे। पिता का पक्ष लेकर उन्होंने लड़ाई करना उचित न समझा। पिता ने दूसरे ब्याह की धमकी देकर ठीक किया है, ऐसा दृढ विश्वास भी उन्हें नहीं था। रात में पत्नी के आने पर दिये के प्रकाश में पहली बार उन्होंने मनोहरादेवी की छवि देखी। पर माँ की तरह बेटी ने भी सवाल किया, "तुम कुल्ली के एक्के पर आये हो?"

सवेरा होते ही कुल्ली आकर सुर्जकुमार को पूछ गये। अभी वह सो रहे थे। सास ने बताया और दामाद को चेतावनी दी, उनके साथ रहने पर तुम्हारी बदनामी हो सकती है। इससे मिलो, उससे न मिलो—यह सब सुर्जकुमार को अच्छा न लगता था। गढ़ाकोला में बाप कहते थे, पतुरिया के लड़कों से न मिला करो; यहाँ सास कहती हैं, कुल्ली से न मिलो। पर ऐसे लोगों से मिलने में ही उन्हें विशेष आनन्द आता था। कुल्ली आये; डलमऊ के इतिहास के बारे में बातें कीं। शाम को गंगा का घाट, पुराना किला वगैरह दिखाने को कहा। सास ने मना किया पर इन्होंने जाने की ज़िद की। सास ने चन्द्रिका को साथ भेज दिया।

कुल्ली ने इशारा किया कि चन्द्रिका को विदा कर देना चाहिए। सुर्जकुमार ने उसे रूह खरीदने भेज दिया। किले में एक स्थान उन्हें विशेष पसन्द आया। काफी ऊँचाई पर बारहदरी बनी थी और नीचे गंगा बहती थी। नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई थीं जिनमें कुछ अब भी बची हुई थीं। कुल्ली ने सुर्जकुमार से गाने को कहा। गले की तारीफ की। "पान भी क्या खूबसूरत बनाता है तुम्हें! तुम्हारे होंठ भी गजब के हैं। पान की बारीक लकीर, क्या कहूँ, शमशीर बन जाती है।" कुल्ली के प्रशंसा-वाक्य सुनकर सुर्जकुमार प्रसन्नमन घर लौटे। रास्ते में चन्द्रिका को समझा दिया, तुम्हारी नानी पूछें तो कहना, हम साथ थे।

सास को यह पता लगाते देर न हुई कि सुर्जकुमार किला देखने गए तब चन्द्रिका साथ न था। उन्होंने डण्डा उठाकर चन्द्रिका से कहा, "देख, दहिजार लोध! भले आदमी की तरह ठीक-ठीक बता, नहीं तो वह डण्डा दिया कि मुँह टेढ़ा हो गया।"

चन्द्रिका अपने मालिक सुर्जकुमार को पकड़कर रोने लगा। बोला—"बाबा, मैं न रहूँगा।" पूछने पर मालूम हुआ कि चन्द्रिका को रूह लेने के बहाने अलग करने का राज़ सास को मालूम हो चुका है। सुर्जकुमार ने तै किया, दबना नहीं है। चन्द्रिका से रूह की मालिश करने को कहा। चन्द्रिका जब सुर्जकुमार के सीने पर रूह मल रहा था, तभी ससुर रामदयाल दुबे खुशबू के सहारे आ पहुँचे और बोले, "अरघानें उठ रही हैं बच्चा! इतना अतरफुलेल न लगाया करो।" सास ने आकर पूछा, रूह की मालिश से क्या होता है? दामाद ने जवाब दिया, सीना तगड़ा होता है। इस पर उन्होंने बड़ा टेढ़ा सवाल किया, "तुम्हारे पिताजी तनखाह कितनी पाते हैं?" तनखाह इतनी कम थी कि सुर्जकुमार सही बात कहने में शरमाये। कूटनीति का सहारा लेकर बोले, "पिताजी की आमदनी की कितनी सूरतें हैं क्या कहूँ। उनकी आमदनी कब कितनी हो जाएगी, कहाँ से, कैसे, किससे, यह वही नहीं बता सकते।" इस पर सास रोने लगीं। रामसहाय रूह से बेटे की मालिश करायें पर उनकी बेटी के लिए चढ़ावा ऐसा मामूली लाए! ऐसे घर में बेटी ब्याहने पर खुद ही पछताने लगीं— "अरे राम रे! मुझे क्या हो गया, जो मैंने शादी की!"

रात को पत्नी ने विरोध किया। इत्रफुलेल लगाना किसान-परिवारों में अच्छा न समझा जाता था। मनोहरा-देवी ने कहा, इत्र की इतनी तेज़ खुशबू है कि शायद आज आँख न लगेगी। सुर्जकुमार ने चुटकुला सुनाया। एक मछु-आइन को नदी से लौटते देर हो गई; रास्ते में राजा की फुलवारी पड़ती थी, उसी में सो रही, पर फूलों की महक से नींद न आई। मछली वाली टोकरी सिरहाने रखी, तब नींद आई। पत्नी ने बिगड़कर कहा, तो मैं मछुआइन हूँ? मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मछली-कलिया खाती हूँ ? सुर्जकुमार ने जवाब दिया, "अपने बाल सूँघो। तेल की ऐसी चीकट और बदबू है कि कभी-कभी मालूम देता है कि तुम्हारे मुँह पर क़ै कर दूँ।" मनोहरा देवी ने और तेज़ होकर कहा, "तो क्या मैं रण्डी हूँ जो हर वक्त बनाव-सिंगार के पीछे पड़ी रहूँ ?" और वह उठकर चल दीं।

सुर्जकुमार ने गाँव में पतुरिया का शृंगार देखा था। यद्यपि वह उम्र में बहुत बड़ी थी और उसके लड़के भी सुर्जकुमार से बड़े थे, फिर भी थी तो वह पतुरिया। वह गाँव की स्त्रियों से अलग निखर-सँवर कर रहती थी। उसके अलावा महिषादल में गायिकाओं, सुन्दर स्त्रियों की कमी न थी; उनकी प्रसाधन-कला को गँवई-गाँव की स्त्रियाँ कहाँ पातीं ? मनोहरादेवी ने अपने पति की रुचि भाँपकर ही मानो कहा था, तो क्या मैं रण्डी हूँ जो बनाव-सिंगार के पीछे पड़ी रहूँ ?

सुर्जकुमार को लग रहा था, पत्नी उनके अधिकार में पूरी तरह नहीं आ रही। एक दिन उनका गाना सुना, लोगों को उनके गाने की प्रशंसा करते सुना। जिसे देखो वही मनोहरादेवी की चर्चा कर रहा था, मानो सुर्जकुमार उस घर में हो हों नहीं। मनोहरादेवी ने भजन गाया—

श्री रामचन्द्र कृपालु भजुमन हरण भवभय दारुणम्।

तुलसीदास की शब्द-योजना इतनी सुन्दर है, सुर्जकुमार के ध्यान में यह बात पहले न आई थी। जब मनोहरादेवी ने गाया—

कन्दर्प अगणित अमित छवि नवनीलनीरज सुन्दरम् !

तब सुर्जकुमार को लगा, गले में मृदंग बज रहा है।

मनोहरादेवी के कंठ से तुलसीदास का यह छन्द सुनकर सुर्जकुमार के न जाने कौनसे सोते संस्कार जाग उठे। साहित्य इतना सुन्दर है, संगीत इतना आकर्षक है, उनकी आँखों ने जैसे नया संसार देखा, कानों ने ऐसा संगीत सुना जो मानो इस पृथ्वी पर दूर किसी लोक से आता हो। अपनी इस विलक्षण अनुभूति पर वह स्वयं चकित रह गए। अपने सौन्दर्य पर जो अभिमान था, वह चूर-चूर हो गया। ऐसा ही कुछ गायें, ऐसा कुछ रचकर दिखायें, तब जीवन सार्थक हो। पर यहाँ विधिवत् न साहित्य की शिक्षा मिली, न संगीत की। अब तक एंट्रेन्स पास कर लेना चाहिए था पर आठवें से दसवें तक पहुँचने में छह साल लग गए।

सुर्जकुमार को पढ़ाई का ध्यान आया। विदा कराके गाँव आए, गाँव से महिषादल। स्कूल जाने का क्रम फिर शुरू हुआ। अब तक यदि वह एन्ट्रेन्स परीक्षा पास न कर पाए थे, तो इसमें ज्यादा दोष उनका था भी नहीं। कम उम्र में बिना पूरी तैयारी के उन्हें जो आठवें दर्जे में भर्ती कराया गया था, उससे नींव बराबर कमज़ोर रही। जो विषय अच्छा लगा और जिसके अध्यापक के पढ़ाने का ढंग अच्छा लगा, उसे उन्होंने जल्दी सीख लिया, बाकी में उनका ज्ञान छोटी क्लास के लड़कों जैसा रहा। अब एक कठिनाई और हो गई थी; किताब लेकर बैठते तो पृष्ठों के अक्षर गायब हो जाते और उनकी जगह मनोहरादेवी की छवि तैरने लगती। पद्माकर के कवित्तों का अर्थ अब और भी अच्छी तरह समझ में आने लगा। एन्ट्रेन्स परीक्षा के दिन नज़दीक आए। परीक्षा में पास न हो पाएँगे, सुर्जकुमार को निश्चय हो गया था। गणित के दिन वह कापी में पद्माकर के शृंगार रस वाले कवित्त लिख-कर घर चले आए।

जैसे-जैसे परीक्षाफल निकलने के दिन पास आने लगे, वैसे-वैसे सुर्जकुमार के मन में शृंगार के बदले वैराग्य के भाव उदय होने लगे। रामायण का पाठ वह और भी मनोयोग से करने लगे। पर इससे कोई लाभ न हुआ। सफल विद्यार्थियों में कहीं उनका नाम न था। रामसहाय तेवारी ने समझ लिया, लड़का आवारा हो गया; सज़ा दिए बिना काम न चलेगा। बुलाकर कहा, जो कुछ पढ़ना था, पढ़ चुके; हमने अपना फर्ज पूरा किया; अब अपनी मेहरिया सँभालो और कमाओ-खाओ।

उन्होंने बहू का सारा गहना रखवा लिया, सुर्जकुमार के घराऊ कपड़े रखवा लिए। भाग्य के सहारे कमाने-खाने के लिए घर से बाहर कर दिया। सुर्जकुमार के मन को एक चोट लगी परीक्षा में फेल होने की। खैर पास होने की तो वैसे भी बहुत आशा न थी। दूसरी चोट अब यह घर से निकाले जाने की, वह भी अकेले नहीं, पत्नी के साथ। कहाँ जाएँ, किससे नौकरी माँगें ? महिषादल छोड़ अभी दूसरी जगह विशेष परिचय न था। कलकत्ते में इधर-उधर भटकने पर कुछ-न-कुछ काम मिल जाता पर पत्नी को लिए-लिए कहाँ घूमें ? एक ही रास्ता था। किसी तरह ससुराल पहुँचकर वहीं शरण लें। सुर्जकुमार दुखी मन से पत्नी को लिये हुए डलमऊ पहुँचे। सास ने सारा हाल सुना, सहानुभूति प्रकट की। रामसहाय के व्यवहार से वह पहले ही नाराज़ थीं; वह जंगली हूस हैं, इस घटना से उनकी यह राय और भी पक्की हो गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुर्जकुमार पिता की आलोचना सुनकर चुप रहे। जिस घर में रूह की मालिश कराके उन्होंने अपनी नागरिक सभ्यता का परिचय दिया था, उसी में दीन-मलीन वेश में निठल्ले दामाद की तरह उन्हें आश्रय लेना पड़ा। अब उनसे कहने की जरूरत न थी, कुल्ली के यहाँ मत जाना। कुल्ली का साथ करके वह सास को नाराज़ न करना चाहते थे। पार्वतीदेवी काफी सहानुभूति से पेश आई। बेटी के लिए नए सिरे से गहने और दामाद के लिए कपड़े बनवाए और बातें दर किनार, कस्बे में खुद अपनी इज़्ज़त का सवाल था।

सुर्जकुमार भविष्य की चिन्ता करना छोड़कर पत्नी के साथ सुख से दिन बिताने लगे। अब उन्हें उनके बालों और वेशभूषा से कोई शिकायत न रही। उनकी पत्नी कितनी कर्मठ है और वे स्वयं कितने निकम्मे हैं, इसका बोध उन्हें होने लगा। छह महीने बीत गए। बाप-बेटा दोनों ज़िद्दी। आखिर रामसहाय तेवारी ही झुके। खुद डलमऊ आए और बेटे-बहू को गाँव लिवा लाए।

मनोहरादेवी साध्वी महिला थीं। उनकी माँ लम्बे कद, गौरवर्ण की सतेज व्यक्तित्व वाली देवी थीं। माँ के समान मनोहरादेवी सुन्दर थीं। पर वह अपना समय शृंगार-प्रसाधन में न खर्च करती थीं। उस समय तक गाँव में क्रीम-पाउडर की पहुँच न हुई थी। मनोहरादेवी रोटी बनातीं, बर्तन माँजतीं, टोला-पड़ोस के लोगों के लिए चिट्ठी लिखतीं। इन चिट्ठी लिखाने वालों में एक साँवला चमार युवक था—चतुरी। वह दहलीज़ में बैठकर रामायण पढ़तीं; बाहर चबूतरे पर सुर्जकुमार के काका रामलाल बैठकर सुना करते। कभी-कभी वह भजन गातीं और चतुरी भी मगन मन सुनता रहता।

सुर्जकुमार को एक दिक्कत थी। मनोहरादेवी शाकाहारी थीं और सुर्जकुमार को गोश्त खाने का शौक था। वैसे वह गुरुमुख हो चुके थे पर लाड़-प्यार में पले बेटे ने मन की इच्छाओं का दमन करना न सीखा था। मनोहरादेवी ने कहा —"विश्राम सागर में लिखा है कि मांस खाने से बड़ा पाप होता है; तुम मांस खाना छोड़ दो।" उनके कहने से सुर्जकुमार ने मांस खाना छोड़ दिया। मांस छोड़ने के कारण हो अथवा पत्नी के साथ रहने से हो, सुर्जकुमार बहुत दुबले हो गए। एक दिन उघारे बदन जब नहाने जा रहे थे, तब गाँव के एक बूढ़े पंडितजी ने इन्हें देखकर ताज्जुब से कहा —"तुम क्या हो गए?" सुर्जकुमार ने जवाब दिया, "मांस छोड़ दिया, इसलिए दुबला हो गया हूँ।" उन्होंने पूछा, "तो मांस क्यों छोड़ा?" इन्होंने बताया, "विश्राम सागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मांसाहारी को यम के दूत बड़ा दण्ड देते हैं।" पंडितजी ने पूछा, "तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर?" सुर्जकुमार ने बताया कि पत्नी के उपदेश से ऐसा किया है। पंडितजी ने कहा, "तो तुम फिर खाओ। कनवजियों को पाप नहीं होता। उनको वरदान है।" इन्होंने जिज्ञासा की, "कहीं लिखा भी है?" पण्डितजी ने विश्वासपूर्वक कहा, "हाँ, है क्यों नहीं? वंशावली में लिखा है।"

सुर्जकुमार चिकवे के यहाँ गए और आधा सेर मांस ले आए। रूमाल में खून के धब्बे देखकर मनोहरादेवी ने पूछा, "यह क्या है?" उत्तर मिला, "मांस।" उन्होंने पूछा, "तो क्या फिर खाओगे?" सुर्जकुमार ने कहा, "हाँ, हमें वरदान है। वंशावली में लिखा है।" मनोहरादेवी ने कहा, "अपने मांस वाले बरतन अलग कर लो। जिस दिन मांस खाओ, उस दिन न मुझे छुओ और न घर के और बरतन। तीन दिन तक कच्चे घड़े नहीं छूने पाओगे।" सुर्जकुमार ने कहा, "इस समय तो रोज़ खाने का विचार है क्योंकि पिछली कसर पूरी करनी है।" मनोहरादेवी ने कहा, "तो मुझे मेरे मायके छोड़ आओ।" सुर्जकुमार ने जवाब दिया, "लिख दो कोई ले जाए, नहीं तो नाई भेज दो, किसी को बुला लाए। मैं जहाँ मांस पकाता हूँ वहाँ दो रोटियाँ भी ठोक लूँगा।" मनोहरादेवी मायके चली गईं।

सन् '१४ की लड़ाई शुरू हो गई थी। देश में महँगाई बढ़ रही थी। रामसहाय बुढ़ा रहे थे पर सुर्जकुमार को अभी घर का भार उठाने की कोई फिक्र न थी। इसी साल कुँआर के महीने में मनोहरादेवी ने मायके में ही पुत्र को जन्म दिया। रामसहाय अब बाबा हुए। नाती के जन्म पर उन्होंने धूमधाम से उत्सव किया। सुर्जकुमार की ज़िम्मेदारी बढ़ गई। लेकिन जब तक रामसहाय जिए, इन्होंने घर-गृहस्थी की कोई चिन्ता न की। अब स्कूल जाना भी बन्द था। कसरत, खेलकूद, सैर-सपाटा, स्वेच्छानुसार अध्ययन—यही जीवन-क्रम था।

रामसहाय का शरीर शिथिल हो रहा था, पेट बढ़ गया था। डॉक्टरों ने कहा, हार्निया है। महिषादल के अस्पताल में उनका आपरेशन हुआ। आपरेशन सफल हुआ पर रामसहाय पूरी तरह स्वस्थ फिर कभी नहीं हुए। वह गाँव चले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आये। सलेथू, ज़िला उन्नाव की एक स्त्री, जिसका परिवार महिषादल में था, गौरी की माँ के नाम से प्रसिद्ध, गढ़ाकोला में उनकी देखभाल करती रही। सन् '१७ में मनोहरादेवी ने दूसरी सन्तान कन्या सरोज को जन्म दिया। उसी वर्ष रामसहाय तेवारी का देहान्त हुआ।

सुर्जकुमार को अब अपने उत्तरदायित्व का बोध हुआ। उम्र उन्नीस साल, दो बच्चों के बाप; पिता अब नहीं हैं; उन्हें अब दूसरों के सहारे जीने का अधिकार नहीं है—यह सब उनकी समझ में अपने-आप आ गया। इसके सिवा पिता के न रहने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि बुढ़ऊ उन्हें कितना प्यार करते थे। माँ के न रहने पर माँ-बाप वह दोनों थे। जो कुछ कमाया था, वह सब सुर्जकुमार के लिए। गाँव से इतनी दूर परदेस में और किसके लिए मर-खप रहे थे? क्रोध आने पर कई बार उन्होंने मारा भी था, पर यह भी सुर्जकुमार के भले के लिए। उन्होंने लाड़-प्यार भी कम न किया था। देशी रियासत में सिपाहियों के मामूली जमादार की हैसियत ही क्या? पर उन्होंने सुर्जकुमार को राजकुमारों की तरह रखा। कौन जनेऊ, ब्याह, गौने के लिए बंगाल से बैसवाड़े के दरिद्र गाँव में आकर इतना पैसा खर्च करता है? गाँव में किस नौजवान को शान्तिपुरी धोती और पम्पशू पहनने का सौभाग्य मिलता है? बादाम और बेदाना कितनों को मयस्सर होता है? उस पर इत्र-फुलेल, नाटक-तमाशे, सैर-सपाटा! यह सब रामसहाय तेवारी की बदौलत। अब वह साया उठ गया था।

बाप की सेवाओं का विचार करके राजा सतीप्रसाद गर्ग ने सुर्जकुमार को अपने यहाँ नौकर रख लिया। सिपाही के बेटे को उन्होंने सिपाहियों में भर्ती नहीं किया। सुर्जकुमार बाप से ज्यादा पढ़े-लिखे थे। उन्हें चिट्ठी-पत्री, तहसील-वसूली, कचहरी-अदालत से सम्बन्धित काम मिल गया। तनखाह मामूली थी, पर भाई बदलू प्रसाद भी यहीं नौकर थे, खर्च चल जाता था। सुर्जकुमार अब राजा के और निकट सम्पर्क में आये। एक नाटक में सुर्जकुमार को संस्कृत श्लोक पढ़ने का छोटा-सा पार्ट दिया गया। राजा को इनका श्लोक-पाठ पसन्द आया। उन्होंने अपने यहाँ के एक राजकर्मचारी को आज्ञा दी कि वह सुर्जकुमार को गाना सिखाया करे। सुर्जकुमार ने भी अब राजा को निकट से देखा। कद में सुर्जकुमार से कई इंच छोटे हैं। रंग हल्का साँवला है, होंठ मोटे हैं, नीचे का होंठ आगे को कुछ निकला हुआ है। सुर्जकुमार से ज़्यादा सुन्दर नहीं हैं पर चेहरे से तेज झलकता है, और हाथ-पैर भी फौलाद के हैं। राजा ब्राह्मण हैं; नौकर-चाकर, रिआया-आसामी ज़मीन में लेटकर, उनके चरणों में माथा टेककर, साष्टांग दण्डवत् करते हैं—उन्होंने देखा। हुज़ूर कहे बिना उनसे बात करना गुस्ताखी में शामिल है। नौकरी और आत्म-सम्मान में परस्पर क्या सम्बन्ध है, सुर्जकुमार को मालूम होने लगा।

एक दिन सुना लड़ाई बंद हो गई, अंग्रेज़ जीत गये। स्वामिभक्त राजाओं ने उत्सव मनाये। पर लड़ाई के कारण किसानों की हालत बहुत खराब हो गई थी। अशिक्षा और निर्धनता तो थी ही, बाढ़ और अकाल में उनकी सहायता का कोई प्रबन्ध न था। युद्ध और महामारी में चोली-दामन का सम्बन्ध है। यूरोप में लड़ाई ख़त्म होने पर भारत में महामारी फैली।

सुर्जकुमार को तार मिला—तुम्हारी स्त्री सख्त बीमार है, फौरन आओ। सुर्जकुमार ने तुरन्त डलमऊ के लिए कूच किया। राम-राम करते जब ससुराल पहुँचे, तब मालूम हुआ, मनोहरादेवी पहले ही चिता में जल चुकी हैं। फेफड़े कफ़ से जकड़ गये थे। डॉक्टर ने पानी की जगह अखनी पिलाने को कहा था। पर अखनी पीना तो दूर, मनोहरादेवी ने अंग्रेज़ी दवा पीने से भी इन्कार कर दिया। कहा—दस बार नहीं मरना है; कौन धरम बिगाड़े? बड़े भाई बदलू उन्हें देखने आये हैं। पर खुद ही बीमार हो गए। सुर्जकुमार के पहुँचने से पहले ही वह गढ़ाकोला चले गये थे।

डलमऊ में और उसके पास इतने लोग मरे कि उनकी लाशें फूँकना असम्भव हो गया। गंगा के घाटों पर लाशों के ठट लगे थे। लाशें फूलकर धीरे-धीरे नदी के दोनों किनारों की तरफ़ बहती थीं; बीच में थोड़ी-सी धारा दिखाई देती थी। लोग कहते थे, लाशों के सड़ने से गंगा का निर्मल जल भी अशुद्ध हो गया है, डॉक्टरों ने जाँच करके देखा है, सेर भर पानी में आध पाव सड़ा माँस निकलता है।

चार साल के रामकृष्ण, साल-भर की सरोज—दोनों सन्तानों को वहीं उनकी नानी के पास छोड़कर सुर्जकुमार अपने गाँव चले। अभी गाँव पहुँचे न थे कि देखा, लोग बड़े भाई बदलू की लाश लिये चले आ रहे हैं। सुर्जकुमार को चक्कर आ गया। राह में वहीं सिर पकड़कर बैठ गये। किसी तरह घर पहुँचे तो देखा, भौजाई बीमार हैं। उन्होंने पूछा, "तुम्हारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दादा को कितनी दूर ले गये होंगे ?" सुर्जकुमार से कुछ जवाब देते न बन पड़ा। काका रामलाल भी बीमार थे। भतीजे को देखकर बोले, "तू यहाँ क्यों आया ?" सुर्जकुमार ने कहा, "आप अच्छे हो जाएँ तो सबको लेकर बंगाल चलूँ।"

बदलू प्रसाद के पाँच बच्चे थे, चार लड़के और एक दूध-पीती बच्ची। बड़ा लड़का महिषादल में सुर्जकुमार के साथ रहता था, बाकी तीन गाँव में थे। बड़े भाई के देहान्त के तीसरे दिन भाभी भी गुज़र गईं। दूध-पीती बच्ची अकेली रह गई। सुर्जकुमार रात को उसे अपने पास लिटाकर सोये। घर में बिल्ली उछल-कूद मचाये थी। सुर्जकुमार को नींद न आई। सवेरे उठकर देखा तो खाट पर लेटी हुई बच्ची का शरीर ठंडा था।

सुर्जकुमार ने बच्ची का शव उठाया। उसे नदी किनारे ले गये। गड्ढा खोदकर उसे गाड़ा, फिर घर लौटे। इसके बाद काका रामलाल का देहान्त हुआ। बदलूप्रसाद के लड़के बीमार हुए पर सौभाग्य से अच्छे हो गए। मृत्यु-लीला समाप्त हुई। परिवार में रह गए सुर्जकुमार और उनके चार भतीजे; पुत्र और कन्या ननिहाल में थी।

ज़िन्दगी का यह दौर एक भयानक सपने जैसा था। सारा कुनवा ही उजड़ गया। अब सर पर किसी का साया नहीं। रामसहाय-रामलाल की पीढ़ी तो खत्म हो ही गई, बदलू-सुर्जकुमार की पीढ़ी में भी अकेले सुर्जकुमार रह गये। एक आदमी की कमाई से इतने बच्चों का खर्च कैसे चलेगा? इतनी मौतें एक साथ देखकर कोई अपने औसान कैसे कायम रखे? कोई ऐसी पाठशाला नहीं जहाँ ऐसी विकट परिस्थिति का सामना करने की शिक्षा आदमी को पहले से दी जा सके। फिर सुर्जकुमार के दिन लाड़-प्यार में बीते थे। जिन्दगी के बीस साल निश्चित बिताने के बाद सर पर यह आफ़त का पहाड़ ही टूट पड़ा।

सबसे बड़ा धक्का लगा, मनोहरादेवी के गुज़र जाने का। उनके विवाहित जीवन की शुरुआत अब होनी चाहिए थी पर शुरू होने के बदले उसका अन्त हो गया। मनोहरादेवी के जीवित रहते उन्होंने उनकी कद्र न की। गँवही के दिनों उनके बालों को लेकर ताने कसे। गोश्त खाने के पीछे गढ़ाकोला में अपने साथ रहना दूभर कर दिया। अपने निठल्लेपन के कारण एंट्रेन्स परीक्षा पास न कर पाए; इससे अपने साथ उन्हें भी अपमानित कराके घर से निकले। पर वह कितनी उदार थीं। कभी पति या ससुर के रूखे व्यवहार की शिकायत न की। कितनी कम उम्र में संसार छोड़ गईं। अभी अठारह की भी तो न थीं। कैसा सुन्दर कंठ, कैसा मृदुल स्वभाव, कैसा सात्त्विक सौन्दर्य, सुर्जकुमार ने देखा, उनके हृदय में पत्नी के लिए अगाध प्यार है। यह प्यार अब तक क्यों न दिखाई दिया था? किस मोह ने उनकी आँखों पर पर्दा डाल दिया था? क्या मृत्यु ही यह पर्दा उठा सकती थी कि वह मनोहरादेवी की वास्तविक छवि देखें?

सुर्जकुमार गढ़ाकोला से डलमऊ गए। गंगा के किनारे रात-रात-भर वह श्मशान में घूमा करते जहाँ मनोहरादेवी की चिता जली थी। दिन में वह अवधूत टीले पर बैठ जाते और गंगा में बहती हुई लाशें देखा करते। पत्नी और भाई के निधन के बाद अब मृत्यु का ऐसा कोई दृश्य न था जिससे सुर्जकुमार को भय होता। जीवन में जो सबसे वीभत्स और भयानक है, उसे भर आँखों देखना वह सीख गए थे।

एक दिन वह अवधूत टीले पर बैठे थे; तभी कुल्ली ने आकर कहा, "मैं जानता हूँ, आप मनोहरा को बहुत चाहते थे। ईश्वर चाह की ही जगह मार देता है, होश कराने के लिए।"

सुर्जकुमार को ब्रह्मज्ञान मिला। वह अभी तक बेहोश थे। न अपने को समझते थे, न मनोहरा को, न संसार को। दुख के अंकुश द्वारा अब ब्रह्म ने उन्हें अपना और संसार का ज्ञान कराया।

श्री रामचन्द्र कृपालु भजुमन हरण भवभय दारुणम्। कितना सुन्दर भजन। दारुण भवभय को हरने वाला वही एक है राम। राम को छोड़ कौन ऐसे समय मन को शान्ति दे सकता है!

सुर्जकुमार महिषादल लौट आये। फिर वही तहसील-वसूली, कचहरी अदालत। वह और भी नियमित रूप से रामायण का पाठ करने लगे। तभी एक दिन वहाँ रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी प्रेमानन्द आए। स्वामी रामकृष्ण ने बंगाल के धार्मिक जीवन में अपनी साधना से एक ज़बर्दस्त क्रान्ति कर दी थी; उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त-ज्ञान से ब्रिटेन और अमरीका चमत्कृत हो उठे थे। उन्हीं स्वामी विवेकानन्द के गुरु भाई, साक्षात् रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी प्रेमानन्द महिषादल पधारे थे।

राज्य के चीफ़ मैनेजर कायस्थ थे। स्वामी प्रेमानन्द भी संन्यासी होने से पहले कायस्थ ही थे। मैनेजर को गर्व था कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी जाति में इतने बड़े संन्यासी पैदा हुए कि महिषादल की तमाम जनता उनके दर्शनों को उमड़ आई। एक खेत हमवार करके उसमें शामियाना लगाया गया। मंडप के द्वार पर तोरण, जल से भरे कलशों पर सेंदुर से बनाई हुई स्वस्तिका, परई में धान, आम के हरे पत्ते और कच्चे नारियल, फूल-पत्तियों से सजाया हुआ मंच, मंच पर कालीन से ढका हुआ तख्त, तख्त पर रामकृष्ण परमहंस का चित्र, चित्र के चारों ओर फूलमालाओं के ढेर। सुर्जकुमार ने स्वामी प्रेमानन्द के गले में बहुत-सी मालाएँ पहना दीं। स्वामीजी ने हँसकर कहा, "तुम लोगों ने तो मुझे काली बना दिया।" कीर्तन आरम्भ हुआ। खोल-करताल की ध्वनि के साथ भक्त-जन रामकृष्ण परमहंस के चित्र की परिक्रमा करने लगे।

उत्सव समाप्त होने पर मैनेजर स्वामीजी को अपने निवास-स्थान पर ले आए। वहाँ उन्होंने कबीर के पदों का बँगला अनुवाद स्वामीजी को सुनाया। राज्य के अन्य उच्च पदाधिकारी भी वहाँ उपस्थित थे। सुर्जकुमार अपनी सबसे बड़ी निधि तुलसीकृत रामायण भी साथ ले गए थे। स्वामीजी की आज्ञा पाकर वह पाठ करने लगे। अपने ही स्वर पर मुग्ध सुर्जकुमार को कभी स्वामीजी दिखाई देते, कभी महावीर, कभी मनोहरादेवी। स्थल वह था जहाँ सुतीक्ष्ण राम से मिले हैं—श्याम तामरस दाम शरीरम्। जटा मुकुट परिधन मुनि चीरम्। सुर्जकुमार को लगा, कंठ में स्वयं सरस्वती आकर बोल रही हैं और उनका स्वर मनोहरादेवी के कंठ-स्वर से मिलता है। वह भावावेश में पाठ करते जा रहे थे, समझ रहे थे कि सभी श्रोता भक्ति-रस के प्रवाह में निमज्जित हैं, स्वामी प्रेमानन्द ध्यानमग्न सहस्रार की छवि देख रहे हैं, तभी पूर्ण विरामवाला दोहा आने पर स्वामीजी ने पाठ बन्द कर देने को कहा।

घर के भीतर से घी में पकते हुए अन्न की सोंधी सुगन्ध आ रही थी। गृहस्वामी ने लोगों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। ब्राह्मण-कायस्थ सब एक ही पंक्ति में बैठे। सबसे ऊँचे आसन पर स्वामी प्रेमानन्द को बिठाया गया। मैनेजर ने गर्व से कहा, "ब्राह्मणों ने हमें पतित समझा था; हमारी गिनती शूद्रों में करते थे। पर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी प्रेमानन्द जैसे महापुरुषों ने हमें धन्य कर दिया। अब हम भी समाज में ब्राह्मणों की ही तरह सर उठाकर रहते हैं।" इस पर स्वामी प्रेमानन्द ने शान्त भाव से कहा, "संन्यासी होने पर देश-काल-पात्रता से हम दूर हो गये हैं। हमारा जीवन रामकृष्णमय है और सभी जनों के लिए है।" कुछ ब्राह्मणों ने कायस्थों के साथ एक ही पंक्ति में भोजन करने पर आपत्ति की। स्वामीजी ने उन्हें शान्त किया। भोजन समाप्त होने पर सब लोग मदनगोपाल के मन्दिर गये। स्वामीजी ने एक कथा सुनाई। नारदजी ने एक बार विष्णुजी से पूछा, "भगवन्! मृत्युलोक में आपका सबसे बड़ा भक्त कौन है?" विष्णु ने जवाब दिया, "एक किसान मेरा बड़ा भक्त है।" नारद भक्त की परीक्षा लेने चले। किसान हल जोतकर दोपहर को लौटा तो राम का नाम लिया। शाम को खेत से लौटा तब राम का नाम लिया। सवेरे खेत जोतने चला तब फिर राम का नाम लिया। नारद को बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऋषि-मुनि आठों याम इनका ध्यान करते हैं, यह किसान दिन-रात में केवल तीन बार राम का नाम लेता है और यह उन्हें सबसे प्रिय हो गया! विष्णु के पास जाकर उन्होंने शंका प्रकट की। विष्णु ने कहा, "इसका उत्तर मिल जाएगा। इस समय एक आवश्यक काम कर डालिए। यह तेल से भरा कटोरा हथेली पर रख लीजिये और पृथ्वी की परिक्रमा करके लौट आइये, पर देखिये, एक भी बूंद तेल छलककर गिरने न पाये।" नारद तेल का कटोरा लेकर चले; बड़ी सावधानी से कटोरा सँभाले हुए पृथ्वी की परिक्रमा करके वापस आये। मन में प्रसन्न थे कि तेल की एक बूंद भी नहीं गिरी और कार्य पूरा हुआ। विष्णु ने पूछा, "परिक्रमा के समय कितनी बार मुझे स्मरण किया?" नारद ने कहा, "आप ही का तो काम था। ध्यान तेल के कटोरे पर था। आपका स्मरण क्या करता?" विष्णु ने कहा, "वह किसान भी मेरा ही काम करता है। पर आठ पहर में तीन बार मुझे याद करता है। इसीलिए वह मेरा सबसे प्रिय भक्त है।"

सुर्जकुमार को यह कहानी बहुत अच्छी लगी। जो गरीब है, खेत में हल चलाता है, जो धर्म का आडम्बर नहीं जानता वह भगवान् का सबसे प्रिय भक्त है। ये संन्यासी कितने महान् हैं! ये किसी को छोटा नहीं समझते; कुलीन-अकुलीन इनकी निगाह में सब बराबर हैं। राजा और नौकर इनके लिए समान हैं। ये आदमी देखते हैं, आदमी की पोशाक नहीं। स्वामी प्रेमानन्द के मुख पर कैसी शान्ति थी! सुर्जकुमार के दुखी मन को एक सहारा मिला। शान्ति संन्यास में है, बड़ा वह है जो संसार का मोह त्याग देता है जैसे स्वामी प्रेमानन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने त्याग दिया है। स्वामी रामकृष्ण ने तो ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा था; क्या सुर्जकुमार को भी ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं?

वैराग्य के भाव मन में और प्रबल हुए। स्वर्गीया मनोहरा देवी की छवि के साथ अब स्वामी प्रेमानन्द का भव्य मुख आँखों के सामने आता और लोप हो जाता। महिपादल में एक सज्जन थे श्यामापद मुखोपाध्याय। वह रामकृष्ण परमहंस के बड़े भक्त थे। सुर्जकुमार से उनकी मैत्री हो गई। उनके घर जाकर वह अवसर वेदान्त-चर्चा करने लगे। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें लेकर पढ़ीं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के बारे में दूसरों का लिखा हुआ बहुत-कुछ पढ़ा। ज्ञान का एक नया संसार सुर्जकुमार को दिखाई देने लगा। स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटी—इनकी शिक्षा से ज्ञान का क्या सम्बन्ध है? ये सब डिगरियाँ बाँटते हैं पर सच्चा ज्ञान तो साधना से आता है। सुर्जकुमार एन्ट्रेन्स पास न कर पाये तो क्या हुआ? साधना का द्वार तो उनके लिए भी खुला है।

तहसील-वसूली का काम उन्हें अब बिल्कुल अच्छा न लगता था। वह काम करते समय भी अपने दिवा-स्वप्नों में डूबे रहते। वह श्यामापद मुखोपाध्याय के बारे में सोचते। रामकृष्ण परमहंस की कृपा से सब-कुछ सम्भव है। श्यामापद बाबू की भाञ्जी को देखो। बहन का देहान्त हुआ तब इनकी पत्नी २५ वर्ष की थी। बच्चा एक भी न हुआ था। श्यामापद बाबू की आठ महीने की भाञ्जी को वह स्तन पिलाने लगी। रामकृष्ण की कृपा; कुछ ही दिनों में उनके स्तनों से दूध निकलने लगा। श्यामापद बाबू कहते थे, मेरी भाञ्जी के प्रति पत्नी के हृदय में वैसा ही भाव उदय हुआ जैसा अपनी पुत्री के लिए होता है, हृदय में स्नेह उमड़ने के साथ स्तनों से दूध बह चला!

रामकृष्ण परमहंस का व्यक्तित्व भी कैसा चमत्कारी था! उनके पिता रघुवीरजी की उपासना करते थे। रामकृष्ण के गर्भ में आने से पहले ही रघुवीरजी ने उनकी माँ को स्वप्न में दर्शन दिए थे और कहा था, हम तुम्हारे पुत्र-रूप में अवतीर्ण होंगे। रामकृष्ण भगवान् के अवतार थे। साधना लोक-दिखावे के लिए करते थे; सिद्ध पुरुष तो वह जन्म से थे। जब निरे बालक थे, तभी आकाश में हंसों को उड़ते देखकर समाधि में लीन हो गए थे। उन्होंने ब्याह किया पर वह साधारण जनों का-सा ब्याह थोड़े ही था। योग दृष्टि से उन्होंने पहले ही मालूम कर लिया था कि उनकी पत्नी कहाँ है। उन्होंने घर वालों को बता दिया, वहाँ चले जाओ; ऐसी-ऐसी लड़की मेरी पत्नी है, उससे सम्बन्ध पक्का कर आओ। सारदा मणिदेवी उनकी पत्नी क्या थीं, साक्षात् सरस्वती थीं। ब्रह्मरूप पति के साथ विद्या की ज्योति की तरह रहती थीं। रामकृष्ण परमहंस के मन में पत्नी को देखकर ज़रा भी काम-विकार उत्पन्न न होता था।

स्वामी विवेकानन्द संन्यासी होने से पहले जब पढ़ते थे, तब रामकृष्ण से पूछने आए थे, "क्या आपने ईश्वर देखा है?" रामकृष्ण ने उन्हें ज़रा-सा छू दिया। तमाम पृथ्वी, पेड़-पौधे नज़र के सामने चक्कर खाने लगे। विवेकानन्द भय से चिल्लाए। रामकृष्ण ने उन्हें फिर छू दिया। तब वह अपनी पहले जैसी स्थिति में आए। पश्चिम का जड़ विज्ञान यह सब-कुछ नहीं मानता पर भारत अपनी इस अध्यात्म-विद्या के कारण महान् है।

सुर्जकुमार को अब स्वप्न में कभी महावीर दिखाई देते, कभी स्वामी प्रेमानन्द, कभी मनोहरादेवी। महावीर कभी गदा लिये वीर रूप में प्रकट होते, कभी भक्त रूप में हाथ जोड़े हुए। आकाश में देवता के ही समान कभी प्रकाशमान स्वामी प्रेमानन्द दिखाई देते। मनोहरादेवी साक्षात् सरस्वती के रूप में आतीं और माथे का सिन्दूर दिखाकर कहतीं, महावीर को मैं मस्तक पर धारण करती हूँ। प्रिया जब सरस्वती बन गई तब काम-संस्कार भस्म हो गए। जब उसने मस्तक पर सिन्दूर रूप में महावीर को धारण कर लिया तब पत्नी के ध्यान और अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का समन्वय हो गया।

सुर्जकुमार आठ प्रहर में आधे समय स्वप्न-लोक में रहते और आधे समय प्रत्यक्ष संसार में। जिस स्वप्न-लोक में वह महावीर-प्रेमानन्द-मनोहरादेवी को देखते थे, उससे प्रत्यक्ष संसार एकदम भिन्न था। आये-दिन प्रजा के उत्पीड़न के बारे में कोई-न-कोई कथा सुनने को मिलती। एक दिन उन्होंने सुना, नहर के किनारे किसी गाँव के पुजारी को राजा के सिपाहियों ने मारा है। राजा किश्ती पर हवा खाने निकले थे। साथ में कुछ पहलवान और सिपाही थे। कुछ सिपाही नहर के किनारे-किनारे नाव के साथ पैदल दौड़ने लगे। अचानक उन्होंने देखा, एक पुजारी नहर के किनारे खड़ा हुआ राजा को देखकर मुंह से अजीब-सी आवाज़ कर रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। जब राजा की निगाह उस तरफ गई तो उसने पेट खला कर हाथों से उसे मला, यानी वह भूखा है, यह बता दिया। फिर मुँह थपथपाया और हवा में दोनों हाथों के अँगूठे हिलाए, जिसका मतलब था कि कोई सुनवाई नहीं, खाने को कुछ नहीं है।

राजा ने किश्ती की रफ्तार धीमी करा दी। कुछ दूर वह पुजारी साथ दौड़ा। तब तक पीछे से सिपाही भी आ पहुँचे। राजा का इशारा पाकर सिपाहियों ने पुजारी को पकड़ लिया। कहा, ठेंगा दिखाता है हमारे महाराज को? उसे खूब मारा, फिर उसकी दोनों हथेलियाँ और उँगलियाँ लाठी के गूले से कुचल डालीं। पुजारी के घर में सत्रह साल की विधवा बेटी, दो छोटे लड़के और पत्नी थीं। ये सब दाने-दाने को मोहताज हो गए। पुजारी देवी के मंदिर में पूजा करता था, प्रतिदिन उसे तीन पाव चावल और चार केले मिलते थे, महीने के अन्त में तीन रुपये। उसे डेढ़ साल से यह वृत्ति न मिली थी। उसने दरखास्तें भेजी थीं, कोई सुनवाई न हुई थी, तभी उसने राजा से अपनी बात कहने का वह ढंग निकाला था। अब उसे मंदिर में पूजा के उस काम से भी अलग कर दिया गया।

ऐसी घटनाएँ राज्य में आये-दिन हुआ करती थीं। सुर्जकुमार सुनते और सोचते—आखिर भगवान् इनके लिए कुछ क्यों नहीं करते? वह कमल और गुलाब के फूलों से महावीर का श्रृंगार करते और सोचते, यह प्रजा के पक्ष में क्यों नहीं बोलते? एक दिन सुर्जकुमार ने सपने में देखा। अँधेरे जल पर कमल खिला है; कह रहा है, मैं तो राजा का था, तुमने क्यों तोड़ा? फिर एक गुलाब सामने आ गया; बोला, मुझे छूने का तुम्हें क्या अधिकार था? सुर्जकुमार परेशान होने लगे। कहाँ से फूल लायें जो राजा के न हों, जिनसे महावीर स्वामी को सजायें? तभी सपने में महावीर आये। समझाया, "वत्स, यहाँ कौन-सी चीज़ राजा की नहीं है? यह मूर्ति किसकी खरीदी है? कौन पुजवाता है?" सुर्जकुमार की परेशानी दूर होने के बदले और बढ़ गई। फूल ही राजा के नहीं, जिस मूर्ति को वह फूलों से सजाते हैं, वह भी राजा की है। उन्होंने सवाल किया, "ये गरीब मरे जा रहे हैं, इनका क्या होगा?" स्वामी ने कहा, "जो राजा के लिए है, वही इनके लिए। तुम अपना काम देखो।"

सुर्जकुमार को सन्तोष न हुआ। गरीब प्रजा का ध्यान सताने लगा। जर्मनी की लड़ाई खत्म हो चुकी थी। कुछ क्रान्तिकारियों ने जर्मनी से हथियार भिजवाकर भारत में सशक्त विद्रोह के लिए प्रयत्न किया था, पर वे सफल न हुए। जो नेता युद्ध में अंग्रेज़ों की सहायता करके बड़ी आस लगाए बैठे थे कि लड़ाई खत्म होने पर डोमीनियन स्टेटस मिल जायगा, वे बड़े निराश हुए। अंग्रेज़ों ने स्वराज्य की माँग का जवाब रॉलट ऐक्ट और जलियाँवाला बाग से दिया। देश के नौजवान क्रोध से तिलमिला उठे। आपस में वे बातें करते कि अंग्रेज़ी राज का खात्मा किस उपाय से किया जाय। सुर्जकुमार बंगला के अखबार पढ़ते, मित्रों से देश-विदेश की चर्चा करते। कुछ नौजवान लुक-छिपकर उन्हें क्रान्तिकारियों के बारे में वह साहित्य पढ़ने को देते जिस पर सरकार ने प्रतिबन्ध लगा रखा था। सुर्जकुमार तेज़ी से राजनीति की तरफ खिंचने लगे।

सन् '२० में गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया। हिन्दुओं और मुसलमानों की मैत्री के अभूतपूर्व दृश्य देखे गए। दूर-दूर देहातों तक चरखे का प्रचार होने लगा। बंगला पत्रों में सुर्जकुमार रूसी क्रान्ति और वहाँ एक नये समाज की रचना का हाल पढ़ते। महिषादल के आसपास के गाँवों में जाते; मित्रों के साथ वहाँ किसानों, कोरियों, जुलाहों आदि का संगठन करते, उन्हें स्वदेशी का महत्त्व समझाते। हर जगह राष्ट्रीय गीतों की धूम थी। सुर्जकुमार बड़े प्रेम से ये गीत पढ़ते और गाते। उन्हें द्विजेन्द्रलाल राय के गाने विशेष रूप से पसन्द थे। उन्होंने स्वयं राष्ट्रीय गीत लिखने का विचार किया। सन् '२० के वसन्त में सुर्जकुमार ने जन्मभूमि पर एक गीत लिखा :

बन्दूं मैं अमल-कमल,—
चिर सेवित चरण युगल—
शोभामय शान्ति निलय पाप ताप हारी,
मुक्तबन्ध, घनानन्द मुद मंगलकारी ॥
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ॥
मुकुट शुभ्र हिमागार।
हृदय बीच विमलहार—
पञ्च सिन्धु ब्रह्मपुत्र रवितनया गङ्गा।
विन्ध्य विपिन राजे घनघेरि युगल जङ्घा ॥
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिदश कोटि नर समाज,
मधुर-कंठ-मुखर आज ।।
चपल चरण भंग नाच तारागण सूर्यचन्द्र ।
चूम चरण ताल मार गरज जलधि मधुर मंद्र ।।
बधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।।

सुर्जकुमार का नया जीवन आरम्भ हुआ—कवि का जीवन। पर उन्हें अपना नाम सुर्जकुमार तेवारी ज़रा भी कवित्वपूर्ण न लगता था। इसे शुद्ध करके यदि सूर्यकुमार तेवारी कर दिया जाय, तब भी गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्रलाल राय, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय अथवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नामों के मुकाबले वज़न में कुछ हलका बैठता था। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने अपना नया नाम रखा—सूर्यकान्त त्रिपाठी। सूर्यकुमार से सूर्यकान्त नाम सुनने में और अर्थ के विचार से भी ज़्यादा अच्छा लगा। बहुत-से तेवारी अपने को त्रिपाठी लिखने लगे थे। अब कुछ लोग अपना नाम शुद्ध रूप में लिखते थे जैसे महावीर प्रसाद दुबे अपने को महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते थे। जन्मभूमि की वन्दना से रामसहाय तेवारी के पुत्र सूर्यकान्त त्रिपाठी ने अपनी साहित्य-साधना आरम्भ की।

कविता लिख गई लेकिन कहाँ भेजें? गणेश शंकर विद्यार्थी का नाम सुना था। कानपुर से उन्होंने 'प्रताप' के अलावा 'प्रभा' मासिक पत्रिका प्रकाशित की थी। सूर्यकान्त ने अपनी कविता वहीं भेजी। कविता स्वीकृत हो गई। जून १९२० की 'प्रभा' में प्रकाशित हुई। छपी हुई कविता देखकर वह खूब प्रसन्न हुए। उनके बंगाली मित्रों को यह खबर मिलते देर न हुई कि सुर्जकुमार कविता लिखते हैं और वे छप भी जाती हैं पर वह हिन्दी में लिखते हैं। काव्य-चर्चा के प्रसंग में हिन्दी और बंगला के साहित्य पर बहस छिड़ जाती। सन् '२० के आन्दोलन के साथ राष्ट्रभाषा का सवाल भी एक राजनीतिक समस्या की तरह लोगों के सामने आया। उस समय अनेक बंगाली विद्वान् इस बात का प्रचार करते थे कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद मिलना चाहिए। एक बार सूर्यकान्त ने स्टीमर में यात्रा करते हुए बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् नगेन्द्रनाथ सेन की बातचीत सुनी। स्टीमर आर्मीनियन घाट से घाटाल जा रहा था। उसी पर तामलुक के एक वकील थे जो नगेन्द्रनाथ से बहस कर रहे थे कि अंग्रेज़ी के साथ दूसरी भाषा का दबाव छात्रों पर डालना अनुचित है। सेन महाशय का कहना था कि राष्ट्रभाषा कोई विदेशी भाषा नहीं, भारत की भाषा ही हो सकती है और वह भाषा हिन्दी है।

सूर्यकान्त दोनों के तर्क ध्यान से सुनते और उन पर विचार करते रहे। उन्हें ज़्यादातर साहित्यप्रेमी युवक ऐसे मिलते जो बंगला पर अभिमान करते और हिन्दी को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। सूर्यकान्त अब ज़ोरों से हिन्दी और बँगला-साहित्य के अध्ययन में जुट गए। बंगला में काव्य, नाटक, कथा-साहित्य की अनेक पुस्तकें उन्होंने पढ़ीं। हिन्दी की पुस्तकें उधर कम मिलती थीं, फिर भी 'सरस्वती' वह नियमित रूप से पढ़ते थे। उसके माध्यम से वह हिन्दी-साहित्य के विकास से काफी परिचित हो गए। 'प्रभा' 'प्रताप' आदि पत्र-पत्रिकाएँ भी जब-तब पढ़ने को मिल जाती थीं। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', दूसरा उपनाम त्रिशूल, की राष्ट्रीय कविताएँ उन्हें विशेष अच्छी लगती थीं। नाथूराम शर्मा शंकर की भाषा उन्हें बहुत पसन्द थी। बंगला के मुकाबले हिन्दी कविता उन्हें काफी पिछड़ी हुई मालूम होती थी, पर केवल भाषा की दृष्टि से वह हिन्दी को बंगला से श्रेष्ठ मानते थे।

राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी विवाद में वह बंगाली मित्रों से कहते—माना कि बंगला का साहित्य श्रेष्ठ है पर भाषा के अवगुण तो देखिए। इसके उच्चारण मार्ग पर बचपन से जीभ न फेरी जाय तो वह कभी शुद्ध चाल चल ही नहीं सकती। दूसरे प्रान्त के लोग जब बंगला कविता पढ़ते हैं तो जीभ हैरान हो जाती है। ऐसी भाषा कहीं राष्ट्रभाषा हो सकती है?

उनके बंगाली मित्र कहते—बंगला भाषा का माधुर्य कौन नहीं जानता? किस भारतीय भाषा में ऐसी कोमलकान्त पदावली है जैसी रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में है? उनके काव्य का रसपान करने के लिए ही अनेक देशी-विदेशी विद्वान् आज बँगला सीख रहे हैं। बँगला भाषा भारत की श्रेष्ठ भाषा है, उसके महत्त्व को कौन अस्वीकार कर सकता है?

मित्रों से ऐसे तर्क सुनकर सूर्यकान्त कहते—कोमलता स्त्री का धर्म है। बंगालियों की भाषा ही क्या, उनकी वेश-भूषा, हाव-भाव, रहन-सहन—हर चीज़ में कोमलता दिखाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देती है। पर देश को कोमलता नहीं, पौरुष चाहिये। आवाज़ अगर बुलन्द न हो तो भाषा में गम्भीर भाव पैदा नहीं हो सकते। बँगला में बुलन्दपन की कमी है, इसलिए वह गम्भीर भाव प्रकट नहीं कर सकती। जब बंगालियों को गम्भीर भाव प्रकट करना होता है तब वे हिन्दी शब्दों का सहारा लेते हैं। जैसे "चुप कर" न कहकर कहेंगे, "चोप राव"।

इस पर बंगाली मित्र रवीन्द्रनाथ की कविताओं से उद्धरण देकर पूछते—इसमें गम्भीर भावों की कमी है ?

सूर्यकान्त हुज्जत करते—उच्चारण अस्वाभाविक, छन्द अस्वाभाविक, भाव में गम्भीरता कहाँ से आयेगी ? बंगाली दीर्घ स्वरों का भी ह्रस्व जैसा उच्चारण करते हैं। यह कोई आर्य तरीका है ? कविता लिखते हैं तो मात्राओं पर ध्यान नहीं देते, अक्षर गिनते हैं।

बनेर पाखी गाहे बाहिरे बसि बसि
बनेर गान छिल जत,
खांचार पाखी, पड़े शिखानो बुलितार
दोहार भाषा दुइ मत।

ज़रा गिनिये मात्राएँ।

सूर्यकान्त अक्षर गिनाते—१४। फिर मात्राएँ गिनाते—२१। पहली पंक्ति के जोड़ की तीसरी पंक्ति—अक्षर वही १४, लेकिन मात्राएँ २२। ऐसे ही दूसरी और चौथी पंक्तियों में अक्षर नौ-नौ लेकिन मात्राएँ ११ और १३। जब मात्राएँ बराबर न होंगी तब संगीत का सहज प्रवाह भी नष्ट हो जाएगा। "बनेर पाखी गाहे बाहिरे बसि बसि" को अगर यों लिखा जाय—"सकल खग कुल कहत बसि बसि" तो देखिए प्रभाव कितना स्वाभाविक हो जाता है।

इसके बाद बहस उच्चारण की वैज्ञानिकता को लेकर होने लगती। मित्र कहते—हिन्दी का कोई अपना उच्चारण नहीं, पूरब और पछाँह वाले अलग-अलग ढंग से बोलते हैं। हिन्दी लेखक उर्दू की खिचड़ी पकाते हैं। बँगला में जैसी परिष्कृत तत्सम शब्दावली है, वैसी हिन्दी में कहाँ है ?

सूर्यकान्त उत्तर देते—आप लोगों का उच्चारण आर्य न होकर मंगोलियन है। शुद्ध 'अ' का उच्चारण आप कर ही नहीं सकते। गोल-गोल औकार जैसा बोलते हैं। वैसे ही ऐ को 'ओइ' और 'औ' को 'ओउ' कहते हैं। ओइतिहासिक, ओउशध—यह भी कोई उच्चारण है ? श, ष, स में कोई भेद ही नहीं। शमाज, शंध्या, शावधान, शंशार— मारे 'श' के नाक में दम। ण और व की ध्वनि ही नहीं। तेवारी को कहेंगे तेओयारी, मेवा को मेओया ! लक्ष्मी को लक्खीं, ऐक्य को ऐक्क, अध्ययन को अद्धयन···

बहस में काफी गर्मी आ जाती और झगड़ा करते हुए मित्र अलग होते। सूर्यकान्त के मित्रों में वहाँ हिन्दी भाषा और साहित्य का कोई अच्छा जानकार नहीं था, उन्हें बंगाली मित्रों से अकेले ही वाक्-युद्ध करना पड़ता। शरीर साढ़े पाँच फुट से ऊपर, सीना तगड़ा, आवाज़ बुलन्द—वह बहस में दबते न थे। बंगाल की हुज्जत मशहूर है। इस कला का उन्होंने अच्छा अभ्यास किया। महिषादल में रहकर बंगाली मित्रों से हिन्दी आलोचना सुनने के कारण उनमें जातीय अभिमान का भाव दृढ हो गया। उन्होंने तै किया कि बंगला उच्चारण के बारे में उन्होंने जो रिसर्च की है, उसका ज्ञान अन्य हिन्दीभाषियों को भी कराना चाहिए। उन्होंने उसी साल अगस्त में एक लेख लिखा, "बंगभाषा का उच्चारण"। इसमें उन्होंने वे सब तर्क सजाकर रखे जिन्हें अपने मित्रों के सामने बहस के दौरान वह पेश करते थे। तै किया कि इसे 'सरस्वती' में भेजेंगे। उन्होंने द्विवेदीजी को पत्र लिखा :

'श्री हरिः

Mahishadal Raj
26-8-20

परम पूजनीय
श्री १०८ महावीर प्रसादजी
द्विवेदी महाराज,
श्री चरणों में

बाबा,

सेवा पर 'बंग भाषा का उच्चारण' शीर्षक लेख भेजता हूँ। आशा है, बंग प्रवासी एक अपरिचित सन्तान के परिश्रम को आप सफल करेंगे। इस लेख को 'सरस्वती' में स्थान मिलेगा। इति—

आपका अपरिचित किन्तु—
आपका एकान्त सेवक
सूर्यकान्त त्रिपाठी'

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण कर चुके थे, पर लेख स्वीकृत हो गया। देवीदत्त शुक्ल ने जहाँ-तहाँ कुछ शब्द बदलकर लेख छाप दिया। दिसम्बर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'२० की 'सरस्वती' में सूर्यकान्त त्रिपाठी का पहला गद्य लेख प्रकाशित हुआ।

द्विवेदीजी के यहाँ आये-दिन दर्जनों होनहार लेखकों के पत्र आते थे। सभी उन्हें गुरु मानते थे, सभी दण्डवत् करते थे और लगभग सभी का उद्देश्य होता था कि उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हो जाएँ। उन्हें लगा कि यह सूर्यकान्त नाम का व्यक्ति, जो उन्हें असंख्य प्रणाम-दंडवत् लिखता है, अवश्य उनके सहारे हिन्दी में आगे आने के उद्देश्य से उनकी खुशामद कर रहा है। सूर्यकान्त के एक पत्र के उत्तर में उन्होंने अपने इस भाव का संकेत करते हुए पूछा—आप कहाँ के रहने वाले हैं, क्या उम्र है, कुटुम्ब में कौन-कौन है, क्या व्यवसाय होता है, इत्यादि। सूर्यकान्त ने 'बाबा के श्री चरण कमलों में असंख्य भूमिष्ठ प्रणाम' निवेदित करने के बाद उन्हें सूचित किया, "आपकी इस लिखावट से मालूम हो रहा है कि मेरे पूर्व प्रेरित पत्र की व्याख्या विज्ञ-दृष्टि से नहीं की गई। उस पत्र को फिर से पढ़िये। देखिए तो, उसमें स्वार्थ का गुप्त वर्णन है या बन्धुता का विशद विवेचन? उससे सम्बन्ध जोड़ने की आशा व्यक्त होती है या जुड़े हुए सम्बन्ध का प्रमाण।"[२]

सूर्यकान्त पहले हिन्दी-लेखक थे जो महावीर प्रसाद द्विवेदी से कह रहे थे, आपने मेरे पत्र की व्याख्या विज्ञ-दृष्टि से नहीं की। अभी केवल एक कविता छपी थी 'प्रभा' में और एक लेख छपा था, 'सरस्वती' में, पर तेवर ऐसे मानों सत्रह साल तक 'सरस्वती' का सम्पादन इन्हीं ने किया हो। पर सूर्यकान्त त्रिपाठी ने द्विवेदीजी के सरोष मुख पर शीतल चन्दन के छींटे भी दिये, "आप हिन्दी संसार के स्वनामधन्य पुरुष हैं। मैं आपको हृदय से पूजता हूँ। यही आपसे मेरा सम्बन्ध है। इससे अधिक मधुरता और किस सम्बन्ध में है?"

इस भूमिका के बाद सूर्यकान्त ने द्विवेदीजी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपना परिचय लिखा—"मैं कान्यकुब्ज ब्राह्मण हूँ। आपका पड़ोसी हूँ। उन्नाव ज़िले के पूर्व्वा के पास का रहने वाला हूँ। उम्र २२, शरीर पाँच फुट ११½ इंच लम्बा, छाती ३६ इंच चौड़ी। हृष्ट पुष्टांग न तु स्थूलकाय। अक्षर हूँ, न साक्षर और न निरक्षर। सगा यानी माता, पिता, भाई, बहन, चाचा, चाची, स्त्री संसार कोई नहीं। सब थे किन्तु १९१८ के इन्फ्लुएंजा में सब गुज़र गए। जीवन का लक्ष्य निरे बाल्यकाल से है परमपदलाभ। रामकृष्ण मठ के संन्यासी मुझ पर विशेष कृपादृष्टि रखते हैं। स्वामी प्रेमानन्द ने कहा था—तुम्हारा विचार ठीक है।

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझ पर ईश्वर की कृपा हो, परन्तु उपस्थित स्थिति मेरी क्रमोन्नति पर बाधा डाल रही है। मेरे सिर पितृमातृहीन छः नाबालक भतीजे आदि का पालन-भार अर्पित है। इसलिए अभी मैंने नौकरी करना स्वीकार किया है। लड़कों को सबालक करके अपने लक्ष्य पर बढ़ूँगा। मैं एक साधारणवित्त मनुष्य हूँ। विद्वन्मण्डली के सामने मेरा परिचय मूर्खों में है।

"मेरे पिता-पितृव्य इस स्टेट में फौजी अफसर थे। गण्य-मान्य थे। मेरा जन्म यहीं हुआ। शिक्षा यहीं मिली। हिन्दी मैंने किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं सीखी। यहाँ हिन्दी का एक भी ज्ञाता नहीं। (आप पर भक्ति का एक कारण यह भी है।)

"महाराज महिषादल मुझ पर अत्यन्त कृपा करते हैं। महाराज दो भाई हैं। बड़े राजा—सतीप्रसाद गर्ग और छोटे राजा—गोपालप्रसाद गर्ग हैं। इनके पूर्व्व पुरुष ज़िला बाँदा के रहनेवाले थे। राजा रामनाथ गर्ग की रानी पति-शव को लेकर चिता पर चढ़ने के पूर्व दरिद्रवेशी—समागत—लक्ष्मण-प्रसाद को, जोकि वर्तमान नरेश के आजा थे, राज्यासन पर स्थापित कर गई थीं। इस राज्य की गवर्नमेंट रेवेन्यू ३,३६,००० है और वार्षिक आमदनी है १२,००,०००।"

राज्य की विशद आमदनी तथा अपनी वैराग्य-भावना—दोनों से गुरुवर द्विवेदी को प्रभावित करने के बाद पत्र के अन्त में लिखा:

"अधिक और क्या लिखूं? संक्षेप में आपके आग्रह को पूरा कर चुका।

"जगन्नियन्ता का नियम है कि सेवा सेव्य की आत्मा पर तृप्ति की और सेवक की आत्मा पर शुद्धि की छाप लगाकर दोनों के उन्नति-मार्ग को साफ़ करती है। मनोराज्य के इस नियम को मैं निश्छल होकर प्रणाम करता हूँ।"

हस्ताक्षर के बाद एक वाक्य और जोड़ दिया "हिन्दी सिखाइये"। जितनी हिन्दी उन्हें द्विवेदीजी से सीखनी थी, उतनी 'सरस्वती' के अंक पढ़कर अब तक वह सीख चुके थे। यह केवल उनकी विनम्रता थी जो द्विवेदीजी से हिन्दी सिखाने के लिए कह रहे थे। जहाँ तक दर्शन शास्त्र का सम्बन्ध था, वह दो-एक ज्ञान की बातें आचार्य द्विवेदी को भी सिखा सकते थे। सेवा से जहाँ सेवक की आत्मा शुद्ध होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है वहाँ सेव्य की आत्मा भी तृप्त होती है। अर्थात् सूर्यकान्त-महावीर प्रसाद सम्बन्ध एक-तरफा व्यापार नहीं है। इससे लाभ द्विवेदीजी को भी है। सूर्यकान्त उनसे इसलिए सम्बन्ध कायम नहीं कर रहे हैं कि उनके सहारे साहित्य-क्षेत्र में आगे बढ़ चलें, जीवन का लक्ष्य साहित्य-सेवा नहीं, परमपद-लाभ है।

सूर्यकान्त कभी-कभी बेलूड़ के मठ जाते, स्वामी प्रेमानन्द के दर्शन करते, दूसरे संन्यासियों के साथ दरिद्रों की सेवा के लिए गाँवों की यात्रा करते। परन्तु उनका मन इस समय केवल धर्म-साधना पर केन्द्रित न था। राजनीति और साहित्य—दोनों उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे।

एक दिन सूर्यकान्त को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। उन पर आरोप यह लगाया गया कि उन्होंने मदन गोपाल के मन्दिर से गहने चुराये हैं। इस मन्दिर के बाहर संगमर्मर की सुन्दर बेंचें हैं। सूर्यकान्त अक्सर वहाँ जाकर बैठते और कभी-कभी कविताएँ लिखते। मन्दिर में राधाकृष्ण की मूर्तियों को बहुमूल्य स्वर्णाभूषण पहनाये गये थे। एक रात ये गहने चोरी चले गये। पुलिस ने सूर्यकान्त को हिरासत में ले लिया। राजा अथवा राज-परिवार की ओर से कोई संकेत न दिया गया था कि उन्हें सूर्यकान्त पर शक है। फिर भी पुलिस ने इन्हें गिरफ्तार कर लिया। राजा सतीप्रसाद गर्ग ने इनके चाल-चलन के बारे में पुलिस को आश्वासन दिया और इन्हें हवालात से छुड़ा लिया।

कुछ दिन बाद एक दुर्घटना और हुई। महिषादल में एक साधु आये, पुराने ढंग के, चिमटा-धूनी वाले। राजमहल के सुपरिटेंडेंट साधु को कुछ देना चाहते थे परन्तु सूर्यकान्त ने राजा से साधु की बुराई की और सलाह दी, "राजकोष का रुपया इस तरह नहीं खर्च करना चाहिये।" एक रात जब सूर्यकान्त राजमहल से अपने घर लौट रहे थे, तब हाथीखाने के पास उन्हें वही सुपरिटेंडेंट मिले। इन्हें लगा, सुपरिटेंडेंट के मुँह से शराब की बू आ रही है। यह समाचार भी इन्होंने राजा तक पहुँचा दिया। इस पर सुपरिटेंडेंट से पूछताछ हुई, उन्होंने इन्कार किया। इस पर राजा का हुक्म हुआ कि दोनों आदमी मदन गोपालजी के मन्दिर में कसम खाकर सच-सच बतायें कि क्या हुआ था। सूर्यकान्त ने कसम खाई कि उन्हें शराब की-सी बू आई थी; सुपरिटेंडेंट ने कसम खाई कि उन्होंने शराब छुई न थी। बात खत्म हो गई, पर सूर्यकान्त को लगा कि कसम खाने के लिए मजबूर करके उनका भारी अपमान किया गया है। कसम खिलाए बिना ही राजा को उनकी बात पर विश्वास कर लेना चाहिए था। यह न करके उन्होंने सुपरिटेंडेंट और उन्हें एक ही तराजू से तोला। सुपरिटेंडेंट बदनाम आदमी थे, शराब के अलावा उनमें और भी व्यसन थे, इस बात को राज्य के बहुत-से लोग जानते थे। इसलिए सूर्यकान्त को और भी बुरा लगा। उन्होंने राजा को लिखा, "मेरे धर्म-स्थल पर हस्तक्षेप करने का आपको कोई अधिकार न था। फिर मैंने सुपरिटेंडेंट साहब की नौकरी लेने के लिए नहीं कहा था।" इसके साथ उन्होंने नौकरी से इस्तीफ़ा दाखिल कर दिया।

राजा ईश्वरप्रसाद गर्ग के समय से इस राज्य के साथ रामसहाय तेवारी के परिवार का जो सम्बन्ध चला आ रहा था, उसे सूर्यकान्त त्रिपाठी ने एक झटके से तोड़ दिया। कोई बहुत बड़ी नौकरी नहीं थी, फिर भी घर का खर्च चल जाता था। अपने खर्च के अलावा वह गाँव में अपने भतीजों के लिए रुपये भेजते थे। एंट्रेन्स फेल आदमी को नौकरी मिलना आसान नहीं था। राजा की नौकरी से इस्तीफ़ा देने के बाद महिषादल में बने रहना संभव न था। गाँव में खेती-पाती के भी विशेष साधन न थे। महिषादल की नौकरी से मन में एक सुरक्षा का भाव बना हुआ था। अब असुरक्षित दशा में जहाँ-तहाँ भटकना होगा, यह निश्चित था। सूर्यकान्त जल्दबाजी में कोई काम न करते थे। उनको राज्य की नौकरी वैसे ही नापसन्द थी। वहाँ रहते हुए गरीब प्रजा का उत्पीड़न उनसे देखा न जाता था। वह स्वयं अलग होने की बात सोच रहे थे। तभी मन्दिर में कसम खाने की घटना हुई। उन्होंने महिषादल छोड़ने का निश्चय कर लिया।

राजा ने इस्तीफा मंजूर न किया। पर मंजूरी की चिन्ता न करके सूर्यकान्त त्रिपाठी ने अपना सामान नीलाम किया। बड़ा भतीजा महिषादल में था। उसे साथ लेकर सन् '२१ की गर्मियों में उन्होंने गढ़ाकोला की ओर प्रस्थान किया।

टिप्पणी

१. 'कविता-कौमुदी' में प्रकाशनार्थ अपने परिचय में निराला ने यह जन्मतिथि रामनरेश त्रिपाठी को लिखकर भेजी थी।

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी, दौलतपुर को महिषादल से सूर्यकान्त त्रिपाठी, ११. १. २१.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाट्य-रंग

हिन्दी का नया नाटक साहित्य

श्री विष्णुकान्त शास्त्री

हिन्दी नाटक साहित्य के अतीत का यह दुर्भाग्य रहा है कि सांस्कृतिक दृष्टि-सम्पन्न नाटककार और कलाबोधयुक्त रंग-निर्देशक का सम्मिलन नहीं हो सका। राहु और केतु की तरह हिन्दी नाटक के मस्तक और शरीर अलग-अलग ही रहे। हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में साहित्यिक और रंगमंचीय इन दो वर्गों में हिन्दी नाटकों का वर्गीकरण बेखटके किया जाता रहा तथा उनकी आलोचना में अधिमान तथाकथित साहित्यिक नाटकों को ही दिया जाता रहा। व्यवसायी रंगमंचीय नाटकों की चर्चा करीब-करीब जाति-भ्रष्टों की तरह तथा अव्यवसायी रंगमंचीय नाटकों की चर्चा उनकी तनूकृत साहित्यिकता के लिए किंचित् उदारतापूर्वक की जाती थी। आज स्थिति यह है कि नये नाटककार एवं निर्देशक उस रचना को नाटक मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं जो रंगमंच पर खरी न उतरे। रंगमंचबोध-विहीन कोरी साहित्यिक नाट्यकृति के लिए अवज्ञासूचक शब्द चल पड़ा है पाठ्यक्रमीय नाटक या कोर्सबुकी नाटक। यह कहना तो अन्याय होगा कि तथाकथित साहित्यिक नाटक पाठ्यक्रम के लिए ही लिखे जाते रहे; किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे कुछ नाटककारों की दृष्टि पाठ्यक्रम की ओर भी लगी रहती थी। 'रक्तदान' के प्रवेश में श्री हरिकृष्ण प्रेमी की संस्वीकृति है, "फिर बात यह है कि मेरे जैसे लेखक के नाटक पाठ्य-पुस्तक भी बनते हैं। हमारे अध्यापकों को शिकायत होती है कि छोटे-छोटे कथोपकथनों में ऐसा क्या हो सकता है जिसे शिक्षक पढ़ाये और किस प्रकार के प्रश्न उन पर करे? पैसा देनेवाला रंगमंच तो हमारे पास है नहीं और लेखक को रोटी तो खानी है, तब अध्यापकों की माँग भी पूरी करनी पड़ेगी।"[1] ऐसे नाटककारों के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी, जो स्वयं उनकी दृष्टि में 'कला के प्रति बेईमानी' है, उसका समर्थन कैसे किया जा सकता है। वस्तुतः पारसी रंगमंच की विकृति और प्रतिष्ठित हिन्दी नाटककारों की अभिजात प्रवृत्ति के द्वन्द्व ने नाटकों के साहित्यिक एवं रंग-मंचीय जैसे सर्वथा भिन्नजातीय प्रतीत होने वाले कृत्रिम वर्गीकरण को कुछ काल के लिए वास्तविक-सा बना दिया था। निश्चय ही यह समकालीन हिन्दी नाटक की एक बड़ी उपलब्धि है कि नये नाटककारों तथा रंगशिल्पियों के पारस्परिक सहयोग के फलस्वरूप अब न तो भावपूर्ण, गंभीर नाट्य-कृतियों को रंगशिल्पियों द्वारा अनभिनेय घोषित किया जाता है, न रंगमंच का अनुशासन मानने में नाटककारों को अपमान का बोध होता है। 'अन्धायुग', 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'खंडित यात्राएं' जैसे नाटकों का मंचन एवं अश्क, राकेश, कमलेश्वर द्वारा नाट्य-प्रयोग के अनुभवों के आधार पर अपनी कृतियों में संशोधन, परिवर्तन इस बढ़ती हुई स्वस्थ प्रवृत्ति के निश्चित प्रमाण हैं। आज केवल सिद्धान्त के रूप में ही नहीं, व्यवहार में भी यह मान लिया गया है कि नाटक केवल साहित्यिक आलेख न होकर दृश्यतत्त्वयुक्त वह समन्वित कला है जिसकी रचना लेखक, निर्देशक, अभिनेता, अन्य मंचशिल्पी एवं दर्शक संयुक्त रूप से करते हैं। यह ठीक है कि बीजप्रदाता के रूप में इनमें लेखक ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। दुर्बल साहित्यिक कृति का उत्कृष्ट प्रदर्शन भी उसे श्रेष्ठ नाटक का गौरव नहीं दे सकता। इप्टा और पृथ्वी थियेटर्स के नाटक इस कथन के प्रमाण हैं। अश्क ने 'पैंतरे' की भूमिका में बलराज साहनी के नाटक 'जादू की कुर्सी' की तथा धर्मवीर भारती ने अनामिका नाट्य महोत्सव में पठित अपने निबन्ध[1] में पृथ्वीराज के नाटकों 'पैसा', 'पठान', 'दीवार' की

१. रक्तदान—(पृ० ९—हरिकृष्ण प्रेमी)।

१. उक्त निबंध नटरंग के प्रवेशांक (जनवरी १९६५) में 'हिन्दी नाट्यलेखन : कुछ समस्याएँ' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी न्यूनता की उचित आलोचना की है। इससे नये हिन्दी नाटककारों की प्रबुद्धता व्यक्त होती है कि उन्होंने अरंगमंचीय साहित्यिकता तथा असाहित्यिक रंगमंचीयता इन दोनों अतिरेकों से अपनी कृतियों को बचाना चाहा है।

यह भी लक्षितव्य है कि नयी कविता, नयी कहानी, नयी आलोचना की तरह 'नया नाटक' जैसा कोई मुखर आन्दोलन हिन्दी में नहीं उठा। फिर भी चिन्तन और जीवन में परिव्याप्त नवीनता नाटक के क्षेत्र में भी झलकी ही है। आदर्शवादी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के स्थान पर क्रमशः सामाजिक यथार्थ की ओर झुकाव और फिर उसके साथ-साथ चिन्तन-प्रधान, काव्यात्मक, प्रतीकात्मक शैलियों का स्वीकरण आधुनिक हिन्दी नाटकों में देखा जा सकता है। विश्व-साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों की कलम हिन्दी में भी लगाने की झोंक के कारण अर्थहीन नाटक और अनाटक की चर्चा का क्षीण गुंजन भी सुना जा सकता है। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में नवीनता का संचार अपेक्षाकृत रूप से निर्विरोध एवं एक सीमा के भीतर ही हुआ। इसके कई कारण हैं। एक तो अन्य साहित्य-विधाओं की तुलना में हिन्दी नाटक इतना विकसित नहीं था कि उसकी ऐसी सुनिश्चित परम्परा होती, जिसका अतिक्रमण आन्दोलनसाध्य होता, दूसरे नाटकों का क्षेत्र इतना 'अर्थप्रद' भी नहीं था कि स्थापितों और नवीनों में 'बाजार' पर कब्जा करने के लिए तीव्र द्वन्द्व होता, तीसरे कविता-कहानी में तीव्र विरोध के बावजूद अपने को प्रतिष्ठित कर लेने के बाद साहित्य की अन्य विधाओं में नवीनता की स्वीकृति सहज हो गयी।

विरासत के रूप में नये नाटक को अपने अव्यवहित पूर्व हिन्दी नाटकों से मुख्यतः प्राप्त हुई थी प्रसाद की काव्यगरिमा-युक्त आदर्शोन्मुख स्वच्छन्दतावादी नाट्य-परंपरा। हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, वृन्दावन लाल वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, डॉ० रामकुमार वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि नाटक-लेखक न्यूनाधिक रूप में उन्हीं आदर्शों से प्रेरित थे जिनसे प्रसाद परिचालित थे। प्रसाद शैली का सरलीकृत रूप ही इनकी कृतियों में उपलब्ध होता है। प्रसाद और उनके सहयोगियों द्वारा ऐतिहासिक नाटक-सम्बन्धी जनता की आकांक्षा को इतना संतृप्त कर दिया गया था कि उनके तत्काल बाद की पीढ़ी के नाटककारों को नयी शुरुआत करने के लिए सामाजिक यथार्थ के चित्रण की नयी भूमिका ग्रहण करनी पड़ी। किन्तु श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की उलझी हुई भावाक्षिप्त बुद्धिवादिता, सेठ गोविन्ददास की पत्रकारी रचनाधर्मिता तथा उपेन्द्रनाथ अश्क की सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता कोई ऐसी कृति नहीं दे पाई जिसे बड़ी उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जा सकता। फिर भी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है।

बाह्य यथार्थ के विरोध में तो नहीं किन्तु उससे कुछ अलग हटकर आभ्यन्तर यथार्थ का चित्रण करना नये हिन्दी नाटकों की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। आधुनिक समाज-व्यवस्थाओं ने मनुष्य के बाह्य आचरणों को नाना विधि-निषेधों की श्रृंखला से जकड़कर उसका जितना लौहसंघटन किया है, उसके आहत क्षत-विक्षत अन्तर का उतना ही विघटन हुआ है। आधुनिक मनुष्य के इसी आन्तरिक संकट को मूर्त करने का प्रयास नये नाटकों में परिलक्षित होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सामान्य शिक्षित भारतीय जनमानस का विघटन १९५४-५५ के बाद ही तीव्रता से हुआ। उसके पूर्व देश-विभाजन एवं महात्मा गांधी की हत्या के बावजूद स्वतंत्रता, नेहरूछाप समाजवाद, प्रथम पंचवर्षीय योजना की आंशिक सफलता आदि के कारण पश्चिम के सामान्य शिक्षित जन की भाँति न तो भारतीय सामान्य शिक्षित व्यक्ति अपने को दिशाहीन समझता था, न प्रवंचित। उसी के अनुरूप तब तक की हमारी नाट्य-कृतियों में उतने तीव्र विक्षोभ, नैराश्य, लक्ष्यहीन विद्रोह आदि के स्वर नहीं मिलते। जैसे-जैसे उसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में प्रवंचना का मर्मन्तुद अनुभव होता गया वैसे-वैसे हमारी कलाकृतियों में उत्तरोत्तर तिक्तता, दिशाहीनता, अनास्था के स्वर मुखर होते गये, तथापि अब भी यह सत्य है कि हमारी सर्जनात्मक दृष्टि सर्वथा आस्थाहीन नहीं हो गयी है।

इन नाटककारों में जिन्होंने व्यक्ति की अपेक्षाकृत आधारभूत समस्याओं को उठाया है उन्होंने निकटताजनित वर्तमान के ब्यौरों को काटकर उन मूलभूत समस्याओं को किसी ऐतिहासिक या पौराणिक सन्दर्भ में अनुस्यूत कर दिया है। सपाट, शुष्क बौद्धिक विश्लेषण के स्थान पर उन्होंने अपने नाटकों में भावप्रवणता, कल्पना की रमणीयता, काव्यात्मक भाषा का संयोजन किया है। इनमें भी जिन्हें लगा है कि उनका कथ्य और अधिक सूक्ष्म एवं लचीले माध्यम की माँग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है उन्होंने काव्यनाटक लिखे। पुराणप्रिय रसात्मक, भारतीय साहित्य-परम्परा इन नाटकों के पक्ष में जाती थी, यह आकस्मिक नहीं है कि इस काल की तीनों सर्वाधिक चर्चित, अभिनीत एवं अधिमान्य नाट्य-कृतियाँ—'कोणार्क', 'अन्धायुग' एवं 'आषाढ का एक दिन' इसी धारा की हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्र नाथ 'अश्क' और लक्ष्मीनारायण लाल के सामाजिक यथार्थ पर आधारित नाटकों को भारतीय साहित्यिक परम्परा में पगे हुए भारतीय जातीय मानस का प्रच्छन्न विरोध झेलना पड़ा है जबकि भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमी, भट्ट आदि को उसका प्रत्यक्ष एवं जगदीशचन्द्र माथुर, भारती तथा राकेश को उसका परोक्ष सम्बल प्राप्त है। हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी या भारतीय भाषाओं में समर्थ सामाजिक यथार्थवादी नाटक लिखे ही नहीं जा सकते। यदि समसामयिक जीवन पर आधारित प्रथम श्रेणी के कथा-साहित्य की रचना हो सकती है तो नाटकों की भी हो सकती है, किन्तु उसके लिए अधिक शक्तिशाली, सर्जनात्मक प्रतिभा की अपेक्षा होगी, जो नये संस्कार दे सके।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि इतिहास पुराण का परिवेश ले लेने मात्र से ये कृतियाँ प्रसाद युग की ऐतिहासिक-पौराणिक नाट्य-कृतियों की परम्पराभुक्त हैं। वस्तुतः इस विश्वास के अतिरिक्त कि नाटक की उत्कृष्टता के लिए भाव-प्रेरित स्थितियों और चरित्रों की योजना तथा प्रतीकों एवं बिम्बों से समृद्ध भाषा का प्रयोग वांछनीय है, दृष्टि, निष्कर्ष, शिल्प आदि में प्रसादकालीन नाटकों से इनकी और कोई समता लक्षित नहीं होती। प्रसाद भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना चाहते थे जिनसे प्रेरणा ग्रहण कर हम अपना पुनरुत्थान कर सकते थे। उनसे वे घटनाएँ, वे चरित्र सर्वोपरि निष्ठा की माँग करते थे। समसामयिक जीवन के प्रश्न उनसे विच्छुरित प्रकाश-किरणों के आलोक में हल किए जा सकते हैं, यह भी उनका विश्वास था और एक सीमा के भीतर उन्होंने प्रयास भी किया था कि उनसे प्राप्त प्रेरणा से वे हल हों किन्तु इसके लिए वे उन घटनाओं को न तो बदल सकते थे, न चरित्रों को उनके परम्परागत रूप से अन्यथा आँक सकते थे। यह निष्ठा इस सीमा तक थी कि अपने समय में स्वीकृत ऐतिहासिक तथ्यों के प्रतिकूल जाने पर उन्होंने अपने एक नाटक 'यशोधर्म देव' को नष्ट कर दिया था। यह बात भिन्न है कि नवाविष्कृत ऐतिहासिक तथ्यों के कारण उनके कुछ नाटकों की घटनाओं की ऐतिहासिकता संदिग्ध हो जाती है।

किन्तु इन नए नाटककारों के लिए इतिहास उपकरण मात्र है जिसका उपयोग वे अपने कथ्य को अधिक परिस्फुट एवं प्रभावशाली बनाने के लिए करते हैं। उनकी मूल निष्ठा अपने कथ्य के प्रति है, ऐतिहासिक घटनाओं या चरित्रों के प्रति नहीं; अपने कथ्य के अनुरूप घटनाओं की सृष्टि या प्राचीन चरित्रों को बिलकुल आधुनिक प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने में उनको हिचक नहीं होती। यह दृष्टि उचित है कि नहीं, इस पर विवाद हो सकता है, किन्तु इसके चलते सृष्टि को तो अस्वीकारा नहीं जा सकता।

स्वाधीनता के बाद लिखित लक्ष्मीनारायण मिश्र या डॉ० रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाटक जहाँ किसी प्राचीन भारतीय विचार या चरित्र को समाधान या आदर्श के रूप में उपस्थित करते हैं वहाँ ये नए नाटक गहरे अन्तर्द्वंद्व, उलझाव और भटकाव में से सत्य को तलाशते-से प्रतीत होते हैं। कोई बना-बनाया समाधान ये नहीं देते बल्कि कुछ प्रश्न-चिह्न लगाते हैं। सम्भावित सत्य की ओर अग्रसर होने के लिए इनके चरित्र जो कदम उठाते हैं, उनसे सहमत होना हर समय सम्भव नहीं होता क्योंकि ये वैयक्तिक निर्णय हैं, जो सामाजिक स्वीकृति या समर्थन से निरपेक्ष होकर किये गए हैं, अतः विवादास्पद होने के लिए बाध्य हैं। फिर भी ये नाटक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि अपने समय की प्रबल आकांक्षाओं को व्यक्त करने का, गहरी शंकाओं या चुनौतियों से जूझने का सर्जनात्मक प्रयास इनमें स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इन नाटककारों ने लोकग्राह्यता की तुलना में विशिष्टता को अधिक महत्त्व दिया है। इनके कथावस्तु-संयोजन, चरित्रांकन, संवाद सभी में सामान्यातिरिक्तता झलकती है। नाटक में यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने की परिपाटी को वे त्याग चुके हैं क्योंकि प्रभाव-सृष्टि की दृष्टि से उसकी दुर्बलता और फिल्म की तुलना में अपूर्णता प्रमाणित हो चुकी है। उनकी आस्था प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण पर है जिसमें सांकेतिक कल्पनाशीलता के साथ-ही-साथ संगीत, आलोक-सम्पात आदि पार्श्व-प्रभावों का कलात्मक संयोजन किया जाता है।

इस धारा की पहली प्रभावशाली कृति जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' में 'कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन' को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक दायित्व-बोध से युक्त कर प्रस्तुत किया गया है। यह समकालीन प्रगतिवाद की प्रतिध्वनि मात्र भले ही न हो किन्तु १९५१ में प्रकाशित इस नाटक पर १९३६-३७ से चले आने वाले इस विचार-मंथन का गहरा और स्पष्ट प्रभाव है कि साहित्यकार किसके लिए लिखे—कस्मै देवाय हविषा-विधेम—सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में भूले हुए कलाकार को जीवन के संघर्ष और सत्ता के अत्याचारों के प्रति सजग करना, अपनी कलासृष्टि को पराजय का प्रतीक न बनने देने की उसे प्रेरणा देना और चरम प्रतिकार के लिए सन्नद्ध करना ही नाटककार का उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति उसने अल्प-मात्रा में ही इतिहास का सहारा लेकर 'कोणार्क' के बनने और टूटने के अपने कल्पित क्रम के माध्यम से इस 'अद्भुत सुथरी सन्तुलित कलाकृति' के द्वारा की है। विध्वस्त 'कोर्णाक' कलाकार का बदला है, यह भावुक कल्पना युग की एक विशिष्ट आकांक्षा को तृप्त करने के कारण ही इतनी लोक-प्रिय हो सकी। एक ही केन्द्रीय विचार के चारों ओर बुनी हुई कथा, विशु और धर्मपद की जीवन्त चरित्र सृष्टियाँ, परिस्थितिजन्य द्वन्द्व का चरम तक प्रभविष्णु निर्वाह, काव्यात्मक संवाद, इन गुणों ने कोणार्क का गौरव और बढ़ा दिया है। किन्तु युग के बदले हुए आज के मिज़ाज से इसकी भी अतिरंजनाएँ उतनी प्रभावशालिनी नहीं लगतीं।

माथुरजी की दूसरी कृति 'शारदीया' कोणार्क की तुलना में दुर्बल है। इसमें असफल एकनिष्ठ प्रेम की करुणा को उभारने का प्रयास किया गया है जो बहुत सफल नहीं हो सका है। 'शारदीया' की दुर्बलता के कई कारण हैं। एक तो देवदास की मनोवृत्ति आज की वास्तविकता के प्रतिकूल पड़ती है, दूसरे इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, सामन्तवादी व्यवस्था की दुर्बलता आदि का चित्रण करने के लिए अवान्तर घटनाओं का इतना विस्तार किया गया है कि मूल भाव उनसे आच्छन्न-सा हो गया है, तीसरे इसमें न तो युग की किसी नयी बड़ी चुनौती की स्वीकृति है न किसी पुरानी समस्या का ही तलस्पर्शी विश्लेषण।

धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' सशक्त नाट्य-कृति है जिसमें समसामयिक जीवन की विभीषिका महाभारतोत्तर पट भूमिका में चित्रित है। १९५४ में रचित इस काव्य नाटक की प्रेरणा केवल भारतीय परिवेश से नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से भी, बल्कि मुख्यतः उन्हीं से आई है। दो-दो विश्वयुद्धों को निष्णेषणकारी यातना, तीसरे सर्वनाशी युद्ध की प्राणशोषी आशंका, व्यक्तिगत, दलगत एवं राष्ट्रगत स्वार्थों के लिए सिद्धान्तों की निर्लज्ज प्रवंचना, सामाजिक मूल्यों के विघटन से उत्पन्न जीवन की मर्यादाहीन स्थिति, संशय, ग्लानि, व्यर्थताबोध आदि का उत्कट संवेदन विश्व-चेतना के स्तर पर कर, उसे सर्वविदित भारतीय पौराणिक सन्दर्भ से युक्त कर सामान्य प्रबुद्ध हिन्दी पाठक को दृश्य-काव्य के माध्यम से उसकी तीखी अनुभूति करा पाना निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि है। और फिर इस तिमिराच्छन्न स्थिति में भी जब विजय तिल-तिलकर फलीभूत होने वाले आत्मघात का पर्याय लगती हो (युधिष्ठिर) अमानुषिक अर्धसत्य घृणा का तर्क ले पशुओं के स्तर पर उतर गया हो (अश्वत्थामा), प्रवंचित आस्था आत्मघाती हो गई हो (युयुत्सु), निरपेक्ष सत्य निष्क्रिय रहकर अपने अस्तित्व का अर्थ खोता जाता हो (संजय), तब भी मन में बीज-रूप में स्थित साहस, स्वतन्त्रता नूतन सर्जन के तत्त्व (श्रीकृष्ण) पर आस्था रखना वस्तुतः अन्धों के माध्यम से उस ज्योति की कथा प्रस्तुत करना ही है जो अन्ततोगत्वा व्यक्ति के विवेक से ही प्राप्य है। अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद 'अन्धा युग' निस्सन्देह हिन्दी का श्रेण्य ग्रन्थ है। एक क्षयिष्णु समाज की ह्रासोन्मुख संस्कृति के आभ्यन्तर यथार्थ को कुशलतापूर्वक अंकित किया गया है अन्धायुग में।

दुष्यन्त कुमार का 'एक कंठ विषपायी' इसी धारा का एक अन्य उल्लेख्य काव्य नाटक है जिसमें 'जर्जर रूढियों और परम्परा के शव से चिपटे' लोगों के मोह और मोह-मुक्ति की मनःस्थिति का चित्रण शिव-सती की गाथा के माध्यम से किया गया है, किन्तु कई स्थलों पर मर्मस्पर्शी होकर भी अपने समग्र रूप में यह प्रत्यायक (कन्विन्सिग) नहीं हो पाया है, विशेषतः विष्णु के प्रणाम बाण छोड़ते ही शंकर का क्रोध शान्त हो जाना, सम्भावित युद्ध एवं रक्तपात का थम जाना एक चमत्कार-सा लगता है जो न दृश्य काव्य में, न वर्तमान सन्दर्भ में ही किसी विश्वसनीय महत्त्वपूर्ण अर्थ का द्योतन करता है। इस दुर्बल अन्त के अतिरिक्त पीड़ित-प्रवंचित प्रजा के प्रतीक सर्वहुत तथा राजसत्ता के लोलुप इन्द्र, वरुण आदि के चरित्र मूल कथ्य को प्रभावपूर्ण बनाने के स्थान पर क्षीण बनाते हैं।

मृत्यु के साक्षात्कार द्वारा मृत्यु के भय का अतिक्रमण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना तथा दर्पस्फीति अहं की कारा से मुक्त हो विराट् को समर्पित होने की साधना अज्ञेय के लेखन के दो प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। अपने गीतिनाट्य 'उत्तर प्रियदर्शी' में अशोक-सम्बन्धी कुछ पुराकथाओं के आधार पर उन्होंने व्यक्ति के स्फीति अहं से निर्मित नरक···उसके अन्तःस्थ नरक में उसी के फँसने, ऐंठन, टूटन, तड़पन की मरण-यातना को सहने और फिर पारमिता करुणा के सहारे उससे मुक्त होने की गाथा प्रस्तुत की है। इस प्रकार इसमें उन्होंने इन दोनों बोधों को समन्वित कर दिया है। इस नाटक का स्वर 'शुद्ध नाट्य-धर्मी' है। वस्तुगत यथार्थ या स्थूल उत्तेजनापूर्ण घटनाओं के प्रत्याशी इसे पढ़कर या देखकर निराश ही होंगे। किन्तु प्रस्तुत कृति से इसकी अपेक्षा ही अन्याय है। इसकी सूक्ष्म सांकेतिकता और सहज विलम्बित गति के लिए अज्ञेय जापानी नाट्यकार नोऽ के अंशतः ऋणी हैं।

इस नाटक के अशोक की तरह ही आज का व्यक्ति भी एक ही साथ एक तरफ तो जन-जन से अनातंकित, उदार, उजला दुलार चाहता है और दूसरी तरफ अपने प्रेत शत्रुओं को शमित कर कड़ी यंत्रणा, नरकयातना देना चाहता है···यथा-सम्भव देता भी है। परिणामतः स्वयं नरक की कालजिह्व ज्वालाओं में झुलसता रहता है। उसकी मुक्ति उसीके अन्तर से निःसृत करुणा द्वारा ही सम्भव है, उसीको जगाने का निर्देश भिक्षु के माध्यम से नाट्यकार देता है। आज के सन्दर्भ में यह समाधान अत्यन्त सरलीकृत और उपदेशात्मक-सा प्रतीत होता है और यही इस नाटक की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। आज का व्यक्ति अपनी अन्तःस्थ करुणा को जगाकर यदि भीतरी नरक से मुक्ति पा भी ले तो भी बाहरी नरक का क्या होगा, जिस पर उसका कोई अधिकार ही नहीं है। नहीं, आधुनिक व्यक्ति को इतनी सरलता से मुक्ति नहीं मिल सकती।

मोहन राकेश के 'आषाढ का एक दिन' का कालिदास व्यक्ति न होकर 'सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है'। नाटककार की चेष्टा है कि उसका चरित्र किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करने वाले अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करे। ऐसा लगता है कि इस नाटक की मुख्य समस्या कलाकार की अन्तरंग प्रतिबद्धता की समस्या है। उसका अन्तर्द्वन्द्व यह निश्चय न कर पाने के कारण है कि कलाकार की सर्वोपरि प्रतिबद्धता किसके प्रति है, अपनी कला के प्रति, प्रेयसी के प्रति या राज्य के दायित्व के प्रति? नाटककार ने दिखाया है कि प्रेम कलाकार की आन्तरिक क्षमता का विकास करता है और राज्याश्रय से उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, किन्तु अपने आधार से कटकर राज्याधिकार ग्रहण करने पर कलाकार भीतर-भीतर टूटता और रीतता जाता है। राज्याधिकार से लिप्त होना कलाकार के लिए घातक है, यह निष्कर्ष स्पष्ट है, किन्तु कला और प्रेम के प्रति दायित्व-निर्वाह के द्वन्द्व को प्रथम अंक में संकेतित-भर कर अन्त तक अमीमांसित छोड़ दिया गया है। प्रेम के प्रति समर्पण के भावुकतापूर्ण अन्तर्निहित संकेतों के बावजूद इस नाटक के कालिदास के आचरणों से उसका जैसा सुविधावादी एवं स्वार्थपर रूप उभरता है उसे कलाकार के लिए आदर्श मानना तो दूर की बात है, उचित मानना भी अस्वीकार्य है। बड़े कलाकारों में भी दुर्बलताएँ हो सकती हैं, किन्तु किसी भी क्षेत्र में वस्तुतः बड़ा होने के लिए अनिवार्य है कि व्यक्ति मूलतः अच्छा हो। कालिदास के नाम पर किसी क्षुद्र कला-कार का चरित्र चला देना और उसे 'मानवीय धरातल पर रहकर भी जीवन में कुछ महान् किया जा सकता है' कहना विवेचकों को कैसे मान्य हो सकता है? इसी तरह मल्लिका को कालिदास की प्रेयसी और प्रेरणा से आगे जाकर आस्था मानना समझ में न आने वाली बात है। और यह भी कि बार-बार प्रवंचित होकर भी उसके मन में आक्रोश क्यों नहीं जागता, वह मानवी से अधिक देवी या यों कहिए मूर्तिमती समर्पण-सी लगती है। वस्तुतः इस नाटक की लोकप्रियता के मूल में मल्लिका के उत्सर्गपूर्ण चरित्र का सम्मोहन है, इसकी रोमानी प्रवृत्ति है, इसकी आकर्षक शैली है, इसकी बौद्धिक मीमांसा नहीं।

'लहरों के राजहंस' में प्रवृत्ति (सुन्दरी) एवं निवृत्ति (बुद्ध) या पार्थिव एवं अपार्थिव मूल्यों के प्रति युगपत् रूप से आकृष्ट आधुनिक मनुष्य (नन्द) के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है। ऐतिहासिक तथ्य की माँग के कारण इस नाटक का नन्द अन्त में सुन्दरी के क्षोभ का गलत अर्थ लगाकर उसको त्याग-कर बुद्ध के पास चला जाता है किन्तु उसका अन्तःकरण तब भी दुविधाग्रस्त है जिसका अर्थ यही है कि अन्त तक वह अपनी दोनों आन्तरिक आवश्यकताओं, इन दोनों मूल्यों में से किसी एक को दूसरे से पूर्णतः निरपेक्ष होकर ग्रहण नहीं कर पाता। इसी के साथ-साथ स्त्री-पुरुष की आधारभूत प्रवृत्तियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सम्बन्ध में नाटककार का संकेत यह प्रतीत होता है कि स्त्री पुरुष को अपने से, पार्थिव मूल्यों से सर्वथा बाँध रखना चाहती है जबकि पुरुष अंशतः उस बन्धन को स्पृहणीय समझ-कर भी अपनी चरितार्थता के लिए अपार्थिव मूल्यों का संधान करता रहता है। इसे आत्यन्तिक सत्य के रूप में स्वीकार करना कठिन है। 'आषाढ का एक दिन' की तुलना में 'लहरों के राजहंस' की प्रतीक योजना अधिक जटिल, घटना-प्रवाह अधिक क्षिप्र और अन्तर्द्वन्द्व अधिक गहरा है। 'आषाढ का एक दिन' के समान लोकप्रिय न होने पर भी यह कृति सम्भवतः उससे अधिक गौरव की अधिकारिणी है।

व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ को समसामयिक जीवन के सन्दर्भ में सफलतापूर्वक अंकित करना अपेक्षाकृत रूप से सरल लगने पर भी वस्तुतः अधिक कठिन है। इसमें सामा-जिक जीवन के विश्वसनीय परिवेश के भीतर ही उसके दबावों के कारण व्यक्ति के मानसिक तनावों, ऊहापोहों आकांक्षाओं, पावन संकल्पों, कुंठाओं, विकृतियों को अंकित करना पड़ता है। अपने प्रयोजन के अनुरूप अर्ध-कल्पित ऐतिहासिक परिवेश में संकेतात्मक समकालीनता की अनुभूति कराने की सुविधा यहाँ नहीं रहती। यह ठीक है कि नवीनतम प्रवृत्ति परिवेश की बाह्य विश्वसनीयता की ओर अधिक ध्यान नहीं देती, उसके प्रभाव को अमूर्त चित्रकला की शैली में झलकाना चाहती है। किन्तु अभी हिन्दी नाटक के क्षेत्र में इसका सूत्रपात भर हुआ है, अतः इस पर इस स्थिति में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता।

इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम श्री लक्ष्मीनारायण लाल का है। रंगमंच के प्रति उनकी गहरी आस्था एक ओर तो उनके कर्मठ नाट्य प्रयोक्ता के रूप में प्रकट हुई है, दूसरी ओर उर्वर नाट्यकार के रूप में। अन्धा कुआँ (१९५६) से दर्पन (१९६४) तक उनके नौ पूर्णकालिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें विषयवस्तु-चयन, शिल्प-शैली आदि की इतनी विभिन्नता है कि लगता है नाटककार के लिए प्रयोग बहुत बड़ा मूल्य है या यह भी सम्भव है कि वह अभी तक अपनी शैली की तलाश में ही है। इन दोनों ही स्थितियों में ये संकेत तो निहित हैं ही कि ये कृतियाँ सिद्धि की पूर्व प्रस्तुति मात्र हैं तथा अपनी विशिष्ट शैली को खोज लेने के बाद नाटककार उसमें अपनी और उत्कृष्ट कृतियाँ दे सकेगा। श्री लाल की विविधता का आभास इसी से मिलता है कि उन्होंने यथार्थ-वादी शैली में ग्राम जीवन का चित्रण (अंधा कुआँ), लोक-नाट्य शैली में लोक-कथा का नाट्य रूपान्तर (नाटक तोता मैना), प्रतीकात्मक गीत-नाट्य शैली में भाव-सत्य का निरूपण (सूखा सरोवर), सामाजिक विकृतियों पर मृदुल व्यंग्य (सुन्दर रस), बाह्य सामाजिक समस्याओं का दिग्दर्शन (रक्त कमल) तथा व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ का उद्घाटन (मादा कैक्टस, रात रानी, दर्पन आदि) करने का प्रयास किया है। उन्हें सर्वाधिक सफलता व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ के उद्घाटन में मिली है और मादा कैक्टस तथा दर्पन निश्चय ही दो श्रेष्ठ नाट्य-कृतियाँ हैं। जीवन के, विशेषतः यौन नैतिकता के बद-लते हुए मूल्यों को रेखांकित करने का प्रयास है मादा कैक्टस। नर-नारी की निविड़ निकटता विवाह के कवच में ही मर्यादित और सुरक्षित है या बन्धुत्व के मुक्त साहचर्य द्वारा आनन्द और प्रेरणा के आदान-प्रदान में सार्थक तथा साफल्य मण्डित? और जब परम्परा (सुजाता) बहरी हो जाये तथा प्रगति (आनन्दा) क्षयग्रस्त, तब क्या हो? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आधुनिक संस्कार (अरविन्द) जिसे सबसे ज्यादा महत्त्व देते हैं अनजाने उसी मूल्य का खून कर डालते हैं? इस नाटक में नाटककार ने प्रश्न ही बिखेरे हैं, संभवतः इस आशा से कि उत्तर के अंकुर जीवन की धरती से ही उगेंगे। अपने वास्तविक स्वरूप की तलाश करने की आकुल चेष्टा, परस्पर-विरोधी मूल्यों के युगपत् आकर्षण के कारण निर्णय न कर पाने की यातना और अन्त में व्यक्तिगत सुखोपभोग के ऊपर सामाजिक मंगल के लिए आत्मोत्सर्ग की प्रतिष्ठा का मर्मस्पर्शी अंकन 'दर्पन' में किया गया है। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में भारतीय संस्कृति और आधुनिकता का समन्वय करने की सन्तुलित चेष्टा झलकती है जो सर्वथा समर्थनीय है, किन्तु कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि उनमें जितना उत्साह है, उतनी सामर्थ्य नहीं, जितनी प्रयोगशीलता है, उतनी उपलब्धि नहीं, जितनी उर्वरता है उतनी उत्कृष्टता नहीं।

ग्राम सुधार एवं देश-रक्षा-सम्बन्धी कई नाटक लिखने के बाद श्री ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने अपनी नवीनतम कृति 'शुतुर्मुर्ग' में वर्तमान राजनीतिक दुरवस्था पर शक्तिशाली व्यंग्य किया है। दिल्ली को शुतुरनगरी में परिवर्तित कर देने के कारण वे अन्योक्ति पद्धति की सहायता से वर्तमान की वस्तुनिष्ठता से बचकर वर्तमान की विरूपता को, दिल्लीश्वर के शुतुरमुर्ग सदृश आचरण की ओट में छिपी उसकी दुर्बलता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूर्तता, प्रवंचकता को और उन सबकी व्यर्थता को परिहास-परक शैली द्वारा उजागर करने में बहुत दूर तक सफल हुए हैं। अनामिका में अपने अभिकल्पित नाट्य-प्रयोग द्वारा इसकी अन्तर्निहित क्षमता का अच्छा उद्घाटन किया है। यह ठीक है कि इस नाटक के संकेत बहुत-कुछ स्थूल हैं और कथा अपेक्षाकृत रूप से छिछली, तथापि यह श्री अग्निहोत्री के विकसित नाटककार का निश्चित प्रमाण है।

श्री ललित सहगल कृत 'हत्या एक आकार की' महात्मा गांधी (इस नाटक में वह के द्वारा संकेतित) के हत्यारे के अन्तर्द्वन्द्व को मूर्त करने वाला प्रभविष्णु नाटक है। 'उसकी' और 'उसके' कई विगत कार्यों की महत्ता को स्वीकारते हुए भी, 'उसकी' कुछ पिछली और वर्तमान कार्यवाही को देश-हितविरोधी मानने के कारण बिना किसी व्यक्तिगत शत्रुता के एक छोटे-से दल के सदस्य 'उसकी' हत्या की कूट योजना बनाते हैं। सहसा उन्हीं में से एक इस निर्णय के औचित्य के प्रति शंकालु हो उठता है, और अपने उस सदस्य की शंका का निराकरण करने के लिए दल 'उस' पर मुकदमा चलाकर 'उसे' अपराधी प्रमाणित करना चाहता है ताकि 'उसकी' हत्या का नैतिक आधार प्राप्त हो सके। वह शंकालु सदस्य 'उसका' वकील बनकर 'उस' पर लगाये अभियोगों का खण्डन करता है, उस विरोधी सदस्य की दलीलों को प्रबल पड़ता देख उस दल के लोग अपने उस सदस्य का गला घोंटकर 'उसकी' हत्या कर देते हैं।

यह पूरा मुकदमा आन्तरिक वृत्तियों के अन्तःसंघर्ष की बाह्य अभिव्यक्ति है। वस्तुतः वह विरोधी युवक उस हत्यारे का अपना विवेक ही है, वह न्यायाधीश, वह इतिहासकार उसके अपने न्याय एवं तथ्यपरक औचित्य के बोध के प्रतिरूप मात्र हैं और वह वादी वकील है उसका अपना हठाग्रह, मतान्ध संकीर्ण विश्वास।

नाटककार और अभियान (नाट्यप्रयोक्ता दल) इसके लिए बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने इस कृति को वृत्तनाटक की प्रामाणिकता के बावजूद प्रचारात्मक होने से बचा लिया है। 'उसके' विरुद्ध जो कुछ कहा जा सकता था, उसे पूरे पैनेपन के साथ कहा गया है और 'उसकी' हत्या की योजना के पीछे के क्षोभ को सही-सही ढंग से रखकर भी उस पूरे चिन्तन की विसंगति, विकृति और घृणित परिणति को कलात्मक स्तर पर दरसाया गया है। निश्चय ही हम ललित सहगल से भविष्य में ऐसे बहुत-कुछ की आशा रख सकते हैं, जिससे हिन्दी का नाटक साहित्य गौरवान्वित होगा।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों में ख्यातिप्राप्त नरेश मेहता, लक्ष्मीकान्त वर्मा, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी, सत्येन्द्र शरत् आदि ने नाटक के क्षेत्र में भी कुछ प्रयोग किये हैं। अपने संस्कारों और विश्वासों के कारण नाटक के माध्यम से भी इन्होंने व्यक्ति के अन्तर की विविध परतों को उधेड़कर उसके वास्तविक रूप को प्रस्तुत करना चाहा है। नरेश मेहता कृत 'खंडित यात्राएँ' और मन्नू भंडारी कृत 'बिना दीवारों के घर' अपनी सीमाओं के बावजूद मर्मस्पर्शी हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने कथाहीन नाटक 'अपना-अपना जूता' (१९६४) लिखकर एक नया प्रयोग किया तो आलोक शर्मा ने एक कदम और आगे जाकर केवल कथाहीन ही नहीं संवादहीन नाटक 'चेहरों का जंगल' (१९६७) की रचना की। हमारी जानकारी में भारतीय साहित्य में सम्भवतः यह पहला ही संवादहीन नाटक है जिसमें महानगर के 'चेहरों के जंगल' में भटकते हुए समाज से अलग पड़ जाने के कारण अकेलेपन की यंत्रणा भोगते व्यक्ति की रोज़मर्रा की ऊबभरी अर्थहीन ज़िन्दगी और मानसिक शान्ति की बेचैन तलाश को केवल मूक अभिनय के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है।

इसी प्रकार काशीनाथ सिंह का नाटक 'घोआस' (१९६७) आज के भयाक्रान्त, अर्थहीन जीवन के अन्तरंग को चित्रित करने का प्रयास है, जिसमें उसकी बाहरी हलचल, विधि-व्यवस्था को अग्राह्य कर उसके प्रभाव परिणाम को झलकाने की चेष्टा की गई है। पासी, घीसा, मास्सा, फूजी, नाजी आदि कुछ अत्यन्त ऊबे हुए, विवश-से भयाक्रान्त लोग हैं, जो कुछ भी सर्जनात्मक कार्य करने में असमर्थ हैं क्योंकि 'कोई' है जो सर्वत्र है या हो सकता है जो हत्या भी करता है, और जिसकी उपस्थिति उन्हें असह्य है किन्तु वह मिलता ही नहीं, कैसे उससे युद्ध किया जाय, कैसे हत्या का बदला लिया जाय! कुछ लोग फिर भी उसकी तलाश में लगे रहते हैं किन्तु एक (पासी) उस किसी का प्रतिरोध करने में भी अपने को असमर्थ पाता है और उसकी वृथा तलाश में चरमन की छत पर जाने से बेहतर मानता है, नफरत से भरकर यों ही पड़े रहना। शायद यही परिणति है आज के बुद्धिजीवियों की भी!

मुद्राराक्षस के नाटक 'मरजीवा' और 'योर्स फेथफुली'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं उनके शब्दों में 'बेहद, क्रूड ढंग की हिंसात्मक कृतियाँ' हैं। दुर्भाग्य से ये अभी तक अमुद्रित हैं, अतः इन्हें हम देख नहीं पाए और मुद्राजी नहीं चाहते कि 'छद्म नाटकों' पर लिखे पंचमेल लेख में उनकी चर्चा की जाए। क्योंकि उनके अनुसार "हिन्दी तो परम्परा है कविता कहानीनुमा नाटकों की ही चर्चा की। मंच से ही जनमे और व्यवस्था-विरोधी कड़वे नाटकों के ज़िक्र का सवाल क्यों उठे ?"

स्पष्ट है कि १९६० के बाद नाटक-लेखन के क्षेत्र में भी ऐसे स्वर उठ रहे हैं जो कथ्य और शैली दोनों ही दृष्टियों से नये नाटकों के एक और नये मोड़ के सूचक हैं। ये नये प्रयोग हिन्दी रंगमंच पर कैसे उतरेंगे, यह बिना वास्तविक मंचन के कैसे कहा जाए, किन्तु आशंका यही है कि इनसे दर्शकों की माँग और नव्यतम प्रवृत्ति के बीच का गहरा विच्छेद ही मूर्त हो उठेगा। समसामयिक साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी सामान्य पाठकों और कृतिकारों के बीच जो दूरी बढ़ती जा रही है, उसका समर्थन करना कठिन है। फिर भी कवियों, कथाकारों की, विशेषतः कवियों की स्थिति ऐसी है कि वे अधिक स्वतंत्रता बरत सकते हैं, किन्तु नाटककार को अपने साथ दर्शकों को लेकर चलना ही होगा अन्यथा पाठ्यक्रमीय न सही, अवास्तविक नाट्य-कृतियाँ ही रूप ग्रहण करेंगी। अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य-साहित्य के स्तर पर पहुँच जाने की झोंक में प्रयोगातिशयता को ही चरम मूल्य मान बैठने वाले नाटककारों को यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि वे पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने के लिए ही नाटक नहीं लिखना चाहते तो अपने रंगमंच, अपने दर्शक समाज और अपनी नाट्य-परम्परा के सन्दर्भ में ही उनके प्रयोग सार्थक हो सकेंगे।

यह हम मानते हैं कि यदि समकालीन लोकरुचि एवं रंगमंच को ही दृष्टिगत रखकर नाटक लिखे जाते तो न तो उनका संस्कार ही सम्भव होता न उत्कृष्ट नाटकों का सृजन ही। निश्चय ही श्रेष्ठ नाटककार की प्रतिभा समकालीन स्तर को और ऊपर उठने की चुनौती देगी, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्नयन आन्तरिक क्षमताओं के अनुरूप ही हो सकता है। पुरानी रूढ़ियों और सस्ती लोकरुचि के अंकुश को स्वीकार करना जितना घातक है, बाहर की चमक-दमक का सस्ता और कच्चा-पक्का अनुकरण उससे भी अधिक घातक है। जो इन दोनों से मुक्ति पाकर भारतीय नाट्य-परम्परा की गहराइयों में उतरकर उसके जीवन्त तत्त्वों के साथ अपने परिवेश में स्वीकार्य आधुनिकतम उपलब्धियों का मणिकांचन संयोग कर सकेगा वही भावी हिन्दी नाटक को सही दिशा दे सकेगा। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

कविता और राजनीति का तनाव

नेमिचन्द्र जैन

हर सार्थक कविता हमारी रोज़मर्रा की दुनिया के जाने-पहचाने उपकरणों की सहायता से एक ऐसे संसार की रचना करती है जो किसी-न-किसी ढंग से किसी-न-किसी सतह पर उस परिचित दुनिया की हमारी पहचान को गहरा या विस्तृत, तीखा या नया कर सके। इस नई पहचान से कभी तो हमें अचरज होता है, कभी खीझ या चिढ़ होती है, कभी कुछ परिपूर्णता का अनुभव होता है, कभी अपने ऊपर तरस आता है, या कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस पहचान के कारण ही रोज़मर्रा की इस परिचित दुनिया में हम अकेले हो जाते हैं, उससे और अपने-आप तक से अजनबी हो उठते हैं। इसके अलावा और भी कई प्रकार से कविता हमें अपने संसार से जोड़ सकती है या अलग कर सकती है। मगर यह सब उसी हद तक होता है जिस हद तक स्वयं कवि का रोज़मर्रा की दुनिया से लगाव या उलझाव सच्चा और गहरा रहा हो और वह उस पहचानी हुई दुनिया के जीवन्त, प्रासंगिक और मूल्यवान अनुभव को लेकर अपने नये संसार की रचना कर सका हो। अपना संसार रचने की इस प्रक्रिया में कवि कई बार भटक भी जाता है या अप्रासंगिक और निरी भड़कीली बातें या उपकरण उसे उलझा लेते हैं। या वह 'अपना', केवल अपना, संसार रचने के प्रयास में रोज़मर्रा की दुनिया से इतनी दूर चला जाता है कि उस दुनिया से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं बचता और इस प्रकार उससे कविता का सम्बन्ध भी शिथिल हो जाता है। क्योंकि कवि के संसार का 'अपनापन' या तो उसकी रचना में लगे उपकरणों के विशेष चुनाव से, या उन्हें विशेष प्रकार से गूंथने और संयोजित करने से, या कवि की विशेष दृष्टि और मूल्यों के पैमाने के कारण ही पैदा हो सकता है। 'अपने अलग संसार' के नाम पर एक सर्वथा निजी, काल्पनिक, रोज़मर्रा की दुनिया से एकदम या प्रायः कटी हुई, कोई दुनिया रच डालने से नहीं।

पिछले दिनों हिन्दी का बहुत-सा काव्य-लेखन इसी 'अपने संसार' की, एक काल्पनिक 'अद्वितीयता' की तलाश में रोज़मर्रा की दुनिया से कटकर एक नये परीलोक (या पाताल लोक ?) में क़ैद होता गया है। अनोखेपन की इस मृगमरीचिका के पीछे भागने में ज़िन्दगी के अधिकांश प्रबल, गहरे और बुनियादी अनुभवों और आवेगों से, चारों ओर की जीवन्त धड़कती दुनिया से, उसका सम्बन्ध या तो अपने-आप टूट गया है, या उसे 'आम' समझकर कवि ने जान-बूझकर उससे अपने-आपको काट लिया है। 'निजी' या 'खानगी' की इस तलाश का कुछ ऐसा आतंक और अत्याचार कवि के ऊपर रहा कि वह हर साझेदारी से, सामूहिक कार्य और उसमें उलझाव से—जैसे राजनीति से—कतराना और बचना अपने कवि-कर्म के लिए आवश्यक और अनिवार्य मानने लगा। उसने यह सिद्धान्त गढ़ लिया कि व्यापक सामाजिक उथल-पुथल में—राजनीतिक ज़िन्दगी जिसका एक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख अंश है—हिस्सा लेना दूसरों का, और कुछ घटिया, काम है। इस हालत में यह अनिवार्य ही था कि इस कारण वह हर प्रकार के व्यापक और प्रबल सामूहिक अनुभव से अजनबी हो गया और अपने परिवेश के साथ उसका सम्बन्ध सहभागी का होने के बजाय बाहरी दर्शक, आलोचक या टिप्पणीकार का बनने लगा। तीखे व्यंग्य-विद्रूप तथा कुंठित आक्रोश की दिशाहीन, परिप्रेक्ष्यहीन और प्रायः संगतिहीन अभिव्यक्ति को छोड़कर, हिन्दी की कविता से राजनीतिक स्थितियों, कार्यों और सम्बन्धों का ही नहीं, प्रायः हर प्रकार के सामाजिक-सामूहिक सम्बन्धों और उनके जीवन्त बदलते स्वरूपों का भी निष्कासन-जैसा हो गया। इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़कर समकालीन हिन्दी कविता एक अजीब तरह की आत्मरति, बचकानी प्रदर्शनप्रियता और क्लीवतापूर्ण झुंझलाहट से भर गयी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस परिप्रेक्ष्य में रघुवीर सहाय का नया कविता-संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' उमसभरे दमघोंट वातावरण में हवा के झोंके के समान है क्योंकि उसमें वैयक्तिकता इतनी 'खानगी' या 'प्राइवेट' नहीं, बल्कि सामान्य यथार्थ के साथ निजी साक्षात्कार से उत्पन्न होती है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' में प्रस्तुत संसार कविता के सच्चे अर्थ में रोज़मर्रा की जानी-पहचानी दुनिया के हमारे अनुभव को कुछ अधिक गहरा और सार्थक बनाता है। इन कविताओं में सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों, कार्यों, परिणतियों, दृष्टिकोणों, विचारों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आधार बनाकर उनके भीतर से व्यक्ति, समुदाय और देश की---सम्भवतः पूरे युग की—आत्मा को पहचानने का प्रयास है। आज़ादी मिलने के बाद पिछले बीस वर्षों में हमारा देश और समाज कल्पनातीत आडंबर, ढोंग और झूठ से ढँक गया है, सर्वग्रासी स्वार्थलिप्सा, सहानुभूति-हीनता और उदासीनता ने समुदाय के हर अंश को, विशेषकर सत्ताधारी और सुविधाभोगी अंश को, दबोच लिया है।

महासंघ का मोटा अध्यक्ष
धरा हुआ गद्दी पर
खुजलाता है उपस्थ
सर नहीं
हर सवाल का उत्तर देने से पेश्तर
....

आँख मारकर पचीस बार हँसे वह, पचीस बार
हँसें बीस अखबार

एक नयी ही तरह की हँसी यह है (नयी हँसी)

इस क्रूर निर्मम हँसी के दौर में आम आदमी पिछले बीस वर्षों में लगातार कितना बेबस होता गया है :

बीस बरस बीत गये
लालसा मनुष्य की तिल तिल कर मिट गई
....

टूटते-टूटते जिस जगह आकर विश्वास हो जाएगा
बीस साल
धोखा दिया गया
वहीं मुझे फिर कहा जाएगा विश्वास करने को
पूछेगा संसद में भोला-भाला मंत्री
मामला बताओ हम कार्रवाई करेंगे
हाय-हाय करता हुआ हाँ-हाँ करता हुआ हें-हें करता हुआ
दल का दल
पाप छिपा रखने के लिए एकजुट होगा
जितना बड़ा दल होगा उतना ही खाएगा देश को

सबसे बड़े नेता के बूढ़े हो जाते ही
लग लेगा पीछे एक कम बूढ़ा
जाने किस वक्त वह मर जाये जो ज्यादा बूढ़ा है।
(एक अधेड़ भारतीय आत्मा)

और केवल यह रोष और विद्रूप ही नहीं, वह परिव्याप्त सहज आत्मीयता और व्यक्तिगत पीड़ा भी जो इन कविताओं को अनन्य और अद्वितीय बनाती है। वे इस पाखंड और उससे उत्पन्न अनैतिकता तथा मानसिक गिरावट के प्रति एक संवेदनशील व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ होकर भी आम आदमी की घुटन और तकलीफ़ को प्रकट करती हैं :

एक शब्द कहीं नहीं कि वह लड़का कौन था
क्या उसके बहनें थीं
क्या उसने रक्खे थे टीन के बक्से में अपने अजूबे
वह कौन-कौन-से पकवान
खाता था
एक शब्द कहीं नहीं वह एक शब्द जो वह खोज
रहा था जब वह मारा गया। (आत्महत्या के विरुद्ध)

कोई हवाई अमूर्त शाब्दिक मातमपुरसी नहीं, बल्कि चारों ओर छायी हुई निर्ममता, अमानवीयता की यातना से गहरा प्रत्यक्ष साक्षात्कार :

मैं कि जो अन्यत्र
भीड़ में मारा गया था
....

मैं अपने घर में फिर
वापिस आऊँगा
मैंने कहा

बीस वर्ष
खो गये भरमे उपदेश में
एक पूरी पीढ़ी जनमी पली-पुसी क्लेश में
बेगानी हो गयी अपने ही देश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह
अपने बचपन की
आज़ादी
छीन कर लाऊँगा

तभी मुझे क़त्ल किया········ (मेरा प्रतिनिधि)

ज़ाहिर है सबकी यंत्रणा का ऐसा तीखा अहसास जैसे कवि को किसी अकेली दुनिया में बंद रहकर नहीं हो सकता, वैसे ही कविता को निजी दुनिया में बंद रखकर दूसरों को भी नहीं कराया जा सकता। इसीलिए रघुवीर सहाय की इन कविताओं में बेशुमार लोगों का आना-जाना है। कवि भले ही अपनी ही बात कह रहा हो, पर वह उसे दूसरे लोगों के साथ, उनके माध्यम से, उनके स्वर में स्वर मिलाकर, कह रहा है, या वे ही स्वयं उसकी बात कह रहे हैं। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं का परिवेश कोई अमूर्त काल्पनिक परिवेश नहीं, बल्कि तरह-तरह के जीते-जागते लोगों से भरा हुआ है। हिंदी के शायद ही किसी कवि ने कविता में लोगों को उनके नाम लेकर, उनकी आत्मा को उजागर करने वाले इतने विशेषणों से, याद किया हो। इन कविताओं में सामान्य रूप से गंधाते, मुंह चुराते लोग लोग लोग मार तमाम लोग, लखुखा आदमी और सुथन्ना सम्हालती जनता ही नहीं, साथ ही निराला के मँहगू की परम्परा में, बेचू वल्द निरहू, ढोड़े, मँगरे, पाँचू, गोबरे, होरे, मंकू, या रामगुलाम, रामधुन, रामलाल, रामसरन, गिरीश जैसे मामूली लोग भी हैं; मुसद्दीलाल, पंडित राजाराम, नेतराम, भोलारामदास, दिग्विजयनारायण सिंह-जैसे जातिवाचक नेताओं के साथ मोरारजी देसाई, विनोबा, जैनेन्द्र, नेहरू, लोहिया भी हैं। एक ओर महासंघ का मोटा अध्यक्ष, मुस्कराकर अध्यापक परिषद में आँख मारते गृहमंत्री, जीवनदानी-तोंददानी सदस्य, पिटा हुआ दलपति, खिसियाते कुलपति, घिघियाते उप-कुलपति, मुस्टंडा विचारक, भीमकाय भाषाविद्, कुँकुआते राजकवि, पुलकित उप-राष्ट्रकवि, दुम हिलाते या घूर पर फुदकते संपादक हैं, तो दूसरी ओर मैले नाखून वाला चीकट लड़का, भीख खाती हुई दुधमुँही बच्ची, अधलिखे खत-से सो रहे बच्चे भी हैं। मँहगी, मचलती और तेज़-तर्रार औरतों के साथ-साथ पीली कन्याएँ, सीली चाचियाँ या वह लड़की भी है जिसकी बाढ़ मारी गयी है या जो चश्मा लगाये और सिलाई की मशीन कंधे पर उठाये फिरती है। एक सपाट एक विराट एक खुर्राट समुदाय के साथ ही बड़े-बड़े लटके हुए स्तन हिलाते (राजनैतिक) दल, तोंद मटकाकर हँसती हुई सभा, मक्कार बूढ़ों की परिषद और अकादमी की महापरिषद भी हैं। इस प्रकार रघुवीर सहाय की कविता का यह संसार इतना जीवंत और ऐसे लोगों से भरा है जो हर जगह हर समय मिल जाते हैं, दिखाई पड़ते रहते हैं। पर फिर भी वे इन कविताओं में एक नया ही जीवन, नया ही अर्थ पाते हैं। परिचित-अपरिचित के बीच यह संयोजन, एक अनोखा संबंध, इस संसार को न तो झूठा पड़ने देता है, न पुराना या घिसा-पिटा। यह एक साथ ही कवि की प्रामाणिकता और उसके रचना-कौशल का सूचक है।

अपने इस तादात्म्य के कारण ही ये कविताएँ इस दौर की अधिकतर कविताओं से एकदम अलग हैं, जिनमें न छाती कूटने की मुद्रा है न बड़प्पन भरे कृपा-भाव की, न 'झेलने-भोगने' की आत्मश्लाघा या आत्मपीड़ा है, और न संसार का दुख-दर्द दूर करने के लिए झंडियाँ और नारे उठाये कूच करने का नेताई या मसीहाई अंदाज़, न कड़वे असह्य यथार्थ की कल्पना-मात्र से वैयक्तिकता की खोल में घुसने की प्रवृत्ति है और न 'मारो मारो मारो शोर' करने वाले 'मार तमाम लोगों' की भीड़ का नेता बनने की महत्त्वाकांक्षा। एक प्रकार से ये कविताएँ एक आत्मसजग और 'स्वाधीन व्यक्ति' की उस भीड़ या जनता के साथ अपने सही संबंध की तलाश हैं 'जिससे मुझे नफ़रत है सच्ची और निस्संग', मगर 'जिस पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है।' व्यक्ति और समुदाय के उलझे हुए, बहुस्तरीय संबंधों की गहरे जाकर यह तलाश ही वह दुहरा तनाव पैदा करती है जिससे कवि का निजी संसार विशिष्ट, अद्वितीय और व्यक्तिगत होकर भी एक व्यापक सार्थकता प्राप्त करता है।

इसी कारण ये कविताएं किसी संकुचित अर्थ में 'राजनैतिक' कविताएँ भी नहीं हैं, बल्कि शायद यह कहना भी ग़लत न हो कि ये राजनैतिक या राजनीति की कविताएँ हैं ही नहीं। वे किसी राजनैतिक घोषणापत्र, कार्यक्रम या सिद्धांत का बखान या प्रचार नहीं करतीं, किसी विशेष दृष्टिकोण की पक्षधरता पर ज़ोर नहीं देतीं। वे तो उस परिवेश से एक नये प्रकार के तनाव की अभिव्यक्ति हैं जो आज इतना सर्वव्यापी रूप में राजनीति के अधीन हो गया है। वे एक जागरूक और संवेदनशील व्यक्ति द्वारा अपने चारों ओर के ठोस यथार्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् के एक स्तर या एक से अधिक स्तर को परिभाषित करने के प्रयास की कविताएँ हैं। राजनैतिक स्थितियाँ और उनकी परिणतियाँ आज के इस ठोस यथार्थ जगत् के नियामक तत्त्व हैं जिनसे सामना किये बिना उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। आत्म-साक्षात्कार का आग्रही कवि उनसे बच नहीं सकता और न बचना चाह ही सकता है। पर वे राजनैतिक स्थितियाँ या परिणतियाँ कवि या कविताओं का साध्य, लक्ष्य या उद्देश्य नहीं हैं। इसीलिए इन कविताओं में जानी-पहचानी दुनिया का एकाधिक स्तर तो परिभाषित है, पर कोई राजनीति परिभाषित नहीं है। वे एक बुद्धिजीवी की, या कि, कवि के शब्दों में ही, अपनी ही एक मूर्ति बनाने और ढहाने वाले कवि की, प्रतिक्रियाएँ हैं; यानी कविताएँ हैं। वे किसी राजनीति-विशेष को नहीं सूचित करतीं, अधिक-से-अधिक मोटे तौर पर वामपंथी या स्थापित व्यवस्था-विरोधी और जनसाधारण की ओर उन्मुख सामान्य राजनैतिक रुझान का आभास देती हैं। इसीलिए उनमें क्षोभ और रोष तो है, पर किसी बदलाव का या उसकी संभावना का कोई आभास नहीं है—शायद इसलिए भी कि कवि का आग्रह है कि वह लड़े चाहे जितनी सेनाओं में, मगर अपने को अंत में मरने सिर्फ़ अपने ही मोर्चे पर दे। वास्तव में इन कविताओं को राजनैतिक कविताएँ कहना उनकी व्यापकता को कम करना होगा, भले ही उनमें राजनैतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति को एक गहरा और नया मुहाविरा मिला हो।

व्यापक परिवेश से उलझाव के कारण अथवा विशेष प्रकार के चयन के कारण इस संग्रह की थोड़ी-सी किसी सर्वथा वैयक्तिक भाव-क्षण को प्रस्तुत करने वाली कविताओं में भी वह चमक या गरमी नहीं है जो रघुवीर सहाय की कविता की एक लुभावनी विशेषता रही है। 'प्रार्थना घर', 'एक लड़की', 'रचता वृक्ष', 'चढ़ती स्त्री', 'खिंचा गुलाब', 'खड़ी स्त्री', 'अभी तक खड़ी स्त्री' आदि छोटी कविताओं में यद्यपि अत्यंत ही संयमपूर्वक सूक्ष्म शब्दचित्र उकेरने का प्रयास है, पर वे प्रायः हलकी-सी मानवीय करुणा को ही उभार पाते हैं किसी सघन निजी अनुभव को नहीं प्रस्तुत करते। फिर भी एक कविता में भावदशा की तीव्रता और सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि दीख पड़ती है, यद्यपि यह स्वर इस संग्रह का मुख्य स्वर नहीं है :

अँधेरा यहाँ
अँधेरा नहीं है
एक खास तरह का चाँदना है
और न तू गोरी है
तू
एक
लुनाई है डबडबाई हुई
काले
सिर्फ तेरे केश हैं

सूने मैदान में हम नहीं हैं
सिर्फ एक दिशा है
और गति है
और जिसमें ठिठके खड़े थे हम वह क्षण था

एक सामान्य परिवेश से उलझाव का एक और भी असर इन कविताओं पर है कि कुल मिलाकर उस परिवेश से तनाव के कुछ ही रूप उभर सके हैं। परिवेश प्रायः सभी जगह एक-सा ही है, और उसके साथ तनाव से उत्पन्न भावदशाएँ भी सीमित हैं—व्यंग्य, विद्रूप, क्षोभ, आक्रोश, करुणा। और इनके भी बहुत अधिक स्तर या रूप नहीं उभरते। इसलिए अंत तक भावदशाओं की एकरसता और पुनरावृत्ति अनुभव होने लगती है। इन कविताओं के संसार में रहने वाले लोगों का विस्तार से विवरण पहले दिया गया है; वह भी सूचित करता है कि उन लोगों की बाहरी मुद्राएँ चाहे जितनी भिन्न हों—यद्यपि वे भी बहुत भिन्न नहीं हैं—पर उनकी आंतरिक मनःस्थिति प्रायः एक ही है। इसलिए, समग्रतः, कविताओं का मानसिक वातावरण एक-सा ही रहता है, चाहे मूर्तता के कारण रघुवीर सहाय उसे नीरस न होने देते हों। इसीलिए ये कविताएँ ज़िंदगी की गहराई से साक्षात्कार का आभास प्रायः नहीं देतीं। उनकी शक्ति उनकी आत्मीयता और विश्वसनीयता में है, तीव्रता या सघनता में नहीं।

किन्तु इन कविताओं की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि उनके शिल्प और भाषा में है। यह निस्संदेह कहा जा सकता है 'सीढ़ियों पर धूप में' से 'आत्महत्या के विरुद्ध' तक आते-आते रघुवीर सहाय ने शिल्प और भाषा की कुछ और भी नयी मंज़िलें पार की हैं। उनकी कविताओं का स्थापत्य पहले भी सहज, सरल और सूक्ष्म होता था, उसमें नाटकीयता की बजाय एक गतिमान आंतरिक अन्विति होती थी। इन कविताओं में ये विशेषताएँ तो अधिक निखरी ही हैं, एक प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का खुलापन और बहुस्तरीयता भी आयी है। कई कविताओं में अनेक स्थितियों के समक्षीकरण द्वारा एक चरम समग्र प्रभाव की सृष्टि की गयी है, जैसे 'गिरीश की मृत्यु' या 'फ़िल्म के बाद चीख़' में। लय के उपयोग में विविधता है और पारंपरिक तथा नयी दोनों प्रकार की पद्धतियाँ अपनायी गई हैं। विशेषकर बहुत जगह पंक्तियाँ अलग होकर भी जैसे बहकर एक-दूसरे में मिल जाती हैं, एक-दूसरे से कटी-कटी नहीं रहतीं। तुकों का कई जगह बहुत दिलचस्प उपयोग है पर कहीं-कहीं वह उस पद्धति के समीप आता जान पड़ता है जो श्रीकांत वर्मा एक विशेष प्रभाव के साथ अपनाते हैं। पर रघुवीर सहाय की कविता अपने प्रभाव के लिए अपनी 'सपाट बयानी' के नीचे एक विस्फोटक भावस्थिति को छिपाये रखने पर निर्भर है। प्रत्यक्ष अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त के बीच यह तनाव और संतुलन कविताओं के कथ्य के अनुरूप ही है।

यही बात उनकी भाषा के बारे में भी है। बोलचाल की भाषा का इतना आत्मीय, सहज और प्रभावी उपयोग बहुत कम कवियों ने किया है। इस छोटे-से संग्रह में भी ऐसे अनगिनत शब्द और वाक्यांश मिल जायेंगे जो अद्भुत रूप में जीवंत और एकदम सटीक होकर भी हिंदी कविता में शायद पहली बार प्रयुक्त हुए हैं। और बड़ी बात यह है कि वे बनावटी ढंग से लाये गये या आरोपित नहीं हैं। वे आत्यंतिक रूप से भावदशा से, उस कविता के मूल कथ्य से, जुड़े हुए हैं और उसे अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय ही नहीं, पैना भी बनाते हैं। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में ऐसी प्राणवान और सजीव भाषा का संस्कार है जो हिंदी कविता को नया स्तर देता है।

वैसे कुछ पुराने रुझान अब भी मौजूद हैं। जैसे, 'नया शब्द' और 'शहर से बाहर' जैसी कविताओं में अब भी अज्ञेय की भाषा और तरकीबों का कुछ प्रभाव है, जो पहले बहुत होता था। भाषा, शब्दों, तुकों के साथ खिलवाड़ का मोह भी छूटा नहीं है। जैसे दोनों 'सह-कविताएँ', या 'मेरा मींजा दिल' और उसके अंत में 'मैं हो न सका मैं सो न सका मैं रो न सका, मैं पों न सका पों क्या माने ?' 'शराब के बाद सवेरा' में 'उसे टोता हूँ। ढ नहीं ट।' और 'मूर्ख मूर्ख मेरी ओर' में 'तन लिया मैंने / बचा सपने को अँधेरा—आखिरी तुक यही होगी—जिया मैंने' जैसे प्रयोग इन कविताओं के ढाँचे को ही नष्ट करते जान पड़ते हैं। इसी प्रकार 'आत्महत्या से विरुद्ध' जैसी मूल्यवान कविता में :

न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अंदर एक कायर टूटेगा टूट

मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ
मत डूब सिर्फ़ टूट..........

या 'मंथर मटकता मंत्री मुसद्दीलाल महंत मंच पर चढ़ा' जैसी पंक्तियाँ कविता के असर को तोड़ती ही हैं, कोई मदद नहीं करतीं। इसी प्रकार 'लोग लोग लोग मार तमाम लोग' तीन कविताओं में दुहराया गया है और पहली बार जहाँ वह बात को असरदार बनाता है वहाँ दुबारा आने पर खीझ पैदा होती है।

किंतु एक प्रकार से ये सब गौण बातें हैं। इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में भाषा और शिल्प की अनोखी मौलिकता के साथ-साथ ऐसा मँजाव और निखार भी है जो रघुवीर सहाय ही नहीं, समकालीन हिंदी कविता की एक नयी उपलब्धि का सूचक है। और सबसे बड़ी बात यह है कि आत्मघात को बढ़ावा देने वाली अनेक चीख़ती, रिरियाती, मिमियाती आवाज़ों के बीच ये कविताएँ व्यक्ति और समुदाय दोनों की आत्महत्या के विरुद्ध स्वर को प्रस्तुत करती हैं।

"मेरे सामने समस्या है—"

विष्णु खरे

श्रीकान्त वर्मा हिन्दी के शायद एकमात्र युवा कवि हैं जिनकी एक वर्ष में दो कृतियाँ[1] प्रकाशित हुई हैं। प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब दोनों कविता-संग्रह हैं तो अलग-अलग प्रकाशित क्यों हुए ? उत्तर कई हो सकते हैं—व्यावसायिक सुविधा के, अवसर के अथवा दो तरह की कृतियों में एक विभाजन-रेखा देखने-दिखाने की कवि की आकांक्षा के। पहले दो क़िस्म के उत्तरों में हमारी कोई रुचि नहीं होनी चाहिए—कवि किस तरह अपनी कविताएँ प्रकाशित कर पाता है यह प्रश्न उठाना

१. 'दिनारंभ', सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली-३१ तथा 'माया दर्पण', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी-५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब नितान्त अर्थहीन है। हाँ, यदि कवि यह चाहता है कि उसके पाठक तथा आलोचक एक साथ प्रकाशित उसके दो संग्रहों के बीच कोई रेखा खींचें और उस सीमांकन से उसके कृतित्व पर कोई विशिष्ट प्रकाश पड़े, तब एक ही वर्ष में एक कवि के दो संग्रह प्रकाशित होना यकायक महत्त्वपूर्ण हो उठता है और पाठक (यदि कविता कोई पाठक है—आलोचकों, कवियों तथा प्रच्छन्न कवियों के अलावा) उत्सुकता से उनकी ओर बढ़ता है।

'तुलना' करने की यह आकांक्षा जहाँ अत्यन्त स्वाभाविक है वहां इसमें एक सुविधा भी जुड़ी हुई है, जिसकी ओर मीडियाकर मस्तिष्क तुरन्त आकृष्ट होता है। 'सूर' और 'तुलसी' की तुलना हिन्दी विश्वविद्यालयों में पचास वर्ष होते आए होंगे और ऐसे कई पचास वर्षों तक वह होती रहेगी इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं दीखता। तुलना में एक छद्म गणित होता है जिससे दिमागी काहिली को बड़ा चैन मिलता है किन्तु एक दिए गए समय में एक ही कवि की दो कृतियों की 'तुलना' या 'कन्फ्रंटेशन' इस अर्थ में असंगत नहीं होगा कि कवि इन अलग-अलग संग्रहों में अपनी कला, शिल्प या विश्वासों के विषय में अलग-अलग क्या कहना चाहता है। मेरी तो यह भी धारणा है कि यदि किसी कवि का उसी अवधि में कोई उपन्यास, या किसी उपन्यासकार का काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ हो तो इन भिन्न-भिन्न विधाओं वाली कृतियों के बीच भी कहीं-न-कहीं कोई रागात्मक अथवा तकनीकी सम्बन्ध अथवा तनाव रहता होगा और ऐसी अन्तर्विधात्मक 'तुलना' का भी प्रयास किया जाना चाहिए।

'दिनारंभ' की छियालीस कविताओं में से अड़तीस बहुत छोटी कविताएँ हैं। अभी यह तय करना कठिन है कि हिन्दी में ऐसी छोटी कविताएं लिखी जा रही हैं जो काव्य की शर्तों को पूरा भी करती हैं या महज़ एक फैशन हैं। मैं यहां पर 'हाइकू' वगैरह की चर्चा न करते हुए केवल छोटी कविताओं के औचित्य पर बहस करना चाहता हूँ। छोटी कविताओं के साथ कठिनाई यह है कि उन्हें स्पष्ट भी होना चाहिए और संपृक्त भी। न्यूनतम शब्दों में अधिकतम कह पाना आदिकाल से कवियों के आदर्शों में शुमार है किन्तु कविता 'हिन्दी में तार भेजिए' वाली भाषा तो नहीं हो सकती। फिर छोटी कविताओं में प्रतीक-संयोजन कर उनकी संप्रेषणीयता को कितना अक्षुण्ण रखा जा सकता है यह भी विचारणीय है।

दीख नहीं पड़ते हैं अश्वारोही लेकिन
सुन पड़ती है टाप;
—झेल रहा हूँ शाप

ऐसी छोटी कविताओं से कुछ भी पाना कठिन है। अन्तिम चार शब्द पहली दो पंक्तियों से इतने अधिक संदर्भ-विच्छिन्न हैं कि आरोपित मालूम होते हैं और इस आरोपण का एकमात्र दोषी 'शाप' तुक का मोह ही प्रतीत होता है। किन्तु 'नगर निवासी':

रोज शाम
सड़कों पर
फटे
हुए उड़ते
सुबह के
अखबार

में शीर्षक, शिल्प, प्रतीक तथा उसके एवं भाषा की दृश्यात्मकता के बीच एक संतोषप्रद तादात्म्य है जो इस तरह की छोटी कविता को सार्थकता देता है। खेद का विषय यही है कि 'दिनारंभ' की ऐसी कविताएं दोनों हाथों की अँगुलियों पर गिनी जा सकती हैं।

कविता अच्छी है या नहीं (आखिर आलोचना का मौलिक उद्देश्य यह बताना नहीं तो और क्या है) इसकी एक कसौटी उसे ज़ोर से पढ़ना है। एक अच्छी रचना, उसके शब्द कितने भी क्लिष्ट क्यों न हों, पढ़ने में सपाट होती है। मुक्तिबोध की कविताएँ इसका उदाहरण हैं। इसके विपरीत, एक खराब कविता, जिसमें तथाकथित सपाटबयानी कितनी भी हो, ज़बान पर लड़खड़ा जाती है:

वह एक उठे हुए पाल की तरह मुझे
चीरती हुई चली जा रही है...
हाय ! मैं हूँ आकाश
मैं कैसे सिमटूं, मैं कैसे बाँधूं,
वह मुझमें से होकर चली जा रही है

ये पंक्तियाँ अटपटी इसलिए हैं कि इनका शिल्प तथा व्यवस्था असन्तुलित है। जो कहा जा रहा है वह भी मामूली है। इसके विपरीत 'दिनारंभ':

शहरों में छतों में
ह—ल—च—ल
हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मक्खियाँ
बैठ गयीं
मँ—ड—रा
अपनी-अपनी
मेजों पर

एक पूरी कविता है जिसे दो सशक्त एवं सजेस्टिव शब्दों—'मक्खियों', 'मेजों'—ने गहरे अर्थ दिए हैं।

श्रीकान्त की कविताओं पर एक आरोप दुहराव का भी लगाया जा सकता है। इन दो कविताओं में क्या फ़र्क है :

१. **छायाएँ**
न हिलती, न डुलती, न मिलती
एक दूसरे की उदासी में घुलती
केवल
खड़ी हैं

२. **स्याही के धब्बे सोचते खड़े हैं**

दोनों कविताओं में खड़े होने का दुहराव अभिव्यक्ति के असामर्थ्य की ओर संकेत करता है। एक प्रश्न यह भी है कि जब छायाएँ 'न हिलती, न डुलती, न मिलती' हैं तो 'एक दूसरे की उदासी में घुलती' किस तरह हैं। दुहराव कई स्थलों पर है—'स्मारक' में कवि अपनी पीठ पर 'पत्थर-सा संसार ढोता' है और 'टूटी पड़ी है परम्परा' में उसे लगता है 'कन्धों पर मेरे ज्यों सहसा रख दी हो किसी ने वसुंधरा', 'पतझर' में स्त्री 'घबराकर ढूंढ़ती है सारा दिन किसी परित्यक्त को' और फिर 'एक स्त्री का काया-कल्प' में वही स्त्री 'घबरायी हुई ढूंढ़ रही है, सड़क पार करने के लिए संग' (हम पुनः अन्दाज़ लगा सकते हैं—'किसी परित्यक्त का'।) : यह दुहराव कोई 'मोटिफ़' या प्रतीकात्मक दुहराव नहीं है, कवि की अजागरूकता का उदाहरण है।

छोटी कविताओं में तुक की उपादेयता क्या है? व्यक्तिगत रूप से हिन्दी कविता में अब मुझे तुक वैसे ही लगते हैं जैसे रेडियो पर गीतों के बीच कमर्शियल्स। लम्बी कविता में तुक के निबाह के कई मार्ग हैं और एक सजग कवि उन्हें औचित्य भी दे सकता है, किन्तु छोटी कविताओं में तुक एक घातक दुर्निवारिता से आता है और मैं नहीं समझता कि वह किसी भी तरह कविता के आनन्द को बढ़ाता है। दरअसल तुक का शिकार कवि अपने पाठक को भी तुक का शिकार बनाता है क्योंकि पाठक की आदत हो जाती है कि वह तुक की तलाश में रहे। शेक्सपियर के पास तुकों की कमी न थी किन्तु कोई कारण रहा होगा कि उसने अपने नाटक ब्लैंक वर्स में लिखे। मैं यह नहीं कहता कि तुकहीनता कविता की अनिवार्य शर्त है, किन्तु मैं यह भी नहीं मानता कि आरोपित तुकबद्धता अच्छी कविता का निर्माण कर सकती है।

श्रीकान्त सरीखा जागरूक कवि अपनी कविताओं के इन दोषों से अनभिज्ञ होगा यह मानने को जी नहीं करता। तब प्रश्न उठता है कि इतनी सारी प्रयोजनहीन छोटी कविताएँ इस संग्रह में क्यों? यदि कवि का आशय यह था कि वह पाठकों को बताए कि छोटी कविताओं में भी उसे प्रावीण्य प्राप्त है तो दुःख के साथ कहना होगा कि उसके इस उद्देश्य को रचनाओं का सहारा प्राप्त नहीं हो सका। वैसे इन कविताओं में समर्थ पंक्तियों की कमी नहीं किन्तु एक या दो पंक्तियों से ही कविता हो सकती तो कवि-कर्म कितना आसान होता। छोटी कविताएँ यदि कविताएँ नहीं बन पातीं तो ईसप की कहानियों में अन्तिम वाक्य की तरह नीतिवाक्य या क्लिशे हो जाती हैं।

छोटी कविताएँ 'माया दर्पण' में भी हैं किन्तु उनमें अच्छी कविताओं की संख्या 'दिनारम्भ' के अनुपात में ज़्यादा है। दरअसल इन दोनों संग्रहों की कविताएँ पढ़ने के बाद मुझे यह लगा कि श्रीकान्त ने अपनी रचनाओं का आलोचनात्मक विभाजन करते हुए बेहतर कविताओं को 'माया दर्पण' में तथा बची हुई कविताओं को 'दिनारम्भ' में समाविष्ट किया है। 'बची हुई कविताओं' से मेरा तात्पर्य क्या है यह स्पष्ट ही होगा। यहाँ पर पुनः कवि-कर्म के एक गम्भीर दायित्व का ज़िक्र किया जा सकता है। यह सच है कि प्रत्येक कवि को अपनी रचनाओं से मोह होता है और वह चाहता है कि वे प्रकाशित रूप में स्थायित्व प्राप्त करें। प्रायः सभी कवि अपनी हल्की रचनाओं को फाड़ फेंकते हैं या उन्हें रूपान्तरित कर देते हैं या उनके फ्रैगमैन्ट्स को किसी लम्बी कविता में शामिल कर लेते हैं। प्रत्येक कवि हर समय ऐसा नहीं लिखता जो 'साहित्य' भी हो तथा प्रकाश्य भी। हर प्रकाशित पंक्ति साहित्य नहीं होती, बल्कि सचाई यह है कि हर युग में अधिकांश साहित्य पेरिफेरी का साहित्य होता है जो सिर्फ छपता चला जाता है। सृजनात्मक-प्रतिभा कभी भी समान रूप से प्रखर नहीं होती और कवि चाहकर भी प्रत्येक रचना को 'फर्स्ट रेट' नहीं बना सकता। प्रत्येक कवि जानता है, यदि वह सचमुच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि है तो, कि उसके कृतित्व में घटिया क्या है और मूल्यवान क्या? फिर वह अपनी 'ब' 'स' 'ड' स्तरीय रचनाओं को क्यों प्रकाशित देखना चाहता है—शोध-छात्रों के लिए, आलोचक-वर्ग के लिए या साहित्य-इतिहासकारों के लिए? मैं नहीं समझता कि हिन्दी का लेखक इतने उत्तरदायित्व-भाव से लिखता है। घटिया रचनाओं के मोह ने हिन्दी की अधिकांश पुस्तकों को जन्म दिया है। ऐसे कवि, उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक जिन्हें वर्षों पहले अवकाश प्राप्त कर लेना चाहिए था हर वर्ष अपने दिमाग का कचरा हिन्दी के चौरस्ते पर फेंक आते हैं। श्रीकान्त वर्मा हिन्दी के इने-गिने कवियों में हैं जिनकी प्रतिभा से लोग खौफ खाते हैं किन्तु 'दिनारम्भ' की कविताओं के चयन में उन्होंने स्वयं के प्रति उस निर्ममता का परिचय नहीं दिया है जिससे वे अन्य कवियों की रचनाओं को कसते हैं।

'एक मुर्दे का बयान' 'दिनारम्भ' की उल्लेखनीय लम्बी कविताओं में है। कवि का मूड खीझ, आत्मालोचन तथा रोष का है और कहा जा सकता है कि यह कविता श्रीकान्त के अपने त्रास को ही नहीं वरन् समूचे कवि-कर्म की रेगिस्तानी छटपटाहट को व्यक्त करती है। आज की कविता की एक बड़ी पहचान, या कहा जाए कि एकमात्र पहचान, यही है कि वह 'कविता' की निस्सारता को निर्ममतापूर्वक समझ चुकी है। बीसवीं सदी के साठवें वर्ष के बाद कवि जान गया है कि :

न मेरी कविताएँ हैं न मेरे पाठक हैं / न मेरा अधिकार है / यहाँ तक कि मेरी सिगरेटें भी नहीं हैं

'कविताएँ', 'पाठक' और 'अधिकार' के बाद सिगरेटों का ज़िक्र स्थिति के व्यंग्य को गहरा करता है तथा उसे एक सामाजिक आयाम देता है। बाहर की स्थितियों पर घूमती हुई यह व्यंग्य-दृष्टि अब स्वयं कवि पर टिकती है :

मैं एक साथ ही मुर्दा भी हूँ और ऊदबिलाव भी / मैं एक बासी दुनिया की मिट्टी में / दबा हुआ / अपने को खोद रहा हूँ

यही व्यंग्य-दृष्टि और पैनी, और अधिक निर्मम होती चली जाती है :

मैं एक बिल्ली की शक्ल में छिपा हुआ चूहा हूँ / औरों को टोहता हुआ / अपने से डरा हुआ बैठा हूँ

अन्तिम तीन पंक्तियां मृत्यु-लेख की तरह कविता का समापन करती हैं और किसी भी भारतीय बुद्धिजीवी की समाधि पर चस्पाँ की जा सकती हैं :

मैं एक गलत बीवी का नैपोलियन था / मैं एक / गलत जनता का शहीद था

'दिनारम्भ' की कविताएँ एक 'मिक्स्ड फयर' हैं और जहाँ पाठक एक कविता से कुछ प्राप्त करता है वहाँ दूसरी कविता उसे निराश करती है। 'युद्ध और क्लिप' की पहली पंक्ति भौंचक्का कर देती है :

किसी भी देश की जमीन पर, पीठ पर पड़ा अपनी काकरोच

सपाटबयानी का अर्थ यदि केवल सपाट शब्द चुनना ही है तो किसी को इस पंक्ति से शिकायत नहीं होगी किन्तु मैं नहीं समझता कि सपाटबयानी का अर्थ इतना संकुचित है या सपाटबयानी इतनी सहज है। यहाँ पर अर्थ की कोई कठिनाई न होते हुए भी शब्द-क्रम ने एक हास्यास्पद दुरूहता पैदा कर दी है, किन्तु इस कविता में मुझे एक और गम्भीर दोष दिखाई देता है। पहली तेईस पंक्तियों तक तो कवि 'मजे में', 'बेफिक्र' पड़े हुए 'काकरोच' का बयान करता है जिसे 'युद्ध का डर नहीं है' और जो 'अपनी बेखबरी की बंजर ज़मीन पर' लेटा हुआ है। यहाँ तक बात बहुत सीधी और स्पष्ट है और हम व्यंग्य को व्यंग्य के रूप में ग्रहण करते हैं लेकिन :

दुनिया की क्लिपें अभी खत्म नहीं हुई हैं / कि दुनिया की सुन्दरियाँ / झुककर / काकरोच के समीप / कहें / बिना काकरोच के गुजर नहीं

पंक्तियों से कविता का सिलसिला ही नहीं टूटता, व्यंग्य भी टूट जाता है और वह शुद्ध भर्त्सना बन जाता है।

'पटकथा' की तीन पंक्तियों के सहारे श्रीकान्त के शिल्प पर कुछ कहा जा सकता है :

वह हाथ बढ़ाता है और पाता है
पसीने से चिपचिपायी हुई चोली है।
वह घबराकर किसी और का हाथ पकड़ लेता है।

इन पंक्तियों में 'वह' कवि का परसोना (persona) है यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु इन पंक्तियों को छोड़ सारी कविता में कवि ने persona के लिए 'मैं' 'मैंने', 'मुझे', 'मेरे' का प्रयोग किया है, फिर इन पंक्तियों में अन्यपुरुष एकवचन का उपयोग क्यों? उत्तर हमें कवि के तुक-आयोजन में मिलता है। यदि 'मैं' का प्रयोग किया जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो इस तरह की पंक्तियाँ होतीं :

एक जेब में घड़ी
दूसरी में फाँसी लगाने के लिए कमन्द है
सुविधा के लिए नींद की गोली है ।
मैं हाथ बढ़ाता हूँ और पाता हूँ
पसीने से चिपचिपाती हुई चोली ।
मैं घबराकर किसी और का हाथ पकड़ लेता हूँ ।
यह एक दूसरी तरह का संसार है
एक ठेकेदार जिसका नेता है ।

श्रीकान्त ने पाया होगा कि 'मैं' का प्रयोग करने से आगे तुकों में कठिनाई होगी, अतएव कविता की यूनिटी को बाला-ए-ताक़ रखकर 'मैं' का 'वह' में परिवर्तन कर लिया गया । एक दिलचस्प चीज़ यह भी है कि 'बन्द' के तुक-निर्वाह के लिए 'फाँसी लगाने के लिए' 'रस्सी' नहीं, 'कमन्द' लानी पड़ी । 'मैं' और 'वह' के बीच चुनाव की समस्या 'ढंग' में भी है ।

'ढंग' विरलता से सघनता की ओर जाने वाली रचना है किन्तु प्रारम्भ की बहुत-सारी पंक्तियाँ कविता को वह दिशा देती प्रतीत नहीं होतीं जिस पर वह अन्त में पहुँचती है । पैंतालीसवीं पंक्ति के बाद उसमें एक निश्चयात्मकता आती है, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि एक ऐसा मोड़ आता है कि लगता है कोई दूसरी कविता प्रारम्भ हो गई है । अंतिम पंक्तियाँ :

वक्त / चला जाता है / वक्त / चला गया है / हर जगह हाजिर था मैं / लेकिन / दस्तखत कहीं नहीं / शहर के बीच से नदी गुजरती है / शहर के बीच से सैनिक गुजरते हैं / शहर के बीच से बन्दी गुजरते हैं / शहर वही है जो पहले था—जानता है / जुल्म ।

सिद्ध करती हैं कि श्रीकान्त भाषा और अभिव्यक्ति की उस सहजता तथा इकॉनॉमी तक सफलतापूर्वक पहुँच सकते हैं जिनके लिए अपनी कविता में वे लगातार कोशिश करते रहे हैं ।

'माया-दर्पण' में, जो दूसरे संग्रह को शीर्षक देती है, 'ढंग' का मूड विस्तार पाता है ।

मैं अनुभव कर रहा हूँ सब कुछ / बस छूकर / चला जाता है / छला जाता है / आकाश भी / सूर्य से / जो दूसरे दिन / आता नहीं है / कोई और सूर्य भेज देता है ।

भाषा तथा अभिव्यक्ति के जिस सारल्य की चर्चा हो चुकी है वह यहाँ भी दृष्टिगोचर है :

मैं हरेक नदी के साथ / सो रहा हूँ / मैं हरेक पहाड़ / ढो रहा हूँ / मैं सुखी / हो रहा हूँ / मैं दुखी / हो रहा हूँ / मैं सुखी दुखी होकर / दुखी-सुखी / हो रहा हूँ ।

अन्य रचनाओं के अलावा 'माया दर्पण' की दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं 'दिनचर्या' तथा 'दूसरे का डर' । इसी संग्रह की एक अन्य कविता 'दिनारम्भ' 'दिनचर्या' के बहुत निकट है और उसी का विस्तृत अंश लगती है । सचाई यह है कि श्रीकान्त की कविताओं में कुछ स्थूल पैटर्न देखे जा सकते हैं और उनके अन्तर्गत अधिकांश रचनाओं का वर्ग-विभाजन सम्भव है । यह तो विषयान्तर हुआ—'दिनचर्या' का आश्रय लेकर कवि के शिल्प, कविता की विज़ुअल अपील तथा शिल्पोचित अभिव्यक्ति पर कुछ कहना है । अच्छी कविता की एक पहचान यह भी है कि क्या उसमें कोई दृष्टिगत सौन्दर्य है जो उसकी विषय-वस्तु से चित्रनुमा ढंग से जुड़ा हुआ है । पाश्चात्य सौलिड पोएट्री इसी दृष्टिगत तथा काव्यगत सौन्दर्य को एकाकार करने की कोशिश थी जिसकी भोंडी देसी नकल हिन्दी की दिवंगत ठोस कविता में दीख पड़ी थी । सायास चित्र प्रस्तुत करने के प्रयत्न में कवि के पास एक चालाक शिल्प ही बच रहता है और कविता दम तोड़ चुकी होती है । 'दिनचर्या' उन बहुत थोड़ी कविताओं में है जिनमें शिल्प का सफल निर्वाह चित्रकारी के लिए तो हुआ ही है, जीवन भी अक्षुण्ण रहा है । पहली पंक्ति से ही कविता तथा चित्र साफ़-साफ़ उभरते हैं :

एक अदृश्य टाइपराइटर पर साफ-सुथरे
कागज-सा
चढ़ता हुआ दिन,
तेजी से छपते मकान,
घर, मनुष्य
और पूंछ हिला
गली से बाहर आता
कोई कुत्ता ।

इस पूरी कविता की रवानी टाइपराइटर पर किसी मज़मून के छपते चले जाने को विलक्षण वास्तविकता से न केवल हमारी आँखों पर बल्कि कानों में भी उतारती चली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है। एक और पंक्ति द्रष्टव्य है :

जलाशय पर अचानक छप जाता है
मछुए का जाल

यहाँ एक शब्द 'छप' न केवल छपने की क्रिया अभिव्यक्त करता है बल्कि जल पर जाल के छप से गिरने की ध्वनि भी उत्पन्न करता है और इस तरह सुखद अर्थ-स्तरों को सुझाता है। अन्तिम पंक्ति :

एक चिड़चिड़ा बूढ़ा थका क्लर्क ऊबकर छपे हुए शहर को छोड़कर चला जाता है।

टाइपिस्ट की अन्तिम लम्बा वाक्य शीघ्र टाइप करने की व्यग्रता, उससे उत्पन्न मशीनी संगीत तथा अन्तिम चार शब्द एक पत्र पूरा हो जाने के बाद के मौन को अत्यन्त विश्वसनीय तरीके से प्रतिध्वनित करते हैं : 'एक चिड़चिड़ा बूढ़ा थका क्लर्क' जो वह है उसके अलावा सूर्य भी हो सकता है और यह प्रतीक-सम्भावना रोमांचकारी है।

व्यंग्य (आयरनी के अर्थ में) की चरम सीमा कवि की अपनी डुएलिटी के अहसास में है और इस बात में कि वह किस तरह स्वयं को देखकर मुँह चिढ़ाता है। अधिकांश हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी साहित्यकार भौतिक रूप से द्वि-आयामी हैं और व्यक्तित्व की द्वैधता की अनुभूति अत्यन्त विरल है। इस दृष्टि से श्रीकान्त की रचना 'दूसरे का डर' द्रष्टव्य है :

कोई मेरे साथ / कपड़े / बदल रहा है / कोई मेरे पैरों / चल रहा है

× × ×

कोई मेरी घड़ी को / अपनी कलाई में / महसूस / कर रहा है / बुज़दिल ! दिखाई नहीं देता / मेरे आसपास / कहीं छुपा हुआ / मुझसे / डर रहा है।

इन पंक्तियों में एक मन्द्र हॉरर है तथा अन्तिम पंक्तियों में स्पष्ट है कि जिसे बुज़दिल कहा जा रहा है वह न तो कायर है और न कहीं छिपा हुआ 'मुझसे डर रहा है।' दरअसल हम सारे बुज़दिल 'उससे' डरकर कहीं अपने भीतर छिपे हुए हैं।

इलियट की प्रसिद्धतम रचनाओं में 'द लव साँग ऑव जे अल्फ्रेड प्रूफ्रॉक' है जिसे मैं श्रीकान्त की 'एक दिन' के समानान्तर रखना चाहूँगा। दोनों की थीम तथा अभिव्यक्ति में आश्चर्यजनक साम्य है :

स्त्रियाँ जो प्रेमिका नहीं थीं न वेश्याएँ / बिस्तर पर / छाप की तरह / दूसरे सवेरे धुल जाती हैं।

× × ×

केवल एक स्त्री की साड़ी की गंध

× × ×

मैं बूढ़ा हो गया हूँ

× × ×

किसको पुकारूँगा ?
सारा दिन कैसे गुजारूँगा ?

× × ×

क्या मैं अपने गुजरे जीवन को / एक कागज़ पर लिखी हुई / कविता की तरह / दूसरे कागज़ पर उतारूँगा ? क्या मैं यह सोचूँगा / कि यदि मैंने उस पर शासन भी / किया होता / तो वह नहीं जाती ! और क्या मैं फिर शासन के लिए / एक शासक का चेहरा / (जिसे उसने किसी और से उधार लिया था) / जाकर उधार लाऊँगा ?

मैं अपनी दो टाँगों पर / टँगा हुआ / गट्ठर हो गया / हूँ।

× × ×

In the room the women come and go
Talking of Michelangelo.

× × ×

Is it perfume from a dress
That makes me so digress ?

× × ×

I grow old...I grow old...
I shall wear the bottom of my trousers rolled.
Shall I part my hair behind ? Do I dare to eat a peach ?

× × ×

And indeed there will be time
To wonder, 'Do I dare ?' and, 'Do I dare ?'

× × ×

When I am pinned and wriggling on the wall,
Then how should I begin
To spit out all the butt-ends of my days and ways ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

And how should I presume ?

× × ×

Should I, after tea and cakes and ices,
Have the strength to force the moment to its crisis ?

× × ×

(They will say, : 'But how his arms and legs are thin !')

इन समानधर्मा पंक्तियों को उद्‌धृत कर मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि जिस खोखलेपन तथा भयावहता की तीव्रानुभूति १९१७ के आसपास पाश्चात्य कविता में अभिव्यक्ति पा रही थी उस तक तथा उसकी अभिव्यक्ति तक हिन्दी अब पहुँच पाई है। और स्मरण रहे कि हम अभी सिर्फ़ पहुँचे ही हैं, पीछे नहीं छोड़ पाए हैं। हिन्दी कविता के मुहावरे पर अँगरेज़ी का कितना प्रभाव है यह भी इन उद्धरणों से स्पष्ट है।

प्रत्येक काव्य-संग्रह की कविताओं को दो हिस्सों में विभक्त किया जा सकता है और ये विभाजन कवि-व्यक्तित्व के होते हैं। हर रचनाकार दो स्तरों पर जीता है, एक होता है सामान्य रचना का और दूसरा होता है उसके व्यक्तित्व का वह पहलू जो सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दबावों में कुछ सोचता है, महसूस करता है और कुछ कहना चाहता है। सामान्य रचना एक सीमित अर्थ में अनाम होती है। लिरिक तथा वर्णनात्मक कविता को हम शिल्पगत चिह्नों से भले ही पहचान लें, उसमें एक सामान्यता होती है जो हमें कवि का नाम जानने के लिए बाध्य नहीं करती। लेकिन हर्ष का विषय है कि प्रत्येक कवि पारम्परीण अर्थों में कवि नहीं होता और सदैव पारम्परीण कविता न लिखता हुआ कुछ और भी होना-लिखना चाहता है। किसी भी कवि की प्रतिनिधि रचनाएँ वे नहीं हैं जिनमें उसने पारम्परीण अनुभूतियों को कुछ अधिक अच्छे ढंग से लिखा है बल्कि वे हैं जिनमें वह अपनी मान्यताएँ, प्रतिक्रियाएँ, अपने हस्ताक्षर तथा अपनी विजय तथा पराजयों को छोड़ आया है। पिछले कितने ही वर्षों की कविताएँ उठा लीजिए, वही जीवित हैं जिनमें कवि ने स्वयं के विषय में कहते हुए सबके विषय में कुछ कहा है। सामान्य रचना के पीछे अभ्यास, स्मरणशक्ति, शिल्प की सतही पकड़ (तथा व्यावसायिकता का भी) योगदान होता है और हिन्दी में इसका सबसे बड़ा उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त हैं। पिछले पच्चीस वर्षों में हिन्दी कविता सामान्य रचना से उत्तरोत्तर विमुख हुई है और व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य की ओर द्रुतगति से बढ़ी है। 'माया-दर्पण' में कम-से-कम नौ ऐसी कविताएँ हैं जिन्हें हम 'श्रीकान्त वर्मा की कविता' कह सकते हैं, शेष को 'श्रीकान्त वर्मा के समय में लिखी जा रही कविताओं के समान श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ' कहा जा सकता है। वे कविताएँ हैं 'घर-धाम', 'नकली कवियों की वसुन्धरा' 'दुनिया नामक बेवा का शोकगीत', 'हेर-फेर', 'प्रेस वक्तव्य', 'दो-टूक रास्ता', 'बुखार में कविता', 'अन्तिम वक्तव्य' तथा 'समाधि-लेख'।

आश्चर्य का विषय है कि आलोचना में सदैव व्यक्तित्व को एक ठहरी हुई, तर्कबद्ध या शाश्वत वस्तु मान लिया जाता है और फिर इस 'फैलेसी' के सहारे कवि पर या तो अजीबोगरीब आरोप लगाए जाते हैं या भ्रान्त प्रशंसा की जाती है। मनुष्य न रॉबट है और न कम्प्यूटर, वह पुच्छलतारा भी नहीं है कि उसके आचार-व्यवहार में कोई गणित खोजा जा सके। आदमियों की वह नस्ल जिसे कवि कहा जाता है प्रारम्भ से ही अविश्वसनीय तथा तर्क से परे मानी गई है किन्तु सारे कवि अलग-अलग किन्हीं मूल्यों के एक स्तर तक पहुँचते हैं और कमोबेश वे उनकी कविताओं में एक अनुपात में परिलक्षित होते हैं। यह भी ध्यान रहे कि कवि महान्, संवेदनशील, सरलहृदय, दयालु होने के साथ-साथ लफंगे, शरारती, विदूषक और धोखेबाज भी होते हैं (आखिर वे भी आदमी हैं) और इसलिए कवि के वक्तव्य को फ़ेस वैल्यू पर ग्रहण करना अपने विवेक को जोखिम में डालना है। 'घर-धाम' कविता अपनी प्रथम नौ आवश्यक पंक्तियों के बावजूद भी पठनीय है :

मैं अब घर जाना चाहता हूँ / मैं जंगलों / पहाड़ों में / खो जाना चाहता हूँ।

× × ×

मैं जीना चाहता हूँ / और जीवन को / भासमान / करना चाहता हूँ

× × ×

मैं विवाह करना चाहता हूँ / और / उसे प्यार / करना चाहता हूँ / मैं उसका पति, / उसका प्रेमी / और / उसका सर्वस्व / उसे देना चाहता हूँ / और / उसकी गोद / भरना चाहता हूँ।

मैंने ऊपर इन पंक्तियों को 'पठनीय' कहा है क्योंकि ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खतरनाक पंक्तियाँ हैं, कविता में मानवीय संवेदना खोजना एक अच्छी बात है और किसी कवि के कृतित्व में यदि वह पायी जाए तो और भी अच्छी बात है, लेकिन एक पंक्ति अथवा एक कविता का कमज़ोर आश्रय लेकर एक कवि को वह सिद्ध करना जो वह नहीं है एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें सबसे ज़्यादा घाटा आलोचक को ही उठाना पड़ता है। उपर्युक्त पंक्तियों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि श्रीकान्त शोरशराबे से तंग आ चुके हैं, वे कस्बे लौट जाना चाहते हैं, उनकी कविता महानगर से करुणा की ओर रवाना हो चुकी है, वे मृदु मानव-सम्बन्धों के कवि हैं, उनमें जिजीविषा है, उनका काव्य मानव-मूल्यों का काव्य है, आदि, आदि। मैं यह मानता हूँ कि इन पंक्तियों से श्रीकान्त के काव्य-चिन्तन के विषय में कुछ जाना जा सकता है किन्तु इसे स्वीकार करना कठिन है कि यह और ऐसी कविताएँ श्रीकान्त की प्रतिनिधि कविताएँ हैं। हिन्दी कविता में आज ऐसी स्थिति आ गई है कि प्रेम, आत्मदया, सहानुभूति वगैरह कवि को एक अस्थायी पलायन दे सकते हैं, जब वह इनसे लौटकर आता है तो उसके समक्ष तथा उसकी कविता में विद्रूप, व्यंग्य, प्रहार, क्रूरता, सेडिज़्म, भर्त्सना, ही होते हैं क्योंकि आज के वेल्ट्शमर्ज़ के बाद और बचता भी क्या है। वैसे तो पैन्डोरा का बक्स खुलने के बाद अन्त में आशा भी निकली थी। श्रीकान्त की जिन नौ महत्त्वपूर्ण कविताओं का ज़िक्र मैंने ऊपर किया है उनमें 'घर-धाम' मैंने इसलिए शामिल की है क्योंकि वह अन्तर्भूत करुणा की एकमात्र कविता है और अन्य आठ में कवि का मूड इस तरह है :

टाँग दो शो-विन्डो में / दाग़ों से भरा / पेटीकोट

× × ×

क्या मैं पड़ा रहूँ अपनी स्त्री की जाँघ की / दराज़ में?

× × ×

बरस रहा है अन्धकार ! / मगर उल्लू के पट्ठे ! / स्त्रियाँ रिझाऊ कविताएँ / लिख रहे हैं।

× × ×

यह मेरा सवाल नहीं है / बल्कि / उत्तर है : / 'मैं क्या कर सकता हूँ !'

× × ×

मैं ग़ौर से सुन सकता हूँ / औरों के रोने को / मगर दूसरे के दुख को / अपना मानने की बहुत / कोशिश की; नहीं हुआ !

× × ×

सारे शहर की / वेश्याओं पर / सूरज / सवार था।

इन पंक्तियों की तल्खी और तुर्शी अन्य कविताओं की तमाम करुणा को व्यर्थ, बेमायना तथा पीलियाग्रस्त बना देती है। अपने सारे लिरिसिज़्म तथा एकांत संवेदनशीलता के बावजूद श्रीकान्त एक गहन तथा दुर्धर्ष कवि हैं और उनकी प्रतिभा पर कोई भी लेबल लगाना अभी न तो उचित है न बुद्धिमत्तापूर्ण। हाँ, यह साफ़ है कि अपनी उन कविताओं में जहाँ उनकी क्रीडो सुनिश्चित रूप से व्यक्त हुई है, वे भावुक, करुण, सॉफिस्टिकेट नहीं हैं बल्कि निर्मम, क्रूर तथा जर्राह-सरीखे हैं। श्रीकान्त को यह भी परवाह नहीं है कि समाज, व्यवस्था तथा आलोचक, उनकी कविता के विषय में क्या सोचते-समझते-कहते हैं :

सारे संसार की / सड़क पर / दो-टूक कवि / पेशाब करता / हुआ / चला / गया है।

वर्तमान व्यवस्था इस हास्यास्पदता तक पहुँच गई है कि कवि उसका 'उद्धार' करने को तनिक भी उत्सुक नहीं है, बल्कि उसका आक्रोश उसे एक भयावह सैन्स ऑव ह्यूमर देता है जो स्विफ्ट तथा सर्वेन्टीज़ के बहुत निकट है :

इस सारे क्रम का / मैं क्या करूँ ? / क्या उल्लुओं की जगह / इस रथ में जोत दूँ / दो कुत्ते ?

क्या बागडोर दे दूँ / वेश्याओं के / हाथ में ?

यह इसलिए कि वह इतिहास के छल-प्रपंच को खूब समझ चुका है और जानता है कि सत्ता-परिवर्तन, इन्कलाब के वादों तथा जनतान्त्रिक समाजवाद के नारों में एक साज़िश छिपी हुई है :

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा
षड्यन्त्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
कसम खाएँगे
लोकतन्त्र की।

श्रीकान्त के लिए तथा हमारी समूची पीढ़ी के लिए अब देश, देशभक्ति, राष्ट्रीयता, नागरिकता सरीखे शब्द न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल अर्थहीन बल्कि भयावह तथा हास्यास्पद हो गए हैं क्योंकि इन्हीं का प्रयोग करते हुए हम सबको धोखा दिया गया है। कवि के लिए केवल धर्म ही नहीं, देश भी अफ़ीम है और इसीलिए जब देश तथा कविता के बीच चुनाव का प्रश्न आता है तब वह प्रहार करता है :

मूर्खो ! देश को खोकर ही
मैंने प्राप्त की थी
यह कविता···

कवि क्या कर सकता है ? इस देश तथा इस व्यवस्था की शिराओं तथा केशिकाओं के अन्तिम छोरों तक सड़न पैठ चुकी है जिसे सैकड़ों भूदान, हज़ारों सदाचार समितियाँ तथा लाखों एन्टी-करप्शन ब्यूरोज़ नहीं निकाल पाएँगे। कैन्सर के मरीज़ की एक ऐसी हालत हो जाती है जिसमें यह नहीं कहा जा सकता कि वह तीन घण्टे जीवित रहेगा अथवा तीन वर्ष, और ऐसी दशा में सिर्फ एक प्रतीक्षा ही की जा सकती है :

मैं टकटकी लगाए
देख रहा हूँ
कैसे गिरती है इमारत
धरती के कँपने से

मैं यह सिद्ध नहीं करना चाहता कि श्रीकान्त का स्वर देश-द्रोही तथा मानव-द्रोही है, यदि होता भी तो इसकी चिन्ता न कवि को होनी चाहिए, न आलोचक को; मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि श्रीकान्त की कविता में वर्तमान का गहरा अवेयरनेस है और इस देश में प्रत्येक सोचने वाला या तो पलायनवादी हो जाता है या आक्रामक—और पहला तरीका बहुत आसान है—इसीलिए श्रीकान्त आक्रमण करते हैं।

इस सबके बाद श्रीकान्त की कविता की दिशा के विषय में क्या किसी परिणाम पर पहुँचना सम्भव है ? 'दिनारंभ' तथा 'माया दर्पण' की एक सौ पन्द्रह रचनाएँ पढ़ने के बाद कोई स्पष्ट पैटर्न उभरता है यह कहना कठिन है। छोटी कविताओं में उनकी अभिव्यक्ति स्निग्ध तथा आत्मकथ्यात्मक है जबकि लम्बी कविताओं के कैन्वस विस्तृत हैं और आज की कविता के सारे लक्षण—मोहभंग, नाराज़गी, घृणा, विद्रोह—उनमें प्राप्त हैं। ऐसी छोटी तथा लम्बी रचनाओं को एक ही संग्रह में रखना कन्ट्रास्ट अवश्य पैदा करता है किन्तु कन्ट्रास्ट सुखद एवं सार्थक तभी होता है जब दोनों पक्ष प्रकृति में भिन्न होते हुए भी शक्ति में समतुल्य हों। श्रीकान्त की छोटी कविताएँ यदि प्रभाव छोड़ सकतीं तो इसलिए नहीं छोड़ पातीं कि उनके पास ही लम्बी कविताएँ हैं जिनका मुहावरा, विषय-वस्तु, ओज तथा स्वर इतने तात्कालिक तथा प्रखर हैं कि संयत लिरिसिज़्म उनके आगे ठहर नहीं पाता। 'दुनिया नामक बेवा का शोक-गीत' लिखने वाला कवि 'फुलचुक्की का प्यार' भी लिख सकता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, मैं यह प्रश्न भी नहीं उठाता कि जब वह 'नकली कवियों की वसुन्धरा' लिखता है तो साथ में 'सारा-का-सारा सका न पा, सारा-का-सारा सका न दे' क्यों लिखता है, लेकिन कोई वजह होगी कि इनी-गिनी वही कविताएँ मस्तिष्क में फँसकर रह जाती हैं जो लम्बी हैं, जिनमें उनका नकारात्मक आक्रोश है और जो यह बताती हैं कि अपनी छोटी रचनाओं की गीतात्मकता के बाद भी उनका कवि 'अन्तिम वक्तव्य' में यह कहने पर बाध्य होता है :

कोई भी जगह नहीं रही
रहने के लायक
न मैं आत्महत्या
कर सकता हूँ
न औरों का खून !

मैं समझता हूँ कि श्रीकान्त अभी अपना रास्ता निश्चित नहीं कर पाए हैं—मेरा अर्थ यहाँ किसी राजनीतिक या किसी और दर्शन से नहीं है। उनका कवि दो स्तरों पर रचना कर रहा है और जहाँ इसमें खतरा है वहाँ सुविधाएँ भी हैं। साहित्य में मज्झिम निकाय या टाइट रोप वॉकिंग सम्भव है या नहीं, यह मैं नहीं जानता, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वही साहित्य बचा है जो उभयमुखी नहीं है। 'कवि' शब्द का पारम्परीण अर्थ हिन्दी में इतना गहरा पैठ चुका है कि हम पहले कवि होना चाहते हैं और बाद में यदि लिख पाते हैं तो कविता लिखते हैं। श्रीकान्त कविता लिखते हैं इसमें सन्देह करने का कोई आधार नहीं है, हाँ, समय आ गया है कि वे खतरों तथा सुविधाओं के बीच चुनाव कर लें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोड़ते हुए···

प्रयाग शुक्ल

कई साल पहले जब रेणु का 'मैला आँचल' पढ़ना शुरू किया था तो कुछेक पृष्ठों के बाद पढ़ नहीं पाया था—तब साहित्य की दुनिया से और दुनिया से जितना परिचय था, उसमें वह 'दूसरी दुनिया' का उपन्यास लगा था। कुछेक साल पहले जब उसे दोबारा पढ़ना शुरू किया तो न सिर्फ पूरा पढ़ गया, बाद में भी कई बार उसे बीच-बीच से पढ़ता रहा। फिर 'परती : परिकथा' भी पढ़ा, उनका कहानी संग्रह 'ठुमरी' भी—उनकी रचनाएँ पढ़कर बचपन की कितनी भूली-बिसरी स्मृतियाँ उभरीं। तमाम बिखरी हुई, लेकिन अलग से अपना अस्तित्व रखने वाली चीज़ों को मानों फिर से पहचाना—'मैला आँचल' में नीलहे साहबों की कोठी, पूरा मेरीगंज गाँव, 'परती : परिकथा' में जित्तन बाबू का 'बुर्ज', जहाँ बैठकर वह 'कारन' पिया करते थे, परती, असंख्य चिड़ियाँ—उनकी बोली-बानी, 'तीर्थाटन' कहानी में रेल-यात्रा, बनारस के घाट-गलियाँ, 'लाल पान की बेगम' में किसी भी गाँव का घर-आँगन, द्वेष-प्रेम, बैलगाड़ियाँ, उनकी दौड़ और 'अब आदिम रात्रि की महक' में प्लेटफ़ार्म, खेत, नामहीन तालाब, यों ही कहीं भर गया पानी, अनेक चीज़ों की महक, 'विघटन के क्षण' की 'हवेली', विजया और चुरमुन—उनके ऐसे 'सुख' जिनकी ओर से पुरानी पड़ गई या पड़ती जाती दुनिया आँखें मूंद लेती है—यह सूची और भी लम्बी हो सकती है, लेकिन हो सकता है कि वह बहुत हद तक 'निजी' हो, और विजया और चुरमुन के दुःख-सुख की तरह ही उसे समझाया न जा सके। 'मन में पानी के अनेक स्मरण हैं' की तरह ही रेणु की रचनाओं के संस्मरण हैं, जो दूसरों के और दूर के होते हुए भी बहुत निजी और अपने हैं। और जिनकी याद करके अपने कितने ही संस्मरणों को उभारा जा सकता है और अपने को कितनी ही चीजों से जोड़ा जा सकता है। रोज़मर्रा ज़िन्दगी की बँधी-बँधाई सड़कों से उतरकर जो भी पगडंडी या बेकार पड़ी ज़मीन, जहाँ चाहे पेड़-पौधे हों या वह परती ही हो, मिलती है तो रेणु की कहानियों की ही याद आती है। खण्डहरों, उपेक्षित जगहों, 'सूनी' ज़िन्दगियों के कितने ही संस्मरण उनकी कहानियों में भरे पड़े हैं। उनकी कहानियों का 'देश' उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उसके बहाने ज़िन्दगी के तमाम पहलुओं से परिचय। रेणु की कहानियां इस हद तक निर्मम हो सकती हैं कि अपने चरित्रों और 'देश' के साथ बुरी-से-बुरी बीतने दें। लेकिन इसी प्रक्रिया में वह आपसे जीवन को स्वीकार कराती चलती हैं, और आपके मन को पक्का करके, वह संवेदना उपजाती हैं जिसे असली कह सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि रेणु भावुकता से बिल्कुल अछूते हैं, कहीं-कहीं पर तो वह उसके मारे हुए हैं—और उनकी रचनाओं के खराब पक्षों में से यह एक है। लेकिन कुल मिलाकर मुझे रेणु इस तरह के लेखक लगते हैं जो चीज़ों को सहन कर सकते हैं, बहुत मोटी तरह से कहें तो पचा सकते हैं, तटस्थ होकर किसी 'बड़ी बात' को इस अन्दाज़ में कह सकते हैं कि उसका पूरा असर हो, लेकिन वह 'घटना' या 'दुर्घटना' बनकर आपको छा न ले। 'मैला आँचल' की लक्ष्मी हो, या 'परती : परिकथा' की इरावती या 'जलवा' की फातिमादि, या 'विघटन के क्षण' की विजया या 'आदिम रात्रि की महक' का करमा, सबकी कहानी रेणु एक निर्मम लगाव से कहते हैं। किसी तरह की ख़ुशफहमी से वह बचते हैं—कम-से-कम स्थितियों को रखने में। इसके बाद वे भले एक ऐसा 'संसार' रच दें, जहाँ इन्हें थोड़ा-बहुत भूला जा सके। रेणु के इस निर्मम-लगाव का सबसे अच्छा उदाहरण शायद 'आदिम रात्रि की महक' कहानी है—'नाम'-धाम हीन करमा अपने सभी 'बाबुओं' के बारे में कुछ इसी निर्मम-लगाव के साथ बातचीत करता है। करमा ने इन बाबुओं के साथ काम करते हुए अनेक जगहों, चरित्रों और चीज़ों का इतिहास इकट्ठा कर लिया है—लेकिन इस इतिहास में कोई घटनाक्रम नहीं है, न ही कोई निश्चित अवधि या काल है—करमा इस इतिहास में से कहीं से भी हाथ बढ़ाकर अपने लिए कुछ प्राप्त कर सकता है। एक गन्ध के पीछे एक संसार है, एक बात से लगी हुई हज़ार बातें हैं, और एक दृश्य को देखकर सौ दृश्य उभरते हैं। इसी तरह 'विघटन के क्षण' कहानी में रेणु ८-९ साल की चुरमुन और १६ साल की विजया के दुःख इस तरह कह जाते हैं कि पढ़ते हुए 'तकलीफ़' नहीं होती। लेकिन कहानी पढ़कर एक ओर रख दें तो चुरमुन का धूल में लोटना और रोना, एक कविता-पंक्ति की तरह बार-बार मन में उभर आते हैं···।

* आदिम रात्रि की महक : फणीश्वरनाथ रेणु, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली ६, पृष्ठ १८२, मूल्य ५ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेणु के बारे में मुझे लगता है कि जितना वह रचते हैं, उसकी बात छोड़ें तो कुछ कह सकते हैं कि वह चीज़ों को जोड़ना बहुत अच्छी तरह जानते हैं। बल्कि कई बार तो मुझे यह भी लगता है कि उनके जोड़ने में ही उनकी 'रचना' का रहस्य है। 'आदिम रात्रि की महक' में करमा बाबुओं की ज़िंदगियाँ, जगहें, रेलवे प्लेटफार्मों, गाँव-खेत, मस्ताना बाबा की साधुगिरी, ऋतुएँ, उनकी महक—सब-कुछ को 'जोड़ता' चलता है—'कुत्ता रुककर करमा को देखने लगा। धनखेतों से बीच से गुज़रने वाली पगडंडी पकड़कर करमा चल रहा है। धान की बालियाँ अभी फूटकर निकली नहीं हैं···करमा को हेडक्वार्टर के चौधरी बाबू की गर्भवती घरवाली की याद आई। सुना है, डॉक्टरानी ने अन्दर का फोटो लेकर देखा है—जुड़वाँ बच्चा है पेट में !

···इधर 'हथिया-नच्छतर अच्छा झरा' था। खेतों में अभी भी पानी लगा हुआ है।···मछली ?

···पानी में माँगुर-मछलियों को देखकर करमा की देह अपने-आप बँध गई। वह साँस रोककर चुपचाप खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे खेत की मेड़ पर चला गया। मछलियाँ छल-मलाईं। आईने की तरह थिर पानी अचानक नाचने लगा··· (पृष्ठ ५३) इस जोड़ने में सब-कुछ समेट लेने का भाव नहीं है, न ही विस्तार···दरअसल करमा जितनी चीजों को जोड़ना चाहता है, रेणु उतनी ही जोड़ते हैं···

'विघटन के क्षण' कहानी में गाँव छोड़कर पटना जा बसे। एम० एल० ए० की भतीजी विजया है, उसे भी अब गाँव छोड़कर पटना जाना है, पुरानी हवेली में काम करने वाली आठ-नौ साल की चुरमुन है, जो गाँव की हँसी-खुशी गायब हो जाने के भय से आक्रान्त है—एक-एक कर सभी गाँव छोड़कर चले जाएँगे—साहू की दुकान से शहर के बहु-रंगी जीवन को जोड़ते हुए 'रेणु' कहते हैं···'अब क्या बतावें कि गोलपारक क्या है और कैसा होता है। वह देखने पर ही समझोगे। **मुँह की बोली में उतने किस्म का रंग कहाँ से लावेंगे ?'** लेकिन वे मुँह की बोली में 'उतने किस्म' का नहीं तो कई किस्म का रंग लाते हैं, और इतने से भी पूरा नहीं पड़ता तो कई तरह की गंध भी जुटा देते हैं···अपनी ओर से भरसक नाकनक्शा भी समझा देते हैं···इसी 'जोड़ने' की प्रक्रिया में रेणु की कहानियाँ अक्सर पटकथा लगती हैं। लेकिन चीजों को जोड़ने में माहिर रेणु कई बार अपनी कला के हाथों बँधे-बँधे, 'जड़ाऊ मुखड़ा' और 'नैना जोगिन' जैसी कहानियाँ भी लिख डालते हैं जो साफ 'किस्सा' बनकर रह जाती हैं। और जिनके रंग-गंध-चित्र, कहानी पढ़ने के बाद मन से पुँछ जाते हैं।

'आदिम रात्रि की महक', 'विघटन के क्षण' और 'जलवा' को छोड़कर संग्रह की प्रायः सभी कहानियाँ जिये जा रहे विभिन्न प्रकार के जीवनों, उनके दुःख-सुख, आशा-निराशा, मजबूरी-स्वतंत्रता का या तो लेखा-जोखा मात्र हैं या फिर चित्रण-वर्णन। यह सही है कि ऐसे सभी जीवन, उनकी पकड़ में हैं और इस 'पकड़' को वह पाठकों तक पहुँचा भी देते हैं। लेकिन 'ले-देकर बात बराबर कर देने' वाली ये कहानियाँ, जिन्दगी के कुछ टुकड़े या पहलू ही पेश करके रह जाती हैं। जिनसे सहमति-असहमति का भी सवाल नहीं उठता, न स्वीकार-अस्वीकार का—अनुभूति के स्तर पर। 'ऐसा भी होता है या शायद ऐसा ही होता है' का एक उड़ता-सा खयाल भर वह दे जाती हैं। इसीलिए कई बार यह भी लगता है कि 'जोड़ने' की कुशलता अब उन्हें चूँकि बहुत रास आ गई है, इसलिए वह जोड़ते हुए रचने की बात कई बार भुला देते हैं। ऐसे में वह खतरा है कि उनकी कहानियाँ 'चरित्र-चित्रण' या चित्रण वाले अर्थ में सपाट न हो जाएँ—जिनमें शब्द तो सब ठीक और बहुत-कुछ अपनी जगह पर हों, लेकिन उनकी 'महक' गायब हो जाए।

समुद्र : स्वीकार के साथ

प्रयाग शुक्ल

रामकुमार की बहुत-सी कहानियाँ घेरों और सीमाओं की कहानियाँ हैं : 'पिकनिक', 'एक चेहरा', 'बारिश', 'दायरा', 'जानीन', 'समुद्र', 'सिमिट्री', 'आवाज़'··· सोचने पर कई नाम मन में तैर आते हैं। कुछ और सोचने पर, याद करने पर—वैसे इसकी जरूरत अक्सर नहीं पड़ती—इन नामों में छिपे संसार खुलने लगते हैं। कितनी ही शामों-दुपहरों के अँधेरे-उजाले, लगातार बारिश में डूबते-उतराते

१. समुद्र : रामकुमार : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली-६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन, कितनी ही विवशताएँ, जर्जर होती चीजें, धुँधली होती आकृतियाँ, मध्यवर्गीय जीवन की ठहरी हुई गति, अलभ्य दूरियाँ, सब-कुछ का एक विवश स्वीकार, युवा आकांक्षाएँ जो धीरे-धीरे मन्द पड़ती जाती हैं। सब उभरने लगते हैं। रामकुमार की कहानियों का साथ न भूलने वाली चीज है। भावी 'सेलर' एक पार्क में बैठे-बैठे ही, जीवन की तोड़ती-मारती क्षुद्रताओं से लेकर आकांक्षाओं तक की परिक्रमा में आपके साथ रहता है। एक सुबह, दिल्ली की मध्यवर्गीय बस्तियों का जीवन 'सेलर' उघाड़कर रख देती है···जीवन की मन्द गति से कसमसाती हुई ज़िन्दगियाँ मानो एक अनोखी चमक से उजागर हो जाती हैं। लेकिन यह अनोखी जादुई चमक ज्यादा देर तक ठहरती नहीं। रामकुमार इस अनोखी चमक का इस्तेमाल किसी प्रदर्शन के लिए नहीं करते। समझने-समझाने के दौरान ही यह रचनात्मक चमक, मानो स्वयं कहीं छिपी रहकर, चीजों को उघाड़ती चलती है। कुछ इस तरह कि आप सब-कुछ देख लें, हर दृश्य आपके मन में बस जाए, देखी हुई चीज़ों की असली तसवीर उभर आए—आप उसे पहचान लें। 'पिकनिक' हो या 'समुद्र', अँधेरी सुरंगों या तहों की तरह मन के अँधेरे, अनछुए कोने और कोण प्रकाशित होकर फिर बुझ जाते हैं। लेकिन चूँकि वे एक बार दिख जाते हैं, इसलिए कभी भूलते नहीं। रामकुमार उन्हें बराबर के लिए प्रकाशित छोड़ दें या उन पर किसी खास ही कोण से प्रकाश डालें—ऐसा नहीं होता। उनके अन्य समकालीनों ने यह काम बहुत किया है और कहानी को पठनीय ही नहीं 'दर्शनीय' बनाने की कोशिश भी की है। इसीलिए ऐसी 'दर्शनीय' कहानियों के पाठकों को रामकुमार की कहानियाँ सपाट, नीरस और उबाऊ भी लग सकती हैं। जहाँ तक रामकुमार की कहानियों के शिल्प या ऊपरी ढाँचे का सवाल है, यह सही है कि वह इतना नया नहीं है कि उसे प्रयोग कहें। लेकिन रामकुमार ने इस ऊपरी ढाँचे के भीतर-ही-भीतर अपना शिल्प गढ़ा है, जो 'पिकनिक', 'समुद्र', 'स्टीमर' आदि कहानियों में ज्यादा मुखर है।

'समुद्र' की सभी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ चुका था—संग्रह में '६२ से लेकर '६६ तक की कहानियाँ हैं। इन्हें दोबारा पढ़ते हुए एक बार फिर लगा कि रामकुमार की कहानियाँ असुविधाजनक स्थितियों से पाठक को कोई असुविधा न होने देने के प्रयत्न में, उसे सहज ही अपना आत्मीय बना लेती हैं। जहाँ दोनों पक्ष यह समझ जाते हैं कि बात बिना कहे हुए ही खुल गई है, लेकिन आँखें कोई नहीं चुराता, सह-अनुभूति में बँधे दोनों चुपचाप चलते जाते हैं और जब अलग होते हैं तो यह अलगाव मात्र 'शारीरिक' होता है। बीच में टूट गये संवाद, अचानक रोक लिये गए सोच, कहें कि न कहें की दुविधा—रामकुमार की कहानियों में बार-बार झलकते हैं। लेकिन यह किसी प्रकार का संकोच मात्र नहीं है—यह मन के 'कड़े' होने या कड़ा किए जाने की निशानी है, स्थितियों का सहज स्वीकार है। 'समुद्र' कहानी में पत्नी को विवाहित जीवन के बाद मानो सब-कुछ अपरिचित लगने लगता है—पति के साथ कुछ दिनों के लिए समुद्र-तट में आकर। लेकिन यह ऐसा अपरिचय है जो उसे विवाहित जीवन के पन्द्रह वर्षों से ही नहीं, खुद से उसे परिचित कराता है। 'पत्नी के मन में एक हल्का-सा आक्रोश भरा जा रहा था। वह यहाँ क्यों आई? समुद्र देखने की कभी इच्छा नहीं हुई, बच्चों से दूर अपने पति के साथ अकेले कुछ दिन काटने का मतलब भी समझ में नहीं आ रहा। उसे स्पष्ट रूप से यहाँ आने से इन्कार कर देना चाहिए था, कुछ देर वे झुंझलाते, कुछ झगड़ा भी हो जाता, लेकिन यह घबराहट, यह बेचैनी तो न होती।' (पृष्ठ ११४)···'घर में जिन छोटी-छोटी बातों पर कभी उसका ध्यान नहीं गया, उन्हीं के बारे में सोचते हुए कितना समय बीत जाता, इसका आभास होने पर अपनी स्थिति पर उसे कम आश्चर्य नहीं होता। केवल पति का स्वभाव, उनकी आदतें, उनकी बिना मतलब की बातें ही नहीं बल्कि शारीरिक रूप से भी कभी-कभी वे ऐसे लगते जिसका विरोध किये बिना उसका मन नहीं मानता था। आज तक जो इतना स्वाभाविक और सत्य बन गया था, उसके प्रति अकस्मात सन्देह उपजना, उसे भयंकर जान पड़ा।' (पृष्ठ ११५)···'जितना ही वह सोचती, उसे लगता जैसे उसने कोई भयानक भूल की हो जिससे कभी छुटकारा नहीं मिल सकेगा। वह महसूस करती कि अब घर लौट जाने के बाद भी वह पहले की भाँति अपने पति और बच्चों के साथ नहीं रह सकेगी। घर-वापस लौटने की बात से ही वह काँप उठती और यहाँ भी नहीं रहा जा सकता···' 'अपने प्रति न जाने कैसी घृणा-सी मन में उमड़ने लगी।' (पृष्ठ १२०-२१)।

उद्धरणों से, चाहे वे छोटे हों या बड़े, कभी पूरी बात सामने नहीं आ पाती, लेकिन वे बात के लहजे, उसकी भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
029585

को तो सामने रखते ही हैं। राकुमार की कहानियों की भाषा, सीधी, सरल है और उसमें नकलीपन नहीं है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि रामकुमार शब्दों के रख-रखाव के प्रति सचेत न हों। बात को बिना फैलाये, किन शब्दों में और कितने शब्दों में कहा जा सकता है, इसे वे जानते हैं। 'पिकनिक' कहानी में सीधे-सादे चुस्त वाक्य मानों एक रूखेपन से सब-कुछ कहते चले जाते हैं, लेकिन थोड़ी देर में पाते हैं कि एक करुणामिश्रित व्यंग्य उनमें सिमट आया है, जिससे 'छुटकारा' नहीं—मि० सरकार की सम्पन्नता के बीच कुछ मध्यवर्गीय बूढ़ों की एक दिन की पिकनिक उन्हें यह बतला देती है कि लाख कोशिश करने पर भी वे बरसों जिये गये जीवन से मानो क्षण-भर के लिए भी अपने को अलग नहीं कर सकते···ऐसी बात नहीं है कि वे इस बात को जानते नहीं थे। सिर्फ यही कि जानकर भी वे इसे 'अस्वीकार' करना चाहें तो भी वे ऐसा नहीं कर सकते···

पिकनिक के बूढ़े हों या समुद्र की पत्नी, इन्हें एक लम्बे बँधे-बँधाये जीवन के बाद कुछ समय ऐसा मिलता है जिसे वे अपने पिछले जीवन से भिन्न समझ सकें···लेकिन अबतक शायद बहुत देर हो चुकी है···'गठिया के पुराने रोग ने ऐसा जकड़ा कि उस दिन की पिकनिक के विचार से ही मैं काँप-सा जाता। घरवालों को उपदेश देने का इससे अच्छा अवसर और कौन-सा मिलता! यह उम्र पिकनिकों की नहीं रही, अब तो घर पर बैठकर ही आराम करना चाहिए। जो थोड़ी-सी शक्ति बची है, उसे राम-नाम में ही खर्च करना चाहिए··· मैं चुपचाप उनकी बातें सुनता रहा, कभी क्रोध आता था, केवल अब और उदासीनता की भावना ही उभर आती···'

(पिकनिक)

'वह सोचता था कि वापस लौटने के विचार से पत्नी को प्रसन्नता होगी। इसी कारण प्रायः वह कभी घर की बातें करता, कभी बच्चों की, लेकिन पत्नी ने कोई विशेष उत्साह नहीं दिखलाया। एक उदासीनता की छाया जमी रही···'

(समुद्र)

न सिर्फ़ यही कि अब नया जीवन शुरू नहीं किया जा सकता, यह भी कि पहले भी पता चल जाने पर, जो जीवन जिया गया, उससे भिन्न जीवन शायद नहीं जिया जा सकता था। 'चेरी के पेड़' के बच्चे तब भले न समझ पाए हों, बड़ी बहन ने इस कठोर-सत्य को पहले ही जान लिया था। अपने मन का जीवन जीने की 'छूट' नहीं है। लेकिन रामकुमार की कहानियाँ 'सेलर' और 'अतीत' से बनाये रखना चाहती हैं—'अतीत' में बचपन का दोस्त तो कहीं खो गया है, लेकिन उसके पुराने रूप का उसी का लड़का अभी है, और 'सेलर' में पिता जो कुछ खो चुका है, उसे उसका लड़का शायद प्राप्त करे। यह एक मोटी व्याख्या है। लेकिन रामकुमार की कहानियों के कतिपय रूप इससे पता चल सकते हैं।

रामकुमार मध्यवर्गीय युवा मन को, उसकी आकांक्षाओं-निराशाओं को, पहचानते हैं, कई बार यथातथ्य लगने वाले चित्रण के बीच भी वे इस पहचान को इस तरह प्रकट कर देते हैं कि किसी क़िस्म के 'संदेह' की गुंजायश बाकी नहीं रहती—'यात्रा', 'स्टीमर', 'आवाज़' कहानियों में इस युवा-मन के द्वन्द्व, संघर्ष, तनाव, प्रेम-सम्बन्ध, छटपटाहट, विवशताएँ और कुल मिलाकर एक विवश स्वीकार मार्मिक संस्मरणों की तरह याद रह जाते हैं। ढेर-सा समय है, जिसे भरने के लिए साधन नहीं हैं—इसमें चाहे-अनचाहे जो कुछ भी आ गिरता है, उसे स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं—'आवाज़' कहानी का युवक मुर्गों के कटने के दृश्य से लेकर, एक नेपाली नौकर की प्रेम-कहानी, चोरी, और परिचित चाचा-चाची व उनकी बेटियों के संघर्ष का भागीदार है। चाहें तो दर्शक कह लें—ऐसा दर्शक जिसे न तो 'तटस्थ' रह सकने का सुख प्राप्त है, और न ही कुछ कर सकने की क्षमता।

लेकिन पिछले दिनों युवा मन पर, मध्यवर्गीय युवा मन पर जो चोटें पड़ी हैं, और उसकी स्थिति जिस तरह बदलती रहती है, उससे अब न तो उसे सोच का 'इत्मीनान' प्राप्त है और न वैसा संसार जो रामकुमार की कहानियों में मिलता है। लगातार चक्कर खाकर घूमती रहने वाली किसी चीज़ की तरह वह किसी स्थिति-विशेष के केन्द्र से छिटक रहा है। और कोई आश्चर्य नहीं कि उसे इन कहानियों का संसार 'अतीत' लगने लगे; लेकिन अगर यह अतीत हो भी तो ऐसा अतीत है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता। यहीं आकर लगता है कि रामकुमार की कहानियों को भी अब स्थिति-विशेष के केन्द्रों से छिटकना होगा, क्योंकि इस संग्रह से अलग भी उनकी जो कहानियाँ इधर प्रकाशित हुई हैं, उनका संसार, उनकी पिछली कहानियों से भिन्न नहीं है। यह सही है कि हर लेखक का अपना एक संसार होता है, ज़रूरी नहीं है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह बराबर व्यापक ही हो, और बदले ही। लेकिन यह अपना संसार भी अगर कहीं थमने लगे तो उसे फिर से एक हलचल से भरने की ज़रूरत हो सकती है—या उतने को ही उलट-पुलट किया जा सकता है। रामकुमार की कहानियों के बारे में ऐसा आग्रह इसलिए भी है कि जैनेन्द्र, अज्ञेय के बाद वे पहले कथाकार हैं, जिन्होंने कहानियों के माध्यम से सब-कुछ को देखने-समझने का 'ठोस आधार' दिया था 'चोरी' से लेकर 'समुद्र' तक की कहानियों में, बनते-टूटते सम्बन्धों को अकेलेपन, संघर्ष को तथा भाग्य-संयोग से अलग करके जीवन की स्थितियों को, इस तरह देखा गया है कि बहुत-कुछ सोचा-समझा जा सके। इसीलिए उनसे एक बार फिर कोई अपेक्षा स्वाभाविक है।

रामकुमार की कहानियाँ इस ओर भी इशारा करती हैं कि सीधी-सरल बात के बहाने ज़िन्दगी के बड़े सवालों को भी छुआ जा सकता है—बिना बात पैदा करने की कोशिश किये हुए ही बात पैदा की जा सकती है। क्योंकि ढूंढ़ना चाहने वाले उनकी 'सिमिट्री', 'बारिश', 'पिकनिक' आदि कहानियों में अस्तित्ववादी या कुछ वैसी ही व्याख्याएँ भी ढूंढ़ सकते हैं। मेरे लिए तो इतना ही काफ़ी है कि वह सच्चे मन से आदमी के सुख-दुख से, उसकी शंकाओं-सवालों से जुड़ती हैं, और दूसरों को अपने सह-अनुभव के माध्यम से चीज़ों को समझने का आश्वासन देती हैं।

• • •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राजकमल' के दो आगामी प्रकाशन

१ : निराला की साहित्य साधना

डॉ० रामविलास शर्मा

"'निराला की साहित्य साधना' एक साहित्यकार का जीवन चरित है। इसलिए इसमें किसी हद तक उनके साहित्य का मूल्यांकन भी शामिल है, पर यह पुस्तक मुख्यतः उनके साहित्य की आलोचना नहीं है। निराला के पारिवारिक, सामाजिक परिवेश से उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों से उनके बाह्य रूपों के साथ उनके अन्तर्जगत से पाठकों को परिचित करना मेरा उद्देश्य है।" —'भूमिका' से

तीन खण्डों में प्रकाशित की जा रही इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में निराला का जीवन-चरित है; दूसरे में उनकी कला और विचारधारा का विवेचन होगा; तीसरे में उनके जीवन और साहित्य से सम्बन्धित अध्ययन सामग्री व पत्र होंगे।

प्रथम खण्ड अक्तूबर में प्रकाश्य

● ● ● ● ● ●

२ : कविता के नये प्रतिमान

डॉ० नामवर सिंह

इस पुस्तक में समकालीन हिन्दी आलोचना के अंतर्गत व्याप्त मूल्यान्ध वातावरण का विश्लेषण करते हुए उन काव्यमूल्यों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जो आज की स्थिति के लिए प्रासंगिक हैं।

प्रथम खण्ड के अंतर्गत विशेषतः 'तारसप्तक', 'कामायनी' 'उर्वशी' आदि कृतियों और सामान्यतः छायावादोत्तर कविता की उपलब्धियों को लेकर पिछले दो दशकों में जो विवाद हुए हैं उनमें टकराने वाले मूल्यों की पड़ताल की गई है; और इसी प्रसंग में नये दावे के साथ प्रस्तुत 'रस सिद्धान्त' की प्रसंगानुकूलता पर भी विचार किया गया है।

दूसरे खण्ड में 'कविता के नये प्रतिमान' के नाम पर प्रस्तुत अनुभूति की 'प्रामाणिकता', 'ईमानदारी', 'जटिलता', 'द्वन्द्व', 'तनाव' 'विसंगति', 'विडम्बना', 'सर्जनात्मक भाषा', बिम्बात्मकता', 'सपाटबयानी', 'फँटेसी', 'नाटकीयता' आदि आलोचनात्मक पदों की सार्थकता का परीक्षण किया गया है। इस प्रक्रिया में यथाप्रसंग कुछ कविताओं की संक्षिप्त अर्थमीमांसा भी की गई है जिनसे लेखक द्वारा समर्थित काव्य मूल्यों की प्रतीति होती है।

निष्कर्ष स्वरूप नये प्रतिमान एक जगह सूत्रबद्ध नहीं हैं क्योंकि लेखक इस प्रकार के रूढ़ि-निर्माण को अनुपयोगी ही नहीं बल्कि घातक समझता है। मुख्य बल काव्यार्थ ग्रहण की उस प्रक्रिया पर है जो अनुभव के खुलेपन के बावजूद सही अर्थमीमांसा के द्वारा मूल्यबोध के विकास में सहायक होती है।

सितम्बर में प्रकाश्य

राजकमल

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६ | साइंस कॉलेज के सामने, पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राजकमल' का आलोचना-साहित्य

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृथ्वीनाथ द्विवेदी	१०.००
साहित्यिक निबन्ध	डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु	३.५०
मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग १	रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव'	१८.००
मीरा की प्रेम साधना (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०.००
हिन्दी उपन्यास	डॉ० सुषमा धवन	११.००
हिन्दी काव्य में अन्योक्ति	डॉ० संसारचन्द्र	१४.००
आलोचना के सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान	३.५०
आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान, डॉ० एस० पी० खत्री	१०.००
हिन्दी रीति-साहित्य	डॉ० भागीरथ मिश्र	५.००
प्रेमचन्द : एक विवेचन	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	४.५०
आज का हिन्दी उपन्यास	,,	४.५०
कविता और कविता	,,	२०.००
प्रेमचन्द और गोर्की	सं० शचीरानी गुर्टू	९.००
कलम का मजदूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	११.००
प्रतिक्रियाएँ	डॉ० देवराज	८.००
प्रगतिवाद	डॉ० शिवकुमार मिश्र	७.००
रहस्यवाद	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	७.००
प्रेमचन्द	डॉ० गंगाप्रसाद विमल	७.००
हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा	रामदरश मिश्र	८.००
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डॉ० रामविलास शर्मा	५.००
प्रेमचन्द और उनका युग (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	,,	७.००
सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व	डॉ० कुमार विमल	१२.५०
बदलते परिप्रेक्ष्य	नेमिचन्द्र जैन	७.००
कविता के नये प्रतिमान	डॉ० नामवरसिंह	(यंत्रस्थ)
निराला की साहित्य साधना	डॉ० रामविलास शर्मा	(यंत्रस्थ)

079585

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६ के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri